विज्ञाननिष्ठ निबंध

मानव का देव और विश्व का देव

सरिता के प्रवाह पर लाठी पटकने पर उस सरिता की अखंड धारा क्षण भर दो भागों में बँटी हुई प्रतीत होती है। संध्या के समय अखंड आकाश के बीच कोई तारिका चमकने लगते ही उस अखंड आकाश को एक गणन बिंदु प्राप्त हो जाता है और उसके चारों ओर चार दिशाएँ तुरंत अलग-अलग भासित होने लगती हैं।

इस पदार्थ-जगत् में भी जब मानव के ज्ञान का सितारा चमकने लगता है उसके दो भाग हो जाते हैं। संपूर्ण विश्व, अनंत के एक छोर से दूसरे छोर तक एकदम विभाजित हो जाता है। इस ज्ञान-सितारे को समस्त विश्व का केंद्र या मध्य बिंदु मानते ही सुंदर और कुरूप, सुगंध और दुर्गंध, मंजुल और कर्कश, मृदुल और कठोर, प्रिय तथा अप्रिय, अच्छे और बुरे, दैवी और आसुरी इन सभी द्वंद्वों का उद्भव मानो हो जाता है। मानव को एक हिस्सा सुखद तथा अन्य दुःखद लगता है। पहला अच्छा, दूसरा बुरा।

विश्व के मानव के लिए सुखद और अच्छा हिस्सा जिसने निर्मित किया वह देव और मानव को दुःख देनेवाला बुरा भाग जिसने बनाया वह राक्षस।

मानव की ही लंबाई-चौड़ाई की नाप से विश्व की उपयुक्तता, अच्छाई-बुराई यदि नापी जाए तो उपर्युक्त निष्कर्ष अधिक गलत है—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

विश्व की उपयुक्तता को इसी प्रकार अपने हिसाब से नापना मनुष्य के लिए अनिवार्य हो गया था। मानव उपलब्ध पंच ज्ञानेंद्रियों से ही विश्व का रूप, रस, गंध, स्पर्शादि समस्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है। विश्व के समस्त पदार्थों की एक-एक कर गिनती कर उनका पृथक्करण कर, बार-बार गिन, अमर्याद क्रियाओं की पुनः-पुनः सूची बना, विश्व के असीम महाकोष के पदार्थों की गिनती करना असंभव है, यह जानकर हमारे प्राचीन तत्त्वज्ञों ने अपने पंच ज्ञानेंद्रियों से इस विश्व के संबंध में जो ज्ञात हुआ उसका पंचीकरण करना ही वर्गीकरण का उत्कृष्ट मार्ग समझा। यह बात स्वाभाविक ही थी। यह उनकी अप्रतिम बुद्धि की उस समय की आश्चर्यजनक

विजय थी। ज्ञानेंद्रिय केवल पाँच ही होने के कारण विश्व के समस्त पदार्थ उन पाँचों में से किसी एक या अनेक गुणों के होंगे। अर्थात् उन पाँच गुणों के तत्त्वों से पंचमहाभूतों ने ही उनका निर्माण किया होगा। इस विश्वदेव का हमसे जो कुछ संवाद होना संभव है वह उसके पाँच मुखों से ही होगा। अतः यह विश्वदेव, महादेव पंचमुखी है।

अपनी ज्ञानेंद्रियों से विश्व के गुणधर्मों का आकलन करने का मानव का यह प्रयत्न जितना अपरिहार्य और सहज है उतना ही स्वयं के अंतःकरण से उस विश्व निर्माता देव के अंतःकरण की कल्पना करने का मनुष्य का प्रयत्न भी सहज और स्वाभाविक था। मानव को सुख प्रदान करने के लिए ही किसी दयालु देवता ने इस सृष्टि का निर्माण किया होगा, इस मानवी निष्ठा का प्रबल समर्थन कदम-कदम पर प्रतिक्षण, जब चाहे तब यह सृष्टि देवी करती रही और आज भी कर रही है।

सचमुच, मनुष्य की सुख-सुविधाओं के लिए उस दयालु देव ने इस सृष्टि की रचना कितनी ममता से की है। यह सूर्य, ये समुद्र, कितने प्रचंड हैं ये महाभूत! परंतु मनुष्य की सेवा के लिए भगवान् ने उन्हें भी प्रस्तुत किया। देर तक खेलने के बाद बच्चे दोपहर में प्यास से परेशान होकर आएँगे, यह जानकर और उस समय उन्हें शीतल और मीठा जल प्राप्त हो इस हेतु से सुबह ही उनकी माताएँ कुएँ से पानी निकालकर मिट्टी के बरतनों में रखती हैं, ठीक उसी प्रकार ग्रीष्म काल में नदियों का पानी सूख जाता है इसलिए पहले ही सूर्य भगवान् समुद्र का पानी अपनी किरण रूपी रस्सियों से खींचकर मेघों में संगृहीत करता है और समुद्र का खारा पानी मीठा बनाकर पृथ्वी पर भेजता है, जिससे देवता भी ईर्ष्या करने लगते हैं। सूर्यदेव समुद्र का खारा जल मीठा बनाते समय इतनी सावधानी अवश्य रखता है कि समुद्र का संपूर्ण जल ही मीठा न हो जाए! केवल एक वर्ष के लिए आवश्यक जल ही मीठा बनाकर रखने की शक्ति सूर्य रश्मियों में होती तथा संगृहीत करने की शक्ति मेघों में होती है, नहीं तो समस्त समुद्र का जल मीठा बन जाता और मनुष्य को नमक ही नहीं मिलता जिससे उसका गृहस्थाश्रम ही फीका हो जाता।

देखिए इन पशुओं को, जो मनुष्य की सेवा और सुख के लिए आवश्यक समझकर निर्माण किए गए हैं। पशु विविध तथा आवश्यकतानुसार बुद्धिमान् होते हैं। मरुस्थल में मनुष्य के लिए जहाज समान, पेड़ों के काँटे खाकर और बिना पानी के कई माह तक चलते रहने की कला जिसे सिखाई गई, ऐसा ऊँट देखिए। वह घोड़ा कितना चपल! उसपर सवारी करनेवाले मनुष्य को रण-मैदान में भी सँभालकर ले जाने और मनुष्य के साथ अत्यंत प्रामाणिकता से रहने की बुद्धि उसे भगवान् ने दी है। परंतु मनुष्य के ऊपर की सवारी करने की बुद्धि उसे नहीं दी। अब गाय

देखिए, उसके सामने एक तरफ सूखी घास खाने के लिए डाली जाए और दूसरी ओर उसी घास से बना हुआ ताजा और जीवनप्रद दूध बरतन भर-भरकर लिया जाए। ऐसा यह आश्चर्यकारक रासायनिक यंत्र जिस भगवान् ने बनाया है वह भगवान् सचमुच कितना दयालु होगा! और वह पुराना यंत्र टूटने पर नया यंत्र बनाने का श्रम भी मनुष्य को न करना पड़े, अतएव उसमें ही व्यवस्था की गई है। पहले यंत्र में दूध देते-देते वैसे ही नए अजब यंत्र तैयार करने की व्यवस्था भी की है।

गेहूँ का केवल एक दाना बोने पर उसके सौ दाने तैयार होते हैं। आम रस, स्वाद, सत्त्व से भरपूर देवफल। आम इतना उपजाऊ कि एक बीज बोते ही उसका वृक्ष बनकर प्रतिवर्ष हजारों आम्रफल देता है। यह क्रम वर्षानुवर्ष से चल रहा है। एक आम से उत्पन्न लाखों फल खाने के उपरांत भी मनुष्य को आम्रफल का अभाव न हो, अत: आम्रवृक्ष की डालियों की कलमें लगाकर उनकी अमराइयाँ बनाई जाने का प्रबंध इस दुनिया में भगवान् ने ही कर छोड़ा है। एक कण से मन भर चावल, बाजरा, ज्वार आदि नाना प्रकार की सत्त्वपूर्ण फसलें, एक बीज डालकर एक-एक पीढ़ी को सहस्राधिक फल उपलब्ध करानेवाले ये वृक्ष जैसे कटहल, अनन्नास, अंगूर, अनार आदि और घास के समान तुरंत उगनेवाली रुचिकर, बहुगुणी, विविध रसों से पूर्ण शाक-सब्जी, फल-सब्जी जगत् में उपलब्ध हैं। गन्ना जो संपूर्ण मीठा है, शक्कर के पाक से भरा हुआ और इतना उपलब्ध होता है कि मनुष्य की अपनी आवश्यकता समाप्त होने पर वह उसे बैलों को खिला देता है। जगत् में इस प्रकार हर चीज की निर्मिति करके भगवान् ने मानव पर असीम कृपा की है। उस संबंध में मनुष्य भगवान् का उऋण कैसे होगा?

वैसे ही मनुष्य की देह की यह रचना। पाँव के तलुवों से लेकर मस्तिष्क के मज्जातंतु के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पिंडों तक इस शरीर की रचना मनुष्य को सुखद होगी, इस प्रकार सृष्टि करते समय भगवान् ने जो एक-एक बाल की चिंता रखी है उसकी बात कहाँ तक सुनाऊँ? मनुष्य की आँख की बात लें, उसे कितने युगों से, कितने प्रयोगों के बाद, कितने निरंतर प्रयास करके आज जो आँख है वैसी तू बना पाया है। प्रथम प्रकाश के किंचित् संवादी ऐसा एक त्वग् बिंदु; प्रकाश को नहीं अपितु केवल उसकी छाया को जाननेवाला, अँधेरा और प्रकाश इतना ही जाननेवाला वह त्वग् बिंदु, उसमें प्रयोग करके, बार-बार परिवर्तन करके आज की यह सुंदर आँख, महत्त्वाकांक्षी आँख भगवान् तूने बनाई। मनुष्य की इसी महत्त्वाकांक्षी आँख से उसकी दूरदृष्टि टपक रही है, इसलिए हे भगवन्, तेरी कला द्वारा तुझे पराजित करने के लिए दूरबीन के प्रतिनेत्र निर्माण करके वह तुम्हारे आकाश की प्रयोगशाला का ही अंतरंग देखना चाहता है। इतना ही नहीं अपितु तुम्हें भी उस दूरबीन में पकड़

कहीं प्रत्यक्ष देखने का प्रयोग कर रहा है। और उस मानव की आँखों को प्रसन्न करने हेतु सुंदरता का और विविध रंगों का जो महोत्सव भगवान्, तूने त्रिभुवन में शुरू किया है उसकी झाँकी का क्या वर्णन करें? यह पारिजात का सुकोमल फूल, वह सोनचंपा का सुगंधमत्त सुमन! यह मयूर, एक-एक मोरपंख की बनावट, उसके रंग, उसमें चमक और उसका नटना! आदि कलावंत! अनेक मोरपंखों का पुच्छ फैलाकर जब आनंद से उन्मत्त होकर मोर नाचता है, तब हे भगवान्, तेरी ललितकला कुशलता देख मैं कृतकृत्य हो जाता हूँ। वाह! धन्य देव, धन्य तेरी, वाह! ऐसे उद्गार करते हुए मेरा हृदय भी नाचने लगता है। और ऐसी पुच्छ मनुष्य को क्यों नहीं दी, यह सोचकर मन नाराज भी होने लगता है। इस प्रकार नयनाह्लादक रंग और श्रवणाह्लादक मधुर सुर निकालनेवाले शताधिक पक्षी इस दुनिया में आनंदविभोर होकर मंजुल ध्वनि कर रहे हैं। गुलाब, चमेली, बकुल, जाईजुई, चंपा, चंदन, केतक, केवड़ा के वन में फूलों की वर्षा हो रही है। और सुगंध से सारा आसमान सुवासित हुआ है। मानवों में ये प्रीतिरति और मानस सरोवर में कमलिनी, कुमुदिनी प्रफुल्लित हो रही हैं। जिस दुनिया में रात्रि में तारिकाएँ हैं, उषाकाल गुलाबी है। तारुण्य प्रफुल्लित है, निद्रा गहरी आती है, भोगों में रुचि है, योग में समाधि है, इस प्रकार हे भगवान्, यह जग तूने हमारे लिए सुखमय बनने दिया, बनने दे रहा है, इसलिए तूने हमारे सुख हेतु ही ऐसा होने दिया—ऐसा हम क्यों न सोचें? हमें जैसी हमारे संतान के प्रति ममता है इसलिए हम उसके सुख की चिंता करते हैं उसी तरह तू भी हमारे सुख के लिए इतना चिंतित रहता है, तब निश्चय ही तुमको हम मनुष्यों से ममता होनी ही चाहिए। भगवान्, हम मानव तेरी संतानें हैं। तुम हमारी सच्ची माता हो! माँ को भी दूध आता है तेरी कृपा से! हम मनुष्य तेरे भक्त हैं और भगवान्, तुम हम मनुष्यों के देव हो।

इतना ही नहीं अपितु तू हम मानवों का देव है और हमारा तेरे सिवाय दूसरा देव नहीं। यह सारा जगत् तूने हमारी सुख-सुविधा के लिए ही बनाया है।

मनुष्य की इच्छा से मिलती-जुलती यह विचारधारा सत्य से मिलती हुई रह सकती थी, यदि इस दुनिया की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक स्थिति मनुष्य के लिए उपकारक और सुखदायी होती! परंतु दुर्भाग्य से इस सारी दुनिया की बात तो रहने दो, मनुष्य प्रारंभ में जिस पृथ्वी को स्वाभाविक रूप से 'संपूर्ण जगत्' संबोधित करता था, जिस पृथ्वी को विश्वंभरा, भूतधात्री ऐसे नामों से अभी भी गौरवान्वित करता है, उस पृथ्वी पर भी वस्तुजात या वस्तुस्थिति मनुष्य को संपूर्णतः अनुकूल नहीं; इतना ही नहीं अपितु इसके विपरीत अनेक प्रसंगों में मारक ही है।

जिस सूर्य और समुद्र के उपकार का स्मरण करते हुए उनके स्तोत्र गाए गए वह सूर्य और वह समुद्र ही देखो! धूप से तप्त होकर चक्कर खानेवाले पथिक पर,

लाठी के दो-चार वार लगते ही अर्धमृत होने पर, हम जैसे अंतिम चोट करके साँप को नष्ट कर देते हैं वैसे ही यह सूर्य अपनी प्रखर किरणों से अंतिम चोट लगाकर मनुष्य को उसी जगह पर मार देना नहीं भूलता। जिस भारत में लाखों ब्राह्मण उस सूर्य को सुबह-शाम अर्घ्य देने के लिए खड़े होते थे, उसी भारत में धार्मिक काल में भी दुर्गा देवी के दुर्भिक्ष को बार-बार उत्पन्न कर सूर्य अपनी प्रखर आँखों से लाखों जीवों को जीते-जी जला देता है। कुरान के तौलिद में भक्त पैगंबर ने प्रशंसा की है कि 'मनुष्य के लिए हे भगवन्, तूने कितनी असंख्य मछलियाँ, कितना रुचिकर यह अखंड अन्नसंग्रह इस समुद्र के पेट में रखा है। परंतु वही समुद्र मनुष्य को निगलनेवाले अजस्र मगरों को और प्रचंड हिंस्र मछलियों को भी बिना पक्षपात के पाल रहा है। मानवों की नौकाएँ अपनी पीठ पर ले जाते-जाते समुद्र अचानक उन्हें अपनी पीठ पर से ढकेलकर अपने जबड़े में पकड़ता है और तुरंत निगल लेता है। हजारों मानवों से ठसाठस भरी हुई नौकाएँ या प्रचंड टाइटेनिक जहाज भी नष्ट कर देता है, ठीक वैसे ही जैसे मानव समूह के साथ यात्रा करनेवाले लुटेरे पथदर्शक का स्वाँग रचकर चलते हैं और गहन वन में पहुँचते ही उन्हीं स्त्री-पुरुषों पर हमला कर उन्हें लूटते हैं और उनकी गरदन काटते हैं। कोई राक्षस-स्त्री क्रोधित होने पर एकाध बच्चे की गरदन नदी के पानी में दबाकर उसका प्राण निकलने तक अंदर ही पकड़कर रखती है। कोई हिंस्र मगर, दो-तीन सुंदर कुमारियों को, जब वे नदी जल में उतरकर सकुचाते हुए स्नान कर रही हों, उनके ककड़ी के समान कोमल पैरों को अपनी दाँतों से पकड़कर झटके दे-देकर तुरंत निगल जाएगा। परंतु यह गंगामाई, जमनाजी, देव नदी जार्डन, यह फादर टेम्स हजारों कुमारियों की, उनके बाल-बच्चों की गरदन जैसे एक ही गरदन हो, अपने जल के अंदर तब तक दबाकर रखेगा जब तक उनके प्राण-पखेरू न उड़ जाएँ। ये नदियाँ नगर-के-नगर उनका आधार उखाड़कर निगल जाएँगी।

इंजिल, कुरानादि ग्रंथों में बड़े भोले भक्तिभाव से लिखा है कि बकरा, मुरगी, खरगोश, बकरी, हिरण—ये नानाविध प्राणी इसलिए बनाए गए हैं ताकि मनुष्य को विपुल मात्रा में मांस उपलब्ध हो। हे दयालु भगवान्, तुम्हारे उन भक्तों को इस बात का क्यों विस्मरण हो जाता है कि उपर्युक्त प्राणियों का रुचिपूर्ण मांस खानेवाले इन मानवों का भी भक्षण करनेवाले सिंह, बाघ, चीता, उल्लू जैसे प्राणी उसी भगवान् ने बनाए हैं। ये हिंस्र पशु बड़ी कृतज्ञता से ईश्वर से कहें कि तूने छोटे-छोटे कोमल बालक, मनुष्य को फाड़कर खाने के बाद हमारी मुखशुद्धि हेतु प्राप्त हों इसलिए बनाए हैं, इस प्रकार मनुष्य को चीर-फाड़कर खाने के बाद उनकी हड्डियों पर बैठकर सिंह और भेड़ियों के रक्तरंजित मुख से प्रशंसा भरी कृतज्ञता

निकलती जो उसी भगवान् को प्राप्त होती। एशिया और अफ्रीका खंडों को जोड़नेवाले भूखंड जिस दिन महासागर में, उस खंड पर खड़ी वरमालाएँ हाथों में ली हुई लाखों कुमारियाँ, दूध पीते बच्चों के साथ माताएँ, अर्धमुक्त प्राणिजन, भगवान् को पुष्पांजलि अर्पित करनेवाले भक्तों के साथ, उन देवताओं की जहाँ स्तुति हो रही है ऐसे देवालयों के साथ, इस प्रकार डुबो दिए जैसे गणेश मूर्तियाँ पानी में विसर्जित की जाती हैं। उसके दूसरे दिन वेदों ने जिसका गान किया है ऐसी उष्मा मधुर हास्य करती हुई उस सन्नाटा छाए हुए दृश्य को देख रही थी। कुरान के अनुसार चंद्र की निर्मिति भगवान् ने इसलिए की है कि मानव को नमाज पढ़ने के समय का ज्ञान हो, परंतु जो-जो नमाज पढ़ रहे थे उन मुसलमानों का, मुल्ला-मौलवियों का कत्ल करके और खलीफा के घराने को मिट्टी में मिलाकर, उन लाखों लोगों के कटे हुए नरमुंडों पर बैठकर नमाज का कट्टर शत्रु चंगेज खाँ जिस दिन शांति से बैठा, उस रात को उस बगदाद नगरी में यही चंद्रमा चंगेज खाँ को भी उसका समय क्षण-क्षण गिनकर ऐसे ही बिना गलती के शांति से दिखाते हुए अपनी कौमुदी के साथ विचरण कर रहा था।

ये सुगंधित पुष्प, ये सुस्वर पक्षी, मनोहर पुच्छ फैलाकर नृत्य करनेवाले सुंदर मयूरों के झुंड, जंगल-के-जंगल अकस्मात् आग में जलाकर, चूल्हे में बैंगन भूनते हैं वैसे फड़फड़ करते-न-करते उतने में ही जलाकर राख बना देता है—वह कौन है? गाय जिसने हमें दी, वह दयालु? जिस गाय का दूध पिया उसी गाय के गोशाले में बिल (छेद) बनाकर रहनेवाला वह विषैला साँप उस गाय का दूध भगवान् के भोग के लिए दूहने आई व्रतस्थ साध्वी स्त्री को काट उसके प्राण लेनेवाला साँप, उसका जिसने निर्माण किया वह कौन है? हर एक भोग के पीछे रोग लगे रहते हैं। हर बाल के पीछे दर्द देनेवाले फोड़े, नाखूनों की बीमारियाँ, दाँतों के रोग, वह कराह, वे वेदनाएँ, वह दर्द, वह छूत और महामारियाँ, वह प्लेग, वह अतिवृष्टि, वह अनावृष्टि, वे उल्कापात! जिसकी गोद में विश्वास से अपनी गरदन रख दी वह धरती, अचानक उलटकर मनुष्य से भरे प्रांत-के-प्रांत पाताल लोक में ढकेलनेवाले और गायब करनेवाले वे भूकंप? और कपास के ढेर पर जलती हुई मशाल गिर जाए वैसे ही इस पृथ्वी के बदन पर गिरकर एकाध घास के ढेर के समान फटाफट जलानेवाले घातक धूमकेतु का निर्माण किसने किया?

यदि इस विश्व की संपूर्ण वस्तु जाति के मूल में उन्हें धारण करनेवाली, चालना देनेवाली या जिसके क्रम विकास के परिणाम हो रहे हैं ऐसी जो शक्ति है उसे देव कहना हो तो उस देव ने यह सारा विश्व मनुष्य को उसका मध्य बिंदु मानकर केवल मनुष्य की सुख-सुविधाओं के लिए बनाया है, यह भावना एकदम

भोली, अज्ञानी और झूठी है—ऐसा समझने के सिवाय उपर्युक्त विसंगति का अर्थ नहीं लगता।

किस हेतु से या निर्हेतुकता से यह प्रचंड विश्व प्रेरित हुआ? इसका तर्क मनुष्य को करना संभव नहीं। जो जाना जा सकता है वह इतना ही कि कुछ भी हुआ तो मनुष्य इस विश्व के देव की गिनती में भी नहीं। जैसे कीड़े, चींटियाँ, मक्खियाँ वैसे ही इस अनादि-अनंत काल की असंख्य गतिविधियों से यह मानव भी एक अत्यंत अस्थायी और तुच्छ परिणाम है। उसे खाने के लिए मिलना चाहिए इस हेतु से अनाज नहीं उगता, फल नहीं पकते, धनिया सुगंधित नहीं हुआ। अनाज होता है इसलिए वह उसे खा सकता है। बस इतना ही! उसे जल मिलना चाहिए इसलिए नदियाँ नहीं बहतीं। नदियाँ बहती हैं, अत: उसे पानी मिलता है, इतना ही! धरती पर जब केवल मगर ही थे तब भी सरिताएँ बहती थीं, पेड़ों पर फूल खिलते थे। लताएँ खिलती थीं। मनुष्य के बिना भी नहीं अपितु यह सूर्य, पृथ्वी नहीं थी तब भी ऐसा ही आकाश में घूमने के लिए डरता नहीं था। यह सूर्य भी अपने सभी ग्रहोपग्रह के साथ खो गया तो भी, एक जुगनू मर गया तो धरती को जैसा अभाव मालूम हो जाएगा उतना भी इस सुविशाल विश्व को अभाव मालूम नहीं पड़ेगा। इस विश्व के भगवान् को ऐसे सौ सूर्य भी किसी छूत की बीमारी मारने लगे तो भी एक पल का भी सूतक (अशौच) नहीं होगा।

फिर भी जिस किसी हेतु से या हेतु रहित विश्व की यह जगत्-व्याप्त गतिविधि चल रही है उसमें एक अत्यंत तात्कालिक और अत्यंत तुच्छ परिणाम की दृष्टि से मनुष्य को, उसकी लंबाई-चौड़ाई के गज से नाप सके इसलिए, उसकी संख्या में गिन सके इस प्रकार इतना सुख और इतनी सुविधाएँ मनुष्य भोग सकता है यह और इतना ही केवल इस विश्व के देव का मानव पर किया हुआ उपकार है। मनुष्य को इस जगत् में जो सुख मिल सकता है इतना भी उसे न मिले, ऐसी ही यह विश्व रचना इस विश्व के भगवान् ने की होती तो उसका हाथ कौन पकड़ता? यह सुगंध, ये सुस्वर, ये मुख स्पर्श, यह सौंदर्य, ये सुख, ये रुचियाँ, ये सुविधाएँ हैं और वे भी पर्याप्त मात्रा में हैं। जिस योगायोग के कारण मनुष्य को ये सब मिल रहे हैं उस योगायोग को शतश: धन्यवाद हैं। जिन विश्व-शक्तियों ने जाने-अनजाने ऐसा योगायोग उत्पन्न किया उन्हें उस हिस्से के लिए मनुष्य का देव कहने का समाधान हम उपभोग कर सकेंगे। इस प्रकार उपकृत भक्ति का, फूल चढ़ाकर उसकी पूजा कर सकेंगे।

परंतु इससे अधिक इस विश्व के भगवान् से, मार्ग के भिखारी का सम्राट् से संबंध जोड़ने जैसा बादरायण संबंध जोड़ने का लोभ मनुष्य को पूर्ण रूप से छोड़

देना ही उचित होगा। क्योंकि वही सत्य है। अपना भला भगवान् करेगा, और भगवान् भला करेगा तो मैं सत्यनारायण की पूजा करूँगा, यह आशा या अवलंब एकदम नासमसझी है। क्योंकि वह बिलकुल असत्य है। संकटों से भगवान् ने छुड़ाया इसलिए हम सत्यनारायण की पूजा करते हैं, परंतु उन संकटों में पहले आपको ढकेलता कौन है? वही सत्यनारायण, वही देव! जो पहले गरदन काटता है और बाद में उसे मलहम लगाता है। मलहम लगाने के लिए उसकी पूजा करनी हो तो पहले गरदन क्यों काटी ऐसा उससे पूछना नहीं चाहिए क्या? विश्व के अंग में ये दोनों भावनाएँ बिना कारण और असमंजस की हैं।

वह विश्व की आदिशक्ति जिन निर्धारित नियमों के अनुसार व्यवहार करती है उसके वे नियम जो समझ में आएँ तो समझकर, उसमें भी अपनी मनुष्यजाति के हित में और सुख को पोषक होगी—इस प्रकार उसका जितना हो सके, उपयोग कर लेना चाहिए, इतना ही मनुष्य के हाथ में है। मनुष्यजाति के सुख को अनुकूल वह अच्छा और प्रतिकूल वह बुरा ऐसी नीति-अनीति की स्पष्ट मानवी व्याख्या की जानी चाहिए। भगवान् को प्रिय वह अच्छा और मनुष्य के लिए सुखदायी वह भगवान् को प्रिय लगता है—ये दोनों समझ उचित नहीं, क्योंकि वे असत्य हैं। विश्व में हम हैं, परंतु विश्व अपना नहीं। बहुत कम अंश में वह हमें अनुकूल है या बहुत अधिक अंश में वह हमें प्रतिकूल है। ऐसा जो है उसे ठीक तरह से, निर्भयता से, समझकर उसका बेधड़क मुकाबला करना, यही सच्ची भद्रता है, और विश्व के देव की सही-सही पूजा है।

□

ईश्वर का अधिष्ठान यानी क्या?

'सामर्थ्य आहे चळवळीचे। जो जो करील तयाचे।
परंतु तेथे भगवंताचे। अधिष्ठान पाहिजे॥'

—श्री रामदास स्वामी

अर्थात्—सामर्थ्य है आंदोलन का। जो जो करेगा उसका। परंतु वहाँ भगवान् का अधिष्ठान चाहिए।

शिवकालीन महाराष्ट्र में असाधारण क्रांतिकारी नेताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त समर्थ रामदास स्वामी की यह ओवी यानी बिजली की एक ज्योत है। इतनी तेजस्वी! शिवकालीन महाराष्ट्र की प्रचंड कर्तृत्व-शक्ति की और हिंदू स्वतंत्रता-समर की केवल रण-घोषणा है।

उसके अंतिम दो चरणों में जो बताया है कि 'परंतु वहाँ भगवान् का, अधिष्ठान चाहिए' इन शब्दों से समर्थ रामदास के मन में कौन सा अर्थ व्यक्त करना उद्दिष्ट था, वह अब ठीक बताना यद्यपि कठिन है तथापि उसका अर्थ कुछ भी हो तो भी वह ओवी अपना तेजस्वी कार्य कर गई। उस परिस्थिति में इसलाम धर्म के उन्माद को कुचलने के लिए आवश्यक चैतन्य का संचार महाराष्ट्र में उसी ओवी के कारण हुआ—यह सर्वमान्य है। इसलिए आज उसका जो एक अर्थ सामान्यतः समझा जाता है और जिस अर्थ के कारण राष्ट्र में आज एक अनर्थकारी प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही है उस अर्थ का निषेध करने पर उस ओवी का या उसके तेजस्वी, कर्मयोगी निर्माता का अल्प भी अनादर होने का दोष संभव नहीं। उस ओवी का मूल अर्थ क्या था, यह प्रश्न इस लेख में हमारे सम्मुख नहीं, परंतु उसका आज किया जानेवाला अर्थ, आज की स्थिति में कितना अनर्थकारक है और उसमें जो तत्त्व समाविष्ट है ऐसा सामान्यतः समझा जाता है, वह ऐतिहासिक और तात्त्विक दृष्टि से कितना तथ्यहीन है—यही हम इस लेख में दरशाना चाहते हैं।

आंदोलन अर्थात् मानवी प्रयत्नों का सामर्थ्य कितना ही क्यों न बढ़ाया जाए,

परंतु जिस आंदोलन को भगवान् का समर्थन न मिले, वह आंदोलन अयशस्वी होना ही चाहिए, इस तत्त्व का अर्थ निश्चित करते समय भगवान् का समर्थन यानी क्या, यह ईश्वर का अधिष्ठान यानी क्या इसका पहले निर्णय होना चाहिए। यदि भगवान् के अधिष्ठान का इतना ही अर्थ होगा कि ऐहिक और मानवी उपायों के हाथों में यश की चाबी न होते हुए मनुष्य के ज्ञान के और शक्ति के उस पार जो अनेक अज्ञात, अज्ञेय, प्रचंड अमानुषिक विश्व-शक्तियाँ हैं उनके आघात-प्रत्याघात के संघर्ष में भी यश या अपयश की संभावना हो सकती है, तो यह अर्थ सही है। अत्यंत क्षुद्र घास के तिनके के हिलने से लेकर भूकंप के, सूर्यमालाओं के भयंकर उत्पातों तक जो विश्व-शक्ति की गतिविधियाँ और संघर्ष चल रहे हैं उन सभी बलाबल के उस सीमा तक के फलित (Resultant) को घटना कह सकते हैं। इस तात्त्विक अर्थ में किसी भी आंदोलन का यशापयश भी एक परिणाम ही होने के कारण मानवी उपायों के ऊपर उस अमानुषिक शक्तियों का व्यापार ही उसका महाकारण है। उसे यदि ईश्वर का अधिष्ठान कहना हो तो मानवी उपाय और साधन जैसे प्रत्यक्ष कारण ही, किसी भी यश को अशेष करना नहीं अपितु वह अमानुषिक विश्व-शक्तियों की जटिलता, वह 'दैवं चैवात्र पञ्चमम्' योगायोग, यह उसका महाकारण भी अनुकूल होना चाहिए यह कहना यथार्थ है। मानवी आंदोलन कितना ही सामर्थ्यसंपन्न हो और वह कितना भी सफल हो तो भी उस यश का श्रेय मनुष्यकृत प्रयत्नों में न होकर अतिमानुषिक शक्तियों का व्यापार भी उसे अनुकूल होता गया, भाग्य का पासा भी वही दान देनेवाला रहा और उस भाग्य को ईश्वरेच्छा कहाँ तो देव का, ईश्वर का अधिष्ठान उसे मिला इसलिए सफल हुआ, इस ज्ञान को स्पष्ट करने का ही यदि इस ओवी का उपदेश होगा तो उसका वह तत्त्व एकदम यथार्थ है, यह निःसंशय! इतना ही नहीं अपितु जिसे हम अपनी मानवी समझ के लिए यत्न या मानवी उपाय कहते हैं, वे भी वास्तविक रूप से देखने पर उस अतिमानवी शक्ति का ही एक प्रादुर्भाव है।

परंतु इस ओवी का अर्थ ऐसे तात्त्विक अर्थ में क्वचित् कोई लेता होगा। सामान्यत: उसका अर्थ ऐसा ही किया जाता है कि मनुष्य जिसे अपने हिसाब से नीति या अनीति कहता है, दैवी संपत् या आसुरी संपत् कहता है, धर्म या अधर्म कहता है, न्याय या अन्याय कहता है, उसमें से प्रथम सत्य और दूसरा असत्य होकर जो आंदोलन उस मानवी सत्य के आधार पर खड़ा किया जाता है, उस मानवी न्याय का पोषक होता है, उस मानवी धर्म का प्रण लेकर घूमता है वही आंदोलन सफल होता है। ईश्वर उसपर ही कृपा करता है, इस अर्थ में ईश्वर का अधिष्ठान जिसे प्राप्त नहीं होता, वह आंदोलन कितना ही प्रबल हो—यशस्वी नहीं होता। इसलिए

आंदोलनकारियों को प्रथमत: वह भगवान् का अधिष्ठान प्राप्त करना चाहिए, ईश्वर कृपा का अर्जन करना चाहिए और ईश्वर की कृपा प्राप्त करने का मार्ग कौन सा है ? तो पंचाग्नि साधन, जल में खड़े रहकर द्वादशवार्षिक नामजप, योगसाधना, उपवास, एक सौ आठ सत्यनारायण, एक करोड़ रामनाम जप, निरंतर जलधारा के अनुष्ठान, भैंसे या बकरे की बलि देनेवाली मनौतियाँ, हजार दीप जलाना, लाखों दूब चढ़ाना, ब्राह्मण भोजन यज्ञयाग, दक्षिणा-दान आदि जो सैकड़ों उपाय श्रुति से शनि माहात्म्य तक भगवान् को संतुष्ट करने हेतु बताए गए हैं उनका पालन करना है। इस अर्थ में जिसे तपस्या कहते हैं वह पहले करना चाहिए और बाद में मानवी आंदोलन!

उपर्युक्त विचार सही या झूठ है यह देखने के पूर्व इतना हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि उपर्युक्त जप-तपादि साधनों की आत्मशुद्धि एवं पारलौकिक मोक्ष आदि जो फल है उनकी चर्चा हम इस लेख में नहीं कर रहे हैं। परंतु जो उनके फल प्रत्यक्ष अनुभव में कभी भी निश्चितता से मिले नहीं वे उनके फल नहीं। इतना ही यहाँ कहना है। उन साधनों के संबंध में या उनके आध्यात्मिक, पारलौकिक परिणामों के संबंध में जिसको जैसा आदर और निष्ठा हो, वैसा वह सुख से आचरण करे। उससे प्राप्त होनेवाला आत्मप्रसाद यह किसी भी आनंद भौतिक की अपेक्षा निरूपम आंतरिक सुख का साथ जिसे दे सकता है, वह उसका सुख से आस्वाद ले। परंतु वैसे अर्थ के ईश्वरीय अधिष्ठान पर, उपर्युक्त पंक्तियों में जिन राष्ट्रीय उत्थान आदि भौतिक आंदोलनों की ऐहिक सफलता का उल्लेख किया गया है, वह सफलता एवं अपयश बहुत करके बिलकुल निर्भर नहीं होता। प्रमुखता से उसके भौतिक सामर्थ्य पर अधिष्ठित होता है इतना ही यहाँ दरशाना है।

महाराष्ट्र के इतिहास के एक पृष्ठ के दो पार्श्व

मुसलमानों के कब्जे से हिंदुस्थान को मुक्त करने के लिए हिंदू पदपादशाही का जो प्रचंड स्वतंत्रता युद्ध हम हिंदुओं ने किया और जीत लिया, उसी के प्रमाण से उस समय में रचित उपर्युक्त ओवी के अर्थ पर यह भाष्य सदा करने में आता है कि वह प्रचंड राष्ट्रव्यापी उठाव, वह आंदोलन सफल होने का मुख्य कारण उसके मूल में ईश्वरीय अधिष्ठान का होना है। नाना साधु-संत जो हरिनाम का अखंड जाप महाराष्ट्र में करते रहे, ज्ञानेश्वर जैसे महापुरुषों ने यौगिक सिद्धि प्राप्त की, अलौकिक चमत्कार करनेवाले सहस्रावाही पुण्य पुरुष जो जप-तप, अनुष्ठान, व्रत, वैकल्यादि प्रकार से ईश्वरीय कृपा प्राप्त करने हेतु तपस्या करते थे, उसके कारण भगवान् प्रसन्न हो गए। वह उस प्रकार ईश्वरीय अधिष्ठान मिला अतएव वह आंदोलन समर्थ और यशस्वी हो गया। इस प्रकार के युक्तिपाद से हिंदू पदपादशाही को

स्थापित करने हम हिंदू वीरों ने लड़कर जो जय प्राप्त की, उस जय का और उस लड़ाई का प्रमाण जिस कारण, ईश्वरीय अधिष्ठान के सिद्धांत को दिया जाता है उस अर्थ में उसी काल के इतिहास की छानबीन करके हम वह प्रमाण कितना लँगड़ा है—यह दिखाना चाहते हैं। इतना ही नहीं अपितु हिंदू पदपादशाही उन साधनों से या उस प्रकार के ईश्वरीय अधिष्ठान से जीती नहीं गई, बल्कि वह भौतिक विजय, ऐसे स्वातंत्र्य युद्ध को जो भौतिक साधन संपादन कर सकते हैं वैसे भौतिक साधनों से ही हम प्राप्त कर सकते हैं यह सिद्ध करने के लिए उस काल के समान उचित उदाहरण मिलना दुर्लभ होने के कारण उसी को ही हम अपनी ओर से प्रमाण के रूप में चुनते हैं।

सामान्यत: सन् १३०० से १६०० तक के काल को महाराष्ट्र के इतिहास के, भारत के इतिहास का ही कहिए, एक पृष्ठ मानें तो उसमें इस ईश्वरीय अधिष्ठान की दृष्टि से कितना आश्चर्य दिखता है। प्रथम दर्शन में ही ज्ञानेश्वर जैसे महायोगी का दर्शन होता है। यदि कभी तपस्या से, योग से, पुण्य से किसी मनुष्य में भगवान् का अधिष्ठान सुव्यक्त हुआ हो तो इस अलौकिक पुरुष में ही। भैंसे से वेद कहलाए, दीवार को चलाया, हरिनाम के घोष से महाराष्ट्र को भर दिया ऐसे ज्ञानेश्वर, निवृत्ति, सोपान, मुक्ताबाई अपनी अलौकिक दैवी शक्ति की महाराष्ट्र में केवल लूट कराते थे। जिधर देखो उधर दैवी चमत्कार! उसी क्रम में संत नामदेव, जनाबाई, गोरा कुम्हार, दामाजी पंत, साँवला माली, रोहिदास चमार, चोखा महार ये सब जीवन्मुक्त थे और इन सबसे प्रत्यक्ष पांडुरंग मिलते रहते थे। उनके उपरांत एकनाथ, तुकाराम, ब्राह्मण बाडे से महार बाडे तक महाराष्ट्र में घर-घर में साधु-संत, सिद्ध-योगी, घर-घर भगवान् का आना-जाना, प्रतिदिन प्रात:काल में किसी अलौकिक चमत्कार की नई वार्त्ता! आज क्या भैंसे ने वेद पढ़ा, कल दामाजी पंत के लिए प्रत्यक्ष भगवान् ने विठू महार के वेष में बादशाह के दरबार में उपस्थित होकर दंड स्वरूप धन की राशि दे दी। तुरंत इसकी खबर आई कि उस धन को बादशाह स्पर्श करने गया तो वह फूलों के ढेर में बदल गया। कभी भगवान् रैदास के घर जूते सिला रहे हैं तो कभी एकनाथ के घर में पानी भर रहे हैं, कभी जनाबाई के घर चक्की चल रही है तो कभी नामदेव के साथ भोजन कर रहे हैं, तो कभी पंढरी का मंदिर वेग से घूम रहा है। आज चोखा महार की पंक्ति में बैठकर पांडुरंग प्रेम भाव से भोजन कर रहे हैं तो कल दुष्ट लोगों द्वारा चोखा को गाड़ी से बाँधकर खींचकर मार डालने की सजा सुनाने पर स्वयं श्रीकृष्ण जाकर गाड़ी को रोकते हैं। किसी के द्वार पर भगवान् दत्तात्रेय अपने श्वानों को लेकर खड़े हैं तो किसी के हाथ में ग्रंथ लेखन हेतु विठोबा कलम दे रहे हैं। मृत व्यक्ति

जीवित हो रहे हैं तो जीवित स्वयं को समाधिस्थ कर रहे हैं। मनुष्यों के साथ भगवान् बोल रहे हैं, हँस रहे हैं, खाना खा रहे हैं। स्वयं रामचंद्र कथा सुन रहे हैं, प्रत्यक्ष हनुमानजी संत के पीछे खड़े रहकर कथा का साथ दे रहे हैं! उस समय के संत चरित्र की ये घटनाएँ पढ़ते समय ऐसा लगता है कि यह महाराष्ट्र भूमि उस काल में मानवों की नहीं, देवों की भूमि हो गई थी। उस समय में देवों का निवासस्थान महाराष्ट्र था—वैकुंठ नहीं था।

परंतु पुण्यशील, जप-तप, योगयाग से पवित्र अलौकिक चमत्कारों का जो युग, मानो भगवान् की कृपा की छाया ही, जो ईश्वर का मूर्तिमंत अधिष्ठान इस प्रकार के महाराष्ट्र के इतिहास के इस पृष्ठ के इस ओर सुवर्णाक्षरों में लिखा हुआ पढ़ने के बाद जब हम उस पृष्ठ को पलटकर दूसरी तरफ देखते हैं तो क्या होता है? भगवंत का अधिष्ठान यदि उपर्युक्त अर्थ में होगा तो वह उस पुण्यतम काल में महाराष्ट्र में था ही और यदि भगवान् के इस प्रकार के अधिष्ठान के कारण राष्ट्र की भौतिक सामर्थ्य, राज्य, स्वातंत्र्य ये सफल होते तो उस अवधि के महाराष्ट्र की स्वतंत्रता की और राज्य की प्रबलता अद्वितीय, दुर्धर्ष ही होनी चाहिए थी। परंतु सुवर्णाक्षर से लिखित इस पृष्ठ की यह देवाधिष्ठित बाजू पलटते ही दूसरी बाजू जो दिखती है वह देवों की भौतिक विजय की नहीं अपितु राक्षसों की विजय की है। इस प्रकार देव के अधिष्ठान से सुसंपन्न काल में ही महाराष्ट्र की स्वतंत्रता और राज्य धूल में मिलकर उस देव के अधिष्ठान पर राक्षसों के राज्य का भव्य भवन खड़ा हो गया—ऐसा दिखाई देता है। उन पापी परंतु प्रबल मुसलमानी अत्याचारों को पुण्यशील और देवों के लाड़ले लोगों पर विजय मिली।

हाय! हाय! देखो, नया दुष्ट योगायोग है यह। परमयोगी ज्ञानेश्वर महाराज ने 'ज्ञानेश्वरी' लिखकर अपनी कलम नीचे रखी ही कि इतने में ही अलाउद्दीन खिलजी अपने दस-पंद्रह हजार लोगों की सेना लेकर करोड़ों हिंदू के दक्षिण भारत में बकरियों के झुंड में जैसा शेर घुसता है वैसा घुसा। ज्ञानेश्वर के भगवान् के अधिष्ठान का पूरा समर्थन उनके आश्रयदाता रामदेव राव को था। परंतु अलाउद्दीन विंध्याद्रि पर्वत पार करके आया, यह समाचार भी पूरे तौर से उसे ज्ञात नहीं हुआ तो ही उसने सीधे देवगिरी पर चढ़ाई कर दी और रामदेव राव की हरिभक्त विशाल हिंदू सेना का उस हरिद्वेष्टा ने नाश कर दिया। उसका हिंदू राज्य समाप्त किया। उसकी पुन: स्थापना करने हेतु निकले हुए परमशूर शंकर देव को जीते-जी पकड़कर उसके अंग की चमड़ी उधेड़ दी गई और उसे मार डाला गया। ज्ञानेश्वर, निवृत्ति, सोपान, मुक्ता, नामदेव, गोरा कुम्हार आदि संत-महंत घर-घर देव के साथ हँसते हुए, खाना खाते हुए, बोलते हुए, भगवान् का अधिष्ठान ही

नहीं अपितु प्रत्यक्ष राजधानी हुई ऐसा महाराष्ट्र और उधर बिहार-बंगाल-अयोध्या-काशी में हिंदू राज्यश्री मुसलमानों के घोड़ों की टापों के नीचे कुचली जा रही थी। राजपूत वीरों के समूह-के-समूह रणांगण में मारे जा रहे थे। आज या कल इतना ही प्रश्न था। परंतु विंध्याद्रि उतरकर वह मुसलमानी प्रलय दक्षिण पर टूट पड़ेगा—यह स्पष्ट हो गया था। ज्ञानेश्वर के सामने ऋद्धि-सिद्धि हाथ जोड़कर खड़ी थी इसलिए भैंसे के मुख से वे वेद कहला सके, परंतु 'रामदेव राजा', अलाउद्दीन तुझपर हमला करने वाला है' यह सामान्य सूचना, जो डाकिया भी दे सकता है, वह न तो ज्ञानेश्वरजी ने स्वयं और न ही भैंसे के मुख से रामदेव राय को दी। ज्ञानेश्वरजी एक निर्जीव दीवार को चला सके, परंतु सजीव मानव अपने मंत्रबल से विंध्याद्रि के मार्ग पर खड़े करके अलाउद्दीन का मार्ग नहीं रोक सके। सन् १२९४ में अलाउद्दीन ने दक्षिण में पहला कदम रखा और बड़े जोश से मुसलमानों ने हिंदुओं की पिटाई की। उनकी राजधानियाँ भी नष्ट कर दीं। हिंदुओं के राज्य, सेनाएँ, देव-देवताओं को ध्वस्त कर द्रुत गति से आगे बढ़ते गए। सन् १३१० तक उन्होंने रामेश्वर तक के समस्त हिंदू राज्य नष्ट करके हिंदूविहीन राज्य बनाकर रामेश्वर में मसजिद बनवाई। इधर विठोबा की नगरी पंढरपुर में संत की टोलियाँ भगवान् के नामघोष में मग्न थीं तथा कुछ टोलियाँ गाँव-गाँव घूम रही थीं। उनके घरों में प्रत्यक्ष रूप से भगवान् अवतरित होकर कहीं जूते गाँठते थे तो कहीं मिट्टी से मटके बनाते थे। कहीं साथ में पीसने लगते थे तो कहीं बादशाह द्वारा माँगने पर दंड की राशि जमा करते थे। इतना ही नहीं अपितु जप-जाप्य, व्रत-कैवल्य, योगायोग, नाम सप्ताह, स्नान-संध्या मानो पर्व काल चल रहा था। उधर मुसलमानों की एक नहीं, पाँच राज-सत्ताएँ हिंदुओं की छाती पर तांडव करने लगीं। हिंदुओं के घर से 'देव-देवी' धर्म भ्रष्ट करते थे, परंतु हर देवता को दो से अधिक हाथ होते हुए भी उनमें से किसी ने अलाउद्दीन का या मलिक अंबर का हाथ नहीं पकड़ा। बादशाह की खंडणी हमने दी, परंतु 'मेरे हरिभक्तों से खंडणी माँगनेवाले तुम कौन हो?' ऐसा प्रश्न गर्जना से पूछते हुए दाढ़ी खींचते हिंदू-सिंहासनों से उन्हें नीचे नहीं उतारा। जनाबाई के साथ पीसने का कार्य करनेवाले दयालु भगवान् ने, उस पिसाई से करोड़ों गुना अधिक महत्त्व हिंदू समाज के लिए जिस पिसाई का था उसके लिए आगे बढ़कर अपनी क्रोध की चक्की में पीसकर उन्हें नष्ट नहीं किया। पुण्य-पुरुष एकनाथजी भगवान् के अधिष्ठान से संपन्न; परंतु उनके मुख पर बार-बार पापी यवन थूकते थे। हजारों हिंदू युवक-युवतियाँ गुलाम बनाई जा रही थीं और राजकन्याएँ दिल्ली के महलों में मुसलमानों की दासियाँ बना दी गई थीं; परंतु संत रैदास के घर जूते बनानेवाले भगवान् को उनकी करुणा नहीं

आई। काशी से रामेश्वर तक के मंदिरों को मुसलमानों ने गिराया और मूर्तियों को मसजिद की सीढ़ियों में लगाया; परंतु हिंदुओं के भगवान् को इन मुसलिम अत्याचारों से क्रोध नहीं आया। एरवाद हिंदू मनौती का नारियल चढ़ाने के लिए भूल जाए तो, या हिंदू गाँव बहिरोबा को वार्षिक बकरा चढ़ाने में भूल जाए तो भगवान् को अवश्य क्रोध आता था, जिसके कारण उस हिंदू व्यक्ति का कुलक्षय होता और उस गाँव की हिंदू जनता पर महामारी रूपी गधे का हल चलता था।

राजा रामदेव राय, गो-ब्राह्मण प्रतिपालक और न्यायी था। उसके पक्ष में सत्य था। भगवान् का अधिष्ठान उसके राज्य को प्राप्त था। परंतु उसके राज्य का नाश किया गया। किसने किया? जो अन्यायी था, जिसका पक्ष असत्य का था, जो केवल गो-ब्राह्मण विध्वंसक, यज्ञनिंदक, मूर्तिभंजक था। भगवान् का अधिष्ठान माननेवाले हम जिन्हें ब्रह्मात्यादि पंचमहापातक मानते हैं वे ही जिनके महापुण्य हैं उन भगवान् द्वेषी, मुसलमानी अत्याचारों ने उस भगवान् के अधिष्ठान पर स्थित सदाचारी, स्नान-संध्याशील हिंदू समाज का ठोकर मारकर नाश किया।

जो बात मुसलमानों की वही बात ख्रिस्ती पुर्तगीजों की। हम जिसको भगवान् का अधिष्ठान कहते हैं वह उनके आंदोलन में कैसे होगा? इसके विपरीत हमारे देवताओं का द्वेष ही उनके आंदोलन का अधिष्ठान होगा। परंतु यश उन्हें मिला। कहाँ पुर्तगाल! वहाँ से मुट्ठी भर लोग आते हैं, गोमांतक में घुसते हैं, घोड़े पर बैठकर प्रदेश की परिक्रमा करते हैं और उस देश पर नगरों में उनके ध्वज लगाए जाते हैं। मारो-पीटो, जलाओ-भूनो, ख्रिस्ती बनाओ, जो नहीं बनेंगे उनकी हत्या करो, इस प्रकार उन चांडालों ने हिंदुओं पर अत्याचार किए। सैकड़ों दूध-पीते नन्हे बच्चों, तरुण कन्याओं को दास बनाकर उन्हें यूरोप-अफ्रीका के बाजारों में सब्जी की तरह बेचा। यज्ञोपवीत, शादियाँ, पूजा ये समस्त हिंदू संस्कार दंडनीय घोषित हो गए। अपने प्राणों की रक्षा हेतु लोग भाग गए, परंतु श्रीमंगेश, शांतादुर्गा जैसे देवता भी अपनी मूर्तियों का भंजन न हो जाएँ इस हेतु पलायन कर गए। ये देवता अपने भक्तों की सुरक्षा करने की बजाय उनके ही कंधों पर रखी हुई पालकियों में बैठकर भाग गए।

मुसलिम और ख्रिस्तों का प्रलाप

उपर्युक्त वर्णन पढ़कर प्रत्येक मौलवी और मिशनरी कहेगा कि हिंदुओं का भगवा झूठ सिद्ध हुआ। जप-जाप आदि हिंदू-पुराणों के साधनों से देव प्रसन्न नहीं होता, इससे पुराण की पराजय ही सिद्ध होती है। कुरान-बाइबिल की विजय स्पष्ट करती है कि भगवान् का अधिष्ठान मूर्तिभंजक धर्म को ही प्राप्त होता है। कुरान-

बाइबिल में बताए गए नमाज, रोजा, क्रॉस, ख्रिस्त मासादि साधनों से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवान् के अधिष्ठान के ऐसे प्रलाप पीर-पादरी ने भी हजारों बार किए थे। उनके इतिहास ने उन्हें भी झुठलाया। देखिए किस प्रकार—

मुसलिम धर्म के उदय के साथ अरब लोगों को एक के बाद एक आश्चर्यकारक विजय प्राप्त हो गई थी। विजय प्राप्त हुई उनके आंदोलन की सामर्थ्य से; परंतु वे समझते थे कि यह कुरान के मूर्तिभंजक धर्म का ही परिणाम है। अल्लाह मुसलमानों की सहायतार्थ गुप्त रीति से देवदूतों की सेनाएँ भेजता है। इसलिए उनके सामने काफिर या ख्रिस्ती लोग टिक नहीं सकते। इस भावना से वे युक्त थे। पुर्तगाल से पेकिंग तक वे बड़ी तेजी से पहुँचे, परंतु जब उनसे अधिक साधनों का अनुशासन, सीसे की गोलियाँ, तलवार की तेज धार की सहायता से सुसज्ज होकर गैर-मुसलमान उठ खड़े हुए तब कुरान को झूठा कहनेवाले लोगों को स्पेनिश ख्रिस्तों की विजय हुई। मुसलमानों को भी उनके कुरान के भगवान् का अधिष्ठान नहीं के बराबर हुआ। नमाज पढ़नेवाले लोगों को नमाज पाखंड है कहनेवाले काफिरों ने काटा। ख्रिस्ती भौतिक सामर्थ्य में जब कमजोर थे तब मुसलमानों ने भी ख्रिस्तियों को जीता। अपनी आपस की फूट, अज्ञान, भय इनसे कमजोर होते ही उन्हें ख्रिस्तियों ने जीत लिया। इस प्रकार कुरान के शास्त्र को ख्रिस्ती लोगों ने झुठलाया। ख्रिस्तों के बाइबिल को कुरान ने झुठलाया। इतना ही नहीं अपितु मेरा ही जेहोवा सब पर विजय पाता है—ऐसी गर्जना करनेवाले ज्यू लोगों को मुसलिम तथा ख्रिस्ती लोगों ने पराजित किया। 'मूर्तिपूजकों को कभी विजय नहीं मिलेगी' ऐसा कहनेवाले ख्रिस्ती और मुसलमानों की मराठों ने वही स्थिति कर दी। क्योंकि सन् १६०० तक हिंदुओं को बरबाद करनेवाले पुर्तगीज तथा मुसलमानों के राज्यों की अपेक्षा सन् १६०० के बाद हिंदुओं ने अपने संगठन, अनुशासन अधिक अच्छा करने से, आंदोलन हेतु आवश्यक सामर्थ्य प्राप्त करने से, प्रत्यक्ष सृष्टि में जो भौतिक साधन सफलता देते हैं उन्हें उचित तरीके से प्राप्त करने से, भंडारों में सूखी बारूद भरने से, हाथ की तलवार तीक्ष्ण, भाले का टोक अच्छा, बाघनख ढकी हुई भौतिक तैयारी मुसलमानों से अधिक अच्छी करने से सन् १६०० से १८०० तक महाराष्ट्र के हिंदुओं ने अहिंदुओं को पीटा। उसी मूर्तिपूजक हिंदू ने कुरान और बाइबिल से 'मूर्तिभंजक को जय मिलती है' कहनेवाले शास्त्रों को झुठलाया। इतना ही नहीं अपितु मूर्तिभंजक ख्रिस्ती या मुसलमान जहाँ मिला वहीं उसको पीटा। पुराण को पूर्व में कुरान ने झुठलाया, अब पुराण ने कुरान को झुठलाया। केवल आंदोलन की भौतिक सामर्थ्य से खड़ी की हुई महाराष्ट्रीय हिंदू पदपादशाही पर अहिंदुओं की—

'इराणापासूनि फिरंगणापर्यंत शत्रूची उठे फळी।
सिंधुपासूनि सेतुबंधपर्यंत रणांगणभू झाली॥
तीन खंडिच्या पुंडांची त्या परंतु सेना बुडवीली।
सिंधुपासूनि सेतुबंधपर्यंत समरभू लढवीली॥'

अर्थात्—ईरान से इंग्लैंड तक शत्रु की सेना खड़ी हुई और उन्होंने सिंधु नदी से रामेश्वर के सेतुबंध तक रण-मैदान बनाया। परंतु इन आक्रमणों की अल्प सेना को सिंधु से लेकर सेतुबंध तक हिंदुओं ने लड़कर समाप्त किया।

और आश्चर्य की बात तो यह है कि ज्यों-ज्यों स्नान-संध्याशील देवों का अधिष्ठान कम होता गया, महाराष्ट्र में संत-महंतों की फसल कम होने लगी, धार्मिक उपायों की अपेक्षा भौतिक साधनों पर अधिक जोर बढ़ने लगा और देवों का अधिष्ठान कम होने लगा, त्यों-त्यों महाराष्ट्र की झोली सफलता से भरती गई।

सारांश यह कि जिस महाराष्ट्रीय इतिहास का उल्लेख करते हुए यह सामर्थ्य की ओवी लिखी गई है, उसी हिंदू-मुसलमानों के महायुद्ध का साक्ष्य यह दरशाता है कि 'सामर्थ्य है आंदोलन की, जो-जो करेगा उसका' और इतना ही सही है। जिस आंदोलन को ऐहिक यश की अपेक्षा हो उसे ऐहिक, भौतिक, प्रत्यक्ष सृष्टि में उपयोगी जो साधन होंगे समस्त प्राप्त कर विपक्ष को सामर्थ्य में मात देनी चाहिए तो वह आंदोलन बहुधा सफल होता है। फिर उस आंदोलन को अपनी-अपनी पोथियों में लिखित कल्पना समान न्याय का, पुण्य का, स्नान-संध्याशील उपायों से प्राप्त भगवान् के आध्यात्मिक अधिष्ठान का समर्थन हो या न हो। यही बात दुनिया के पारसी, ख्रिस्ती, मुसलमान, यहूदी आदि की, उनके धर्मग्रंथों के वचनों की तथा उनके इतिहास की है। इनमें प्रत्येक ग्रंथ को ये संबंधित लोग ईश्वरदत्त मानते हैं। उनमें से एक का देव दूसरे का राक्षस होते हुए भी, वह प्रत्येक देव अपने ग्रंथ द्वारा बार-बार गर्जना करता था कि मैं अपने भक्तों को 'काफिर' या 'पाखंडी' को जो मेरे ग्रंथ में कथित कर्मकांड का अनुसरण न करता हो, पर विजय देता रहूँगा। इस अपने भगवान् के अधिष्ठान की सहायता अपने उद्धार के लिए मिले इसके लिए उन लोगों ने उन ग्रंथों के बहुधा परस्पर विरोधी धार्मिक कृत्य किए। किसी ने गोवध करके भगवान् का अधिष्ठान पूरा किया तो किसी ने गाय को और उसके गोमय, गोमूत्र को भी पवित्र मानकर! परंतु ऐहिक यश उनमें से किसी को भी भगवान् के इस अधिष्ठान से मिल नहीं सका। जिनके आंदोलनों में अन्य लोगों से अधिक भौतिक सामर्थ्य थी, वे उस आंदोलन के लिए ऐहिक विजय प्राप्त कर पाए। वह भौतिक सामर्थ्य लुप्त होते ही उनके देवताओं के साथ वे नष्ट हो गए। मानवों ने अपनी-अपनी इच्छानुसार जो धर्माधर्म की, न्यायान्याय की, पाप-पुण्य की अच्छी-

बुरी कल्पनाएँ कीं उसका भगवान् को किसी प्रकार पक्षपाती अहंकार भी नहीं दिखाई देता। तब जिन-जिनको अपने आंदोलन को यश चाहिए, उसने हमारे पक्ष को न्याय है, हमारे पक्ष को देव है, सत्य है अतएव हमारा पक्ष विजयी होगा ही—ऐसा प्रलाप करना छोड़कर और अंधश्रद्धा से निश्चित रहने की बजाय धार्मिक अर्थ से भगवान् के अधिष्ठान के पीछे न पड़ते हुए 'सामर्थ्य है आंदोलन की, जो-जो करेगा उसका।' इतना ही उन्हें सही मानना चाहिए और वैज्ञानिक सामर्थ्यशाली, प्रत्यक्षनिष्ठ ऐसे ऐहिक साधनों से विपक्ष पर भारी पड़ने का प्रयास करना चाहिए। ऐहिक विजय का मार्ग यही है। अन्यायी, परोपद्रवी होना चाहिए ऐसा नहीं, अपितु न्याय होने पर भी वह समर्थ न होगा तो व्यर्थ है—समर्थ अन्याय उसपर भारी हुए बिना नहीं रहेगा। दुर्बल पुण्य पंगु होता है यह नहीं भूलना चाहिए। केवल एक सौ आठ ही नहीं अपितु ग्यारह सौ आठ सत्यनारायण की पूजा करने पर भी ऐहिक यश प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि वह निर्भर रहता है आंदोलन की भौतिक सामर्थ्य पर। असत्यनारायण के पूजक ही इस दुनिया में बार-बार सफल होते हैं। सारी दुनिया को नास्तिक बनाने निकला रूस आज ऐहिक दृष्टि से परम बलिष्ठ, अतएव यशस्वी हुआ है या नहीं? निर्दैव करके उसका वैभव कायम नहीं रहेगा ऐसा कहेंगे तो सदैव ऐसे किसी का भी कायम नहीं रहा। श्रीकृष्ण की द्वारिका समुद्र में डूब गई, मदीना की मशीद तो अश्वशाला बनी, जेहोवा का स्वर्ण मंदिर टूटा, जीसस को रोम में फाँसी पर चढ़ाया, उसे क्रूसीफाय किया! अस्पृश्यता का त्याग कर रहे हैं, अतः बिहार में भूकंप आ गया—ऐसा कहनेवाले सनातनी समाज के लोग और अस्पृश्यता का पालन करते हो, अतः भूकंप आ गया ऐसा कहनेवाले सुधारकों का पाखंड जितना अज्ञान है उतनी ही रामनाम का करोड़ों का जप करके या नमाज पढ़कर राष्ट्र पर आए हुए संकट का निवारण करना भी अज्ञानता है। राम को हराम समझनेवाले भी ऐहिक सामर्थ्य प्राप्त करके वैज्ञानिक बल से जो ऐहिक बल प्राप्त कर सकते हैं वह ऐहिक बल चाहते हैं तो अद्यावत् वैज्ञानिक सामर्थ्य प्राप्त करनी चाहिए। यदि आंदोलन में वह सामर्थ्य हो तो भगवान् के अधिष्ठान के बिना कोई काम रुकेगा नहीं। परंतु वह सामर्थ्य न होगी तो भगवान् के अधिष्ठान के लिए करोड़ों-करोड़ों का जप किया तो भी ऐहिक सफलता नहीं मिलेगी—यही सिद्धांत है।

(किर्लोस्कर, दिसंबर १९३४)

□

सत्य सनातन धर्म कौन सा?

वर्तमान में चल रहे सामाजिक तथा धार्मिक आंदोलनों के दंगल में, सुधारक अर्थात् जो सनातन धर्म का उच्छेद करना चाहता है वह, इस प्रकार की परिभाषा 'सनातनी' कहनेवालों के पक्ष ने निश्चित कर दी है ऐसा लगता है। लोगों को भी बचपन से सनातन यानी रूढ़ि के विरोध में एक शब्द भी न बोलते हुए उसे शिरसावंद्य मानना ही धार्मिक कर्तव्य है और ऐसी आज्ञा या रूढ़ि है ऐसा समझने की आदत है। कोई रूढ़ि व्यवहार में स्पष्ट रूप से हानिकारक दिखती हो फिर भी वह सनातन है ऐसा कहते ही उसको भंग करना उन्हें उचित नहीं लगता और जो सुधारक उस रूढ़ि को भंग करने निकला है वह कुछ अपवित्र, धर्मविरोधी, अकर्म करने निकला है ऐसा उनका पूर्वग्रह हो जाता है। लोक समाज का यह पूर्वग्रह दूर करने के लिए और हमारे सनातनी बंधुओं की वह व्याख्या कितनी उचित या अनुचित है यह बात दोनों के ध्यान में स्पष्ट रूप से लाने के लिए इस वादग्रस्त प्रकरण के 'सनातन और धर्म' इन दो मुख्य शब्दों का अर्थ ही पहले निर्धारित करना आवश्यक है। केवल यह सनातनी और वह 'सुधारक' ऐसा चिल्लाते रहने का कोई अर्थ नहीं। हम अपने को सनातन धर्म के अभिमानी समझते हैं। और कितने ही सनातनी अपने व्यवहार से बहुत सी सुधार की बातों को समर्थन देते दिखाई देते हैं। ऐसी गड़बड़ी में सनातन धर्म की निश्चित परिभाषा हम अपने लिए निश्चित कर लें तो भी बहुत से मतभेद नष्ट होने का और जो मतभेद रहेंगे वे क्यों, किस अर्थ में बचते हैं आदि बातें स्पष्टता से ध्यान में आने की बहुत संभावना है। इसलिए इस लेख में हम 'सनातन धर्म' इन शब्दों को किस अर्थ में लेते हैं और किस अर्थ में हमें धर्म 'सनातन' इस उपाधि के लिए उचित लगता है, वह संक्षेप में स्पष्टता से कहनेवाले हैं।

जिन अर्थों में उन शब्दों का उपयोग किया जाता है वे अर्थ इतने विविध, विसंगत और परस्पर विरोधी होते हैं कि वे जैसे हैं, उन्हें वैसे ही स्वीकारना एकदम

अनुचित होगा। श्रुति-स्मृति से लेकर शनि माहात्म्य तक सभी पोथियाँ और वेदों की अपौरुषेयता से बैंगन के अभक्षता तक के सभी सिद्धांत इस एक सनातन धर्म की उपाधि तक पहुँचे हैं। उपनिषद् के परब्रह्म स्वरूप के अति उदार विचार भी सनातन धर्म हैं और आग की ओर पाँव करके सेंकना नहीं चाहिए, कोमल धूप में बैठना नहीं चाहिए, लोहे का विक्रय करनेवाले का अन्न कदापि नहीं खाना चाहिए; रोग चिकित्सक वैद्यभूषण का अन्न तो घाव के पीप जैसा होता है, साहूकारी करनेवाले ब्याज-बट्टा लेनेवाले गृहस्थों का अन्न विष्ठा के समान होने के कारण उनके साथ या उनके घर पर कभी भोजन नहीं करना चाहिए। (मनु. ४-२२०) गोरस का मावा, चावल की खीर, बड़े आदि खाना भी निषिद्ध होता है। लहसुन, प्याज और गाजर खाने से द्विज तत्काल पतित होता है। (पतेद्द्विजः ! मनु. ५-१९) परंतु श्राद्ध के निमित्त बनाया हुआ मांस जो कोई हठ से खाता नहीं, वह अभागा इक्कीस जन्म पशुयोनि पाता है। (मनु. ५-३५) 'नियुक्तस्तु यथान्ययं यो मांसं नात्ति मानवः। सप्रेत्या पशुतां याति संभवानेकविंशतिन्!!' वे सारे सनातन धर्म हैं। श्राद्ध में ब्राह्मण को चावल की बजाय वराह का या भैंस का मांस खिलाना उत्तम, कारण पितर उस मांस-भोजन से दस माह तक तृप्त रहते हैं। बाघिन या बकरे का मांस ब्राह्मणों ने खाया तो पूरे बारह वर्षों तक पितरों का पेट भरा हुआ रहता है। व्याघ्रीणस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी (मनु. ३, ३-७१) यह भी सनातन धर्म है। और किसी भी प्रकार का मांस भक्षण नहीं करना चाहिए, 'निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्!' मासाशनास्तव प्राणिवध को केवल अनुमति देनेवाला भी 'घातक' या महापापी है। (मनु. ५, ४९-५१) यह भी सनातन धर्म। मुख से अग्नि को फूँकना नहीं चाहिए, इंद्रधनुष देखना नहीं चाहिए, 'नाश्नीयाद् भार्यया साधम्' स्त्री के साथ भोजन नहीं करना चाहिए, उसको भोजन करते वक्त देखना भी नहीं, दिन में मल-मूत्रोत्सर्ग उत्तराभिमुख ही करो, परंतु रात में दक्षिणाभिमुख (मनु. ४-४३) आदि समस्त विधि निषेध उतने ही मननीय सनातन धर्म हैं कि जितने 'संतोषे परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्, संतोषमूल हि सुखं दुःख मूलं विपर्ययः।' (मनु. ४-१२) आदि उदात्त उपदेश भी मननीय सनातन धर्म हैं।

इस प्रकार अनेक प्रसंगों में बिलकुल परस्पर विरोधी विधि निषेधों को तथा सिद्धांतों को सनातन धर्म—यह शब्द केवल साधारण तुंगे-सुंगे भोले-भाले लोग ही लगाते, ऐसा नहीं अपितु अपने सारे स्मृति-पुराणों के धर्मग्रंथों की भी यही परंपरा चल रही है। उपर्युक्त सभी बडया, छोटया, व्यापक, विक्षिप्त, शतावधानी, क्षणिक आचार-विचारों के अनुष्टुप के अंत में पूर्णतः स्पष्ट रूप से एक ही राजमुद्रा लगाई जाती है कि 'एष धर्मस्सनातनः।'

अपने धर्मग्रंथों में ही इस प्रकार की खिचड़ी पकी ऐसा नहीं अपितु जगत् के अन्य सभी अपौरुषेय कहनेवाले प्राचीन और अर्वाचीन धर्मग्रंथों की भी यही स्थिति है। हजारों वर्ष पूर्व के मोसेस पैगंबर से आजकल के अमेरिका के मोर्मन पैगंबर तक सभी ने मानव के उठने-बैठने से लेकर दाढ़ी-मूँछों-चोटी की लंबाई-चौड़ाई, वारिस-दत्तक, शादी के निर्बंधों से देव के स्वरूप तक अपने सारे विधानों पर 'एष धर्मस्सनातनः' यही राजमुद्रा और वह भी देव के नाम से लगाई है। ये सारे विधि निषेध भगवान् ने समस्त मानवों के लिए अपरिवर्तनीय धर्म बताए हैं। उनके अनुसार सभी मनुष्यों की सुनता करनी ही चाहिए यह भी सनातन धर्म और त्रैवर्णिकों को वैसा ऊटपटाँग कुछ न कर जनेऊ पहनाना चाहिए यह भी सनातन धर्म! लाक्षणिक अर्थ से नहीं अपितु अक्षरशः इन सभी अपौरुषेय, ईश्वरीय धर्मग्रंथों में एक का मुख पूर्व को तो दूसरे का पश्चिम की ओर झुका हुआ। वह भी प्रार्थना के प्रथम कदम पर ही। सुबह ही पूर्व की ओर मुख करके प्रार्थना करना सनातन धर्म और सुबह भी प्रार्थना करनी हो तो पश्चिम की ओर मुख करके करनी चाहिए यह भी मनुष्य मात्र का सनातन धर्म। एक ही ईश्वर ने मनु को वह प्रथम आज्ञा दी और मोहम्मद को यह दूसरी। ईश्वर की यह विचित्र लीला है और क्या कहें! हिंदू-मुसलमानों के दंगे कराकर अपना अंग बचाकर दूर से मजा देखने का आरोप शौकत अली पर बिना कारण किया जाता है। यह खेल चालू करने का प्रथम मान उनका नहीं, वह मान तो बिलकुल परस्पर विरोधी प्रकार के अपरिवर्तनीय सनातन धर्म उन दोनों को बताकर उनकी लड़ाई लगानेवाले हँसोड़ स्वभाव के ईश्वर का ही है। यह उसी की लीला है और उसकी न होगी तो उसके नाम पर यह ग्रंथ जबरदस्ती लादनेवाले मनुष्य की मूर्ख श्रद्धा की।

समस्त रोम जब जल रहा था तब सारंगी बजाने का आनंद लूटनेवाले नीरो का नाम भगवान् को लगाने की बजाय मानवी मूर्खता पर ही उपर्युक्त विसंगति का दोष लादना हमें अधिक युक्तियुक्त लगता है। इन सब विसंगत और परस्पर विरोधी बातों को 'सनातन धर्म' नामक एक ही उपाधि देने में मानवी बुद्धि ही चूक गई है। सनातन धर्म शब्द का यह रूढ़ार्थ ही इस विसंवाद के कारण हुआ है और उस शब्द के मूल अर्थ की छानबीन करके उसे संवादी बातों को ही वह शब्द लगाने से इन विविध विचारों के संघर्ष में सही सनातन धर्म कौन सा है यह निश्चयपूर्वक और बहुतांश में स्पष्टता से कहा जा सकता है यह हमारी धारणा है। उन शब्दों के अर्थ की छानबीन इस प्रकार होगी—

सनातन धर्म का मुख्य अर्थ शाश्वत, अबाधित, अखंडनीय, अपरिवर्तनीय है। 'धर्म' शब्द अंग्रेजी 'लॉ' शब्द के समान और वैसा ही मानसिक प्रक्रिया के

कारन बहुत अर्थांतर करता हुआ आया है।

१. प्रथमतः उसका, मूल का व्यापक अर्थ नियम है। किसी भी वस्तु के अस्तित्व और व्यवहार को जो धारण करता है, नियमन करता है वह उस वस्तु का धर्म, सृष्टि का धर्म, पानी का धर्म, अग्नि का धर्म आदि उनके उपयोग इस व्यापक अर्थ में होते हैं। सृष्टि नियम में 'लॉ' शब्द भी लगाते हैं जैसे 'लॉ ऑफ ग्रेविटेशन'।

२. इसी व्यापक अर्थ के कारण पारलौकिक और पारमार्थिक पदार्थों के नियमों को भी 'धर्म' कहने लगे। फिर वे नियम प्रत्यक्ष रूप से हों या उनका भास मात्र हो। स्वर्ग, नरक, पूर्वजन्म, ईश्वर, जीव, जगत् इनके परस्पर संबंध, इन सबका अंतर्भाव 'धर्म' शब्द में ही किया गया। इतना ही नहीं अपितु धीरे-धीरे वह 'धर्म' शब्द उसके पारलौकिक विभागार्थ ही विशेष करके आरक्षित हुआ। आज धर्म शब्द का विशेष अर्थ ऐसा ही होता है और इस अर्थ में धर्म 'रिलिजन' हो जाता है।

३. मनुष्य के जो ऐहिक व्यवहार उपर्युक्त पारलौकिक जगत् में उसे उपकारक भासते हैं, उस पारलौकिक जीवन में उसका धारण करना 'धर्म' माना गया। अंग्रेजी में मोसेस, अब्राहम, मोहम्मद आदि पैगंबरों द्वारा रचित स्मृतिग्रंथों में ठूँस-ठूँसकर भरे सारे कर्मकांडों को 'लॉ' कहा है। इस अर्थ में धर्म यानी आचार।

४. अंत में उपर्युक्त आचार छोड़कर मानव-मानव के बीच जो केवल ऐहिक व्यवहार होते हैं उस व्यक्ति के या राष्ट्र के व्यवहार-नियमों को भी पूर्व में 'धर्म' कहते थे। स्मृति में युद्धनीति, राजधर्म, व्यवहार धर्म आदि प्रकरणों में यह बात मिलती है। परंतु आज इसमें से बहुत सा अंश स्मृतिनिष्ठ अपरिवर्तनीय धर्मसत्ता से निकलकर अपने इधर भी परिवर्तनीय मनुष्यकृत नियमों की कक्षा में शास्त्री-पंडितों को भी निषिद्ध न लगे, इतने निर्विवाद रूप से समाविष्ट हुआ है। जैसे गाड़ी चलाने के निर्बंध, गालियाँ, चोरी आदि के दंडविधान संबंधी निर्बंध शासन का (कानून, शासन का) क्षेत्र है। हम 'धर्म' शब्द को आज जैसा 'रिलिजन' विशेषार्थ में आरक्षित करते हैं वैसे ही अंग्रेजी में 'लॉ' शब्द विशेषार्थी निर्बंध शासन को अर्पित किया गया है। इस प्रकरण में 'धर्म' यानी विधि (कायदा, 'लॉ')।

इस लेख में यथासंभव 'सनातन' और 'धर्म' इन दोनों शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने के उपरांत उपर्युक्त विभागों में से अब 'धर्म' शब्द के किस अर्थ को 'सनातन' शब्द यथार्थता से लगाया जा सकता है, यह तय करना अधिक कठिन नहीं है। हमने

सनातन धर्म का अपने लिए उपर्युक्त जो अर्थ निश्चित किया है वह है शाश्वत नियम, अपरिवर्तनीय, जो बदलना नहीं चाहिए। इतना ही नहीं अपितु जिन्हें बदलना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है, ऐसे अबाधित जो 'धर्म' होंगे, नियम होंगे, उन्हें ही 'सनातन धर्म' ही उपाधि यथार्थता से दे सकेंगे। यह लक्षण ऊपर जो धर्म का पहला विभाग हमने किया है उस सृष्टि नियमों पर संपूर्णत: लागू होता है। प्रत्यक्ष अनुमान और उसके विरोध में न जानेवाला यथार्थ वाक्य इन प्रमाणों के आधार पर सिद्ध हो सकनेवाले और जिसके संबंध में किसी ने भी यथाशास्त्र प्रयोग किया होता, उन कार्यकारण भाव की कसौटी पर कभी भी सही ठहर सकते हैं, ऐसे मनुष्य के ज्ञान के अंतर्गत जो-जो सृष्टि नियम और जो वैज्ञानिक सत्य आज प्रमाणित हैं उन्हें ही हम सनातन धर्म समझते हैं। केवल गिनती हेतु नहीं अपितु दिग्दर्शन के लिए निम्नलिखित नामोल्लेख पर्याप्त हैं। प्रकाश, उष्णता, गति, गणित, गणितज्योतिष्य, ध्वनि, विद्युत्, चुंबक, रेडियम, भूगर्भ, शरीर, वैद्यक, यंत्र, शिल्प, वानस्पत्य आदि तत्सम जो प्रयोगक्षम शास्त्र (साइंसेस) हैं, उनके जो प्रत्यक्षनिष्ठ और प्रयोगसिद्ध नियम आज मानवजाति को ज्ञात हुए हैं वे ही हमारे सनातन धर्म हैं। ये नियम आर्यों के लिए, मुसलमानों के लिए या काफिरों के लिए भी, या इजराइलियों के लिए अवतीर्ण नहीं हुए हैं अपितु समस्त मनुष्य मात्र पर नि:पक्षपाती समानता से लागू हैं। यह सही सनातन धर्म है। इतना ही नहीं अपितु यही सच्चा मानवधर्म है। इसलिए उसे सनातन विशेषण निर्विवाद लागू करना पड़ता है। सूर्य, चंद्र, ताप, तेज, वायु, अग्नि, भूमि, समुद्र आदि पदार्थ किसी के इच्छानुसार प्रसन्न या रुष्ट होनेवाले देवता नहीं अपितु ये सब हमारे सनातन धर्म के नियमों से पूर्णत: बद्ध वस्तुएँ हैं। वे नियम यदि और जिस प्रमाण से मनुष्य प्राप्त कर सकेगा उस प्रमाण में इन सब सृष्टि शक्तियों के साथ उसे ठोंक-बजाकर और बिनचूक व्यवहार करना आना चाहिए—करना आता है। एकदम गहरे महासागर में जिसके तल में छेद है ऐसी नाव छोड़ दें फिर वह डूबनी नहीं चाहिए इसलिए उस समुद्र को प्रसन्न करने हेतु नारियल के ढेर उसमें फेंक दिए और शुद्ध वैदिक मंत्रों का जोर-शोर से उद्गार किया कि 'तस्मा अरं गमाव वो यस्य क्षमाय जिन्वथ। आपो जनयथा चन:।' तो भी वह समुद्र मानवों के साथ उस नाव को हजार में नौ सौ निन्यानबे प्रकरणों में डुबाए बिना नहीं रहता। और यदि उस नाव को वैज्ञानिक नियमों के अनुसार ठीक-ठाक करके, फौलादी पत्रों से मढ़कर बेडर बनाकर जल में छोड़ दिया तब उसपर वेदों की होली कर सकनेवाले और पंचमहापुण्य समझकर शराब पीते हुए, गोमांस खाते हुए, मस्त हुए रावण के राक्षस भी बैठे हों तो भी उस 'बेडर' नाव को हजार में नौ सौ निन्यानबे प्रसंगों में समुद्र डुबाएगा नहीं, डुबा नहीं सकता। उसको चाहे जो उस स्वर्णभूमि पर

लोगों की जोरदार मार करने के लिए सुख से ले जाएगा। जो बात समुद्र की वही महद्‌भूतों की। उन्हें अपने काबू में रखने का महामंत्र शब्दनिष्ठ वेद में, अवेस्ता में, कुरान में या पुराण में भी मिलनेवाले नहीं, प्रत्यक्षनिष्ठ विज्ञान (साइंस) में मिलनेवाला है। यह सनातन धर्म इतना पक्का सनातन, इतना स्वयंसिद्ध और सर्वस्वी अपरिवर्तनीय है कि वह डूबना नहीं चाहिए, परिवर्तन न हो इसलिए कोई भी सनातन धर्म संरक्षक संघ स्थापना के कष्ट कलियुग में भी लेने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस वैज्ञानिक सनातन धर्म को बदलने की सामर्थ्य मनुष्य में किसी को भी और कभी भी आना संभव नहीं।

यह बात हम जानते हैं कि यह सनातन धर्म, ये सृष्टि नियम संपूर्णतः मनुष्य को आज अवगत नहीं। बहुधा कभी भी उन्हें ज्ञात नहीं होंगे। जो आज ज्ञात है ऐसा लगता है वह ज्ञान भी विज्ञान के विकास से आगे चलकर थोड़ा गलत हो गया— ऐसा भी लगेगा। और अनेक नए-नए नियमों का ज्ञान हमें होगा। जब-जब ऐसा होगा या उसमें सुधार करना होगा तब-तब हम, हमारे वैज्ञानिक स्मृतिग्रंथों में न लजाते, न छुपते या आज के श्लोकों के अर्थ की अप्रामाणिक खींचतान न करते हुए नया श्लोक प्रकटता से जोड़कर वह सुधार करा लेंगे। और इसके विपरीत मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि हुई इसलिए उस सुधार को गौरवास्पद ही मानेंगे।

हम 'स्मृतिग्रंथों' को सनातन, अपरिवर्तनीय नहीं समझते अपितु सत्य को सनातन समझते हैं। स्मृतिग्रंथ बदलना पड़ेगा इसलिए सत्य को नकारना वैसा ही होगा जैसे घर बड़ा न करना पड़े, इसलिए आदमी के बच्चों की हत्या कर दो; वह पागलपन होगा।

'धर्म' शब्द के पहले विभाग में आनेवाले सृष्टि-धर्म पर सनातन विशेषण पूर्ण यथार्थता से लागू हो सकता है यह मैंने ऊपर कहा। अब उस 'धर्म' शब्द को जो दूसरा विभाग हमने ऊपर दरशाया है उस पारलौकिक और पारमार्थिक नियमों का विचार करें। इस विभाग को ही आज सनातन धर्म, यह शब्द विशेष रूप से लगाया जाता है। ईश्वर, जीव, जगत् इनके स्वरूप का और परस्पर संबंध के अस्ति-रूप या नास्ति-रूप के कुछ त्रिकालाबाधित नियम होने ही चाहिए। उसी प्रकार जन्म-मृत्यु, स्वर्ग-नरक इनके संबंध में जो कोई यथास्थिति बनेगी वह निश्चितता बतानेवाला ज्ञान भी त्रिकालाबाधित कहने के लिए पात्र होगा। इसलिए इस पारलौकिक विभाग का सिद्धांत भी सनातन धर्म यानी शाश्वत, अपरिवर्तनीय धर्म है इसमें कोई शंका नहीं।

परंतु इस विभाग में जो जानकारी और नियम मनुष्यजाति के हाथों में आज उपलब्ध सभी धर्मग्रंथों में दिए हुए मिलते हैं, उनमें से किसी को भी सनातन धर्म

या अपरिवर्तनीय निश्चित सिद्धांत नहीं कहा जा सकता। निर्धारित वैज्ञानिक नियमों के अनुसार धर्मग्रंथों में लिखा यह पारलौकिक वस्तुस्थिति का वर्णन प्रत्यक्षनिष्ठ प्रयोगों की कसौटी पर खरा नहीं उतरा। उसका सारा आधार कहने के लिए शब्द प्रामाण्य पर, आप्तवाक्य पर, विशिष्ट व्यक्तियों के आंतर अनुभूति पर निर्भर रहता है। उसमें भी कुछ बिगड़ता नहीं। कारण, कुछ मर्यादा तक प्रत्यक्षानुमानिक प्रमाण है। परंतु इस प्रमाण की कसौटी पर भी इन धर्मग्रंथों का पारलौकिक विधान किंचित् भी खरा नहीं उतरता। प्रथम यह देखें कि आप्त कौन हैं ? तो हमारे धर्मग्रंथ ही कहते हैं कि चित्तशुद्धि से सत्त्वोदय हुए ज्ञानी भक्त और समाधिसिद्ध योगियों को आप्त मान सकते हैं। अब इन पूर्णप्रज्ञ आप्तों में शंकराचार्य, रामानुज, माध्व वल्लभ आदि सम्मिलित तो करना ही चाहिए न? महाज्ञानी कपिल मुनि, योगसूत्रकार पतंजलि इन्हें भी छोड़ना असंभव। उदाहरण के लिए इतने आप्त काफी हुए। आप्तवाक्य शब्द प्रमाण होगा तो उनका उस विशिष्ट वस्तुस्थिति का अनुभव एक ही होना चाहिए। परंतु पारलौकिक और पारमार्थिक सत्य का जो स्वरूप और जो नियम वे सब बताते हैं वे सभी भिन्न ही नहीं अपितु बहुधा परस्पर विरोधी भी होते हैं। कपिल मुनी कहेंगे, 'पुरुष और प्रकृति ये दो सत्य हैं। ईश्वर-विश्वर हम कुछ नहीं जानते।' समाधिसिद्ध पतंजलि कहते हैं, ''तंत्र पुरुषविशेषो ईश्वर।'' शंकराचार्य के अनुसार, ''पुरुष पुरुषोत्तम, ईश्वर मायोपाधिक और मायाबाधित होकर ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रहोवनापर:'' अद्वैत ही सत्य है। रामानुज कहते हैं, ''यह प्रच्छन्न बौद्धवाद गलत है। विशिष्टाद्वैत सत्य है और माध्व वल्लभाचार्य कहते हैं, ''जीव और शिव, भक्त और देव, जड़ और चेतन को एक किस प्रकार कह सकते हैं? द्वैत ही सत्य है!'' इस प्रकार इन महान् साझीदारों के स्वानुभूत शब्दों के साथ भ्रमित होकर यदि बुद्धि इस प्रकार कहती है—

'पाहियले प्रत्यक्षची! कथितो पाहियले त्याला।
वदति सारे! आप्तचि सारे! मानू कवणाला?

अर्थात्—हमने प्रत्यक्ष देखा है। जो देखा है उसके संबंध में हम कह रहे हैं ऐसा सब लोग बोलते हैं। ये सब आप्तजन हैं। अब मैं किसकी बात को मानूँ?

तो इसमें भ्रमित बुद्धि का क्या दोष है? तो भी इन योगसिद्धों के साक्ष्य में उस परम योगसिद्ध का उस तथागत बुद्ध के साक्ष्य का वर्णन हमने नहीं किया। ईश्वर संबंध के संपूर्ण विधानों को बुद्ध ने अपने समाधिस्थ स्वानुभूति में ब्रह्मजाल मान त्याज्य माना। समाधिमय ज्ञान, स्वानुभूति आदि इस पारलौकिक वस्तुस्थिति का अबाधित और विश्वसनीय प्रमाण किस प्रकार नहीं हो सकता या अभी तक तो नहीं

हुआ ऐसा देखने पर इतना ही कहना शेष रहता है कि शब्दप्रामाण्य की यह स्थिति उपर्युक्त आप्त प्रमाण के समान ही है। अपौरुषेय वेद जिन कारणों से अपौरुषेय मानने चाहिए उन्हीं कारणों के लिए तौलिद, एंजिल, बाइबिल, कुरान, अवेस्ता, स्वर्णग्रंथ एक नहीं दो हैं। दुनिया में आज भी ईश्वर प्रदत्त ग्रंथों की संख्या लगभग पचास है। उन सबको अपौरुषेय मानना अनिवार्य हो जाता है। इन ग्रंथों में से हरेक में भगवान् ने तदितर अपौरुषेय धर्मग्रंथ के पारलौकिक वस्तुस्थिति के संबंध में दी हुई जानकारी से भिन्न, विसंगत और विरुद्ध ज्ञान दिया है। वेद कहते हैं, ''स्वर्ग का इंद्र राजा है।'' परंतु बाइबिल में वर्णित स्वर्ग में इंद्र का पता डाकियों को भी ज्ञात नहीं। देवपुत्र यीशू की कमर में समस्त स्वर्ग की चाभियाँ हैं। देव और देवपुत्र दोनों एक ही हैं। Trinity in Unity, Unity in Trinity. कुरान के स्वर्ग में 'ला अल्ला इलिल्ला और मोहम्मद रसूलल्ला' इससे अधिक तीसरी बात नहीं कही गई। रेड इंडियनों के स्वर्ग में सूअर-ही-सूअर हैं और घने जंगल हैं। परंतु मुसलिम पाक स्वर्ग में ऐसी 'नापाक चीज' दवाई के लिए भी नहीं मिलेगी। और इन सबका कहना है कि वे कहते हैं वही असली स्वर्ग है। प्रत्यक्ष भगवान् ने यह बताया, इतना ही नहीं अपितु मोहम्मद आदि पैगंबर ऊपर जाकर, रहकर, स्वयं देखकर लौट आए हैं और उन्होंने भी यही बातें कही हैं। यही स्थिति नरक की। पुराण में मूर्तिपूजक और याज्ञिक तो क्या, परंतु यज्ञ में मारे हुए बकरे भी स्वर्ग में जाते हैं ऐसा उनका मृत्यु के बाद का पक्का पता दिया हुआ है। किंतु कुरान शपथ लेकर कहता है कि नरक में स्थान, कितनी ही भीड़ हो जाए यदि किसी के लिए आरक्षित किए गए हों तो मूर्तिपूजक, अग्निपूजक सज्जनों के लिए। मृत्यु के बाद उनका पक्का पता नरक। शब्दों-शब्दों में व्याप्त इस प्रकार की विसंगतियाँ कितनी दरशाएँ? ये सारे धर्मग्रंथ अपौरुषेय हैं, अत: वे यथार्थ हैं ऐसा समझें तो उनमें वर्णित पारलौकिक वस्तुस्थिति, शब्दप्रमाण से भी सिद्धांतभूत सिद्ध नहीं होती। अन्योन्यव्याघातात्! ये सब बातें मनुष्य द्वारा कल्पित हैं इसलिए झूठी मान लीं तो वे फिर सिद्धांतभूत ठहरती नहीं—वदतोव्याघात। और यदि झूठ मानते हैं तो वह वैसा और यह ऐसा क्यों, यह तय करने के लिए उनके स्वयं के शब्दों के अलावा दूसरा प्रमाण ही न होने के कारण वे सिद्धांत सिद्ध नहीं होते—स्वातंत्र्यप्रमाणाभावात्!

अत: प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द इनमें से किसी भी प्रमाण से पारलौकिक वस्तुस्थिति का आज उपलब्ध होनेवाला वर्णन सिद्ध नहीं होता, इसलिए उसे सनातन धर्म, त्रिकालाबाधित और अपरिवर्तनीय सत्य, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वैसे किसी भी विधेयक को वैसा सिद्धांत स्वरूप आते ही उसे भी हमारे सनातन धर्म में समाविष्ट किया जाएगा। आज यह विषय प्रयोगावस्था में है और आप्तों के या

अपौरुषेय ग्रंथों के भी, तद्विषयक विधान सिद्धांत न होकर, उसके संबंध में यथासंभव कल्पित (हायपोथेसिस) हैं। परिकल्पना या अनुमान है। उसे सत्याभास कह सकते हैं, सत्य नहीं। उसे जानने का प्रयत्न इसके बाद भी होना चाहिए, तथापि उसके संबंध में यथासंभव परिकल्पनाएँ कर वह स्वर्गीय ऋतु और अनृत (असत्य) प्राप्त करने के लिए इतना अतिमानुषिक प्रयत्न करके भी किसी भी दिशा में पता नहीं लग रहा यह सिद्ध किए बिना और अपने देवतुल्य अवतारों ने अखिल मानवजाति की कोख धन्य की, इसलिए नचिकेता से लेकर नानक तक—इन पुण्य श्लोकों के और प्रेषितों के या श्रुति के और स्मृति के हम मानवों पर जो विभिन्न प्रकार से उपकार हुए हैं उन्हें कभी लौटाया नहीं जा सकता। इतनी कृतज्ञता व्यक्त किए बिना हमें आगे के अक्षर लिखना संभव नहीं।

अंत में रह गए धर्म के अंतिम दो अर्थ—आचार और विधि। इन दोनों अर्थों में 'धर्म' शब्द के साथ सनातन विशेषण नहीं लगाया जा सकता। मनुष्य के जो ऐहिक व्यवहार उसके पारलौकिक जीवन को उपकारक हैं ऐसा समझा जाता था, उसे हम 'आचार' कहते हैं। अर्थात् उपरिनिर्दिष्ट पारलौकिक जीवन के संबंध में अस्ति पक्षी या नास्ति पक्षी अभी कोई भी सिद्धांत मनुष्य को ज्ञात न होने के कारण उसे कौन सा ऐहिक आचार उपकारक होगा यह कहना संभव नहीं। हिंदू के ही नहीं अपितु मुसलिम, क्रिश्चियन, पारसी, यहूदी आदि सभी धर्मग्रंथों में कर्मकांड का आधार ऐसा रेत का ढेर है। 'क्ष' भू यह द्वीप या गाँव, वीरान या बंजर, पूर्व में या उत्तर में, है या नहीं यह बात भी जहाँ निश्चित नहीं वहाँ उस 'क्ष' भूमि में सुख से रह सकें, इसलिए किस मार्ग से जाएँ और कौन सा खाना-पीना वहाँ उपयुक्त होगा इसके बारीक नियम भी अपरिवर्तनीय निश्चित करना कठिन काम है। अत: किस ऐहिक आचार से परलोक में कौन सा उपयोग होता है ऐसा बतानेवाला कोई भी नियम आज सनातन धर्म, शाश्वत अपरिवर्तनीय और अबाधित नियम ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रश्न है विधि (कानून) का और मानव-मानव के बीच शिष्ट व्यवहार का। इसको स्मृति में यद्यपि 'एष धर्मस्सनातन:' कहा है तो भी वह सर्वथैव परिवर्तनीय था और होना चाहिए था। स्मृतिग्रंथों से भी सत्यादि युग के सनातन धर्म की कुछ बातें कलिवर्ज्य मानकर त्यागी गईं। उसी प्रकार 'एष धर्मस्सनातन:' को अगले अध्याय से आपद्धर्म के नाम पर निकाल दिया जाता है। यानी क्या कहें? मतलब यह कि आपद् या संपद् के प्रसंग में अथवा युगभेद के कारण परिस्थिति भेद होने के कारण विधि बदलना ही उचित होता है। इसलिए वे अपरिवर्तनीय सनातन नहीं, परंतु अपरिवर्तनीय ही हैं। मनु ने राजधर्म में युद्ध नीति के जो सनातन धर्म बताए हैं उनमें चतुरंग दल का सविस्तार उल्लेख है, परंतु तोपखाने का या

वैमानिक दल का नामनिर्देश भी नहीं। और सैन्य के अग्रभाग में शौरसेनी लोग होने चाहिए ऐसा कहा है जो मनु के समय में हितावह था इसलिए कहा गया है; फिर भी इन नियमों को अपरिवर्तनीय सनातन धर्म समझकर यदि हमारे सनातन धर्म संघ आज भी केवल धनुर्धरों को आगे रखकर और आठ घोड़ों का रथ सजाकर किसी यूरोप के अर्वाचीन महाभारत के शत्रु को डराने हेतु श्रीकृष्ण भगवान् का 'पांचजन्य' शंख बजाते हुए जाएँ तो केवल पांचजन्य करते हुए यानी चिल्लाते हुए उन्हें लौटना पड़ेगा। यह क्या कहने की बात है? हिंदू सेना के अग्रभाग में मनुनिर्दिष्ट शौरसेनीय आदि सैनिक होते थे जब तक मुसलमान हिंदुओं को धूल चटाते हुए आगे बढ़ते थे। परंतु 'मनुस्मृति' में जिनका नामोल्लेख भी नहीं ऐसे मराठे, सिख, गुरखे जब हिंदू सेना के अग्रभाग को सँभाले रहे तब उन्हीं मुसलमानों को धूल चटाई। रूढ़ि, निर्बंध, आचार ये सब मानव मात्र के बीच व्यावहारिक नियम हैं जिन्हें परिस्थिति के अनुसार बदलना पड़ता है। जिस स्थिति में जो आचार या निर्बंध मानवों की धारणा हेतु या उद्धार के लिए आवश्यक होगा, हितप्रद होगा, वह उसका उस स्थिति का धर्म, आचार, निर्बंध आदि होगा। 'नहि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्तते। तेनेवान्यः प्रभवति सोऽपरो बाधते पुनः॥'

(म.भा. शांतिपर्व)

सारांश

१. जो सृष्टि नियम विज्ञान को प्रत्यक्षनिष्ठ प्रयोग के अंत में संपूर्ण अबाधित, शाश्वत सनातन दिखाई दिए, वे ही सच्चे सनातन धर्म हैं।

२. पारलौकिक वस्तुस्थिति का ऐसा प्रयोगसिद्ध ज्ञान हमें बिलकुल नहीं हुआ है। अतः यह विषय अभी भी प्रयोगावस्था में है ऐसा मानकर उसके संबंध में अस्ति-रूप या नास्ति-रूप कुछ भी 'मत' कर लेना अनुचित है। उस पारलौकिक प्रकरण में नाना युक्तियाँ बतानेवाले कोई भी धर्मग्रंथ अपौरुषेय या ईश्वरदत्त न होकर मनुष्यकृत या मनुष्यस्फूर्त हैं। उनकी युक्तियाँ प्रमाणहीन होने से उन्हें सनातन धर्म शाश्वत सत्य नहीं कह सकते।

३. मनुष्य के समस्त ऐहिक व्यवहार, नीति, रीति, निर्बंध ये उसके लिए इस जगत् में हितप्रद हैं या नहीं, इस प्रत्यक्षनिष्ठ कसौटी से ही तय करने चाहिए। उनको व्यवहार में लाना चाहिए, बदल करना चाहिए। 'परिवर्तिनि संसारे' ये मानवी व्यवहार धर्म सनातन होना संभव नहीं। इष्ट नहीं। 'महाभारत' में उचित ही कहा है कि 'अतः प्रत्यक्षमार्गेण व्यवहारविधि नयेत्।'

□

यज्ञ की कुलकथा (वृत्तांत)

जब मनुष्य को चाहे जितना और चाहे जब कृत्रिमता से अग्नि उत्पन्न करना आया तब उसने प्रकृति पर एक महत्त्वपूर्ण विजय उसने प्राप्त की। वाष्प, विद्युत् या रेडियम की खोज से मनुष्य की संस्कृति में जैसे एक-एक नया युग आया, वैसा अग्नि की खोज से भी मनुष्य की प्राथमिक अवस्था में प्रगति का एक मन्वंतर हो गया। अर्वाचीन इतिहास काल में वाष्प, विद्युत् या रेडियम की खोज जितनी अलौकिक थी उतनी ही इस प्राचीन पौराणिक काल में अग्नि की खोज भी अलौकिक आश्चर्यजनक की थी।

अतएव उस अग्नि की खोज जिन-जिन बुद्धिमान् पुरुषों ने की उन्हें उन प्राचीन लोगों में महर्षि पद का या देवत्व का सम्मान मिला। अपने वैदिक आर्यों में कुछ ऋषियों को अग्नि के खोजकर्ता के रूप में वैदिक शक्तिशाली मंत्रद्रष्टा के समान गौरवान्वित किया जाता है। प्राचीन पारसी लोगों में तथा प्राचीन चीनी लोगों में अग्नि के शोधक, अग्नि की युक्ति ढूँढ़नेवाले, अग्नि को प्रकट करनेवाले किसी-न-किसी पुरुष को उनके अपने धर्मग्रंथों में देवकल्प स्थान प्राप्त हुआ है। धर्मग्रंथों में समाविष्ट कहानियों से भी यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अग्नि की 'युक्ति' मनुष्यों में से ही किसी ने खोजकर निकाली है।

मनुष्य को अति प्राचीन काल में 'अग्नि की युक्ति' जानने के दो मार्ग संभवनीय रहे होंगे। विस्तार से फैले हुए जिन वनों में से वह मनुष्य अपनी पशुता की अवस्था में घूमता होगा तब बातों-बातों में ही पेड़-पर-पेड़ घिसकर प्रचंड आग लग जाती थी। उसका सूक्ष्मता से अवलोकन करते समय आग लगने का कारण 'घर्षण' होगा—यह मनुष्य के ध्यान में धीरे-धीरे आया और उन लकड़ियों पर विशिष्ट लकड़ियाँ घिसने से चिनगारी निकले बिना नहीं रहती, यह नियम उसे ज्ञात हुआ होगा। आज अति तुच्छ और उपेक्षणीय लगनेवाला वह दृश्य जब मनुष्य ने देखा तब उस प्राथमिक बुद्धि के युग में उसे कितना आश्चर्य हुआ होगा? जिस

काष्ठ को आग लगते ही वह जलकर भस्म हो जाती है, यही अग्नि इस काष्ठ के पेट में ही शांति से रहती है। यह कितना बड़ा आश्चर्य था! मनुष्य की पीठ पर थप्पड़ मारते ही वह तत्क्षण शेर बन जाए और वह मनुष्य को खाने लगे, ऐसा कुछ होते ही आज जैसा आश्चर्य लगेगा, उतना ही आश्चर्य उस समय हुआ होगा। दूसरी संभावना यह थी कि चकमक पर चकमक पटकते ही अग्नि की चिनगारी निकलती है और धरती पर पड़े हुए सूखे पत्तों के ढेर जलना शुरू हो जाते हैं। जब बार-बार ऐसा होने लगा तो अग्नि की उत्पत्ति का वह नियम उनके ध्यान में आया होगा। हाँ, यही बात है। वन्यावस्था में मनुष्य को इन दोनों में से किसी एक नियम का पता लगकर अग्नि की 'खोज', अग्नि की 'युक्ति' मिल गई होगी और जिसने प्रथम वह ढूँढ़ ली या जिन्हें जानकारी नहीं थी ऐसे लोगों में सर्वप्रथम जिसने प्रचार किया वह मनुष्य, आज हमें वाष्प शक्ति का या बेतार का शोधकर्ता लगता है, उससे कितने ही अधिक गुना उस युग के वन्य और अप्रबुद्ध मनुष्य को अलौकिक लगा होगा।

गत वन्य युग में अति अग्रसर, परंतु आज के वैज्ञानिक युग की दृष्टि से अति पिछड़ी ऐसी जंगली जातियाँ आज भी मिलती हैं और उनमें आग उत्पन्न करने की 'युक्ति' यानी उपर्युक्त दोनों में से कोई एक या दोनों पद्धतियाँ मिलती हैं। तीसरी युक्ति उन्हें ज्ञात होगी ऐसा नहीं लगता। इस सबूत से भी उपर्युक्त तर्क को मजबूती मिलती है।

इतना ही नहीं अपितु वैदिक आर्यों के वेदकाल पूर्व की परिस्थिति में जब-जब अग्नि की 'युक्ति' प्राप्त हुई तब-तब वह ज्वलनशील काष्ठों के घर्षण की ही होनी चाहिए यह तर्क अपनी यज्ञ संस्था में 'अग्नि' उत्पन्न करने की जो क्रिया अत्यंत धर्म्य मानी जाती है उस आधार पर भी समर्थित हो जाती है।

धर्म संस्कार में जो-जो क्रियाएँ धार्मिक रूप में चिरस्थायी होती हैं, वे बहुधा उस काल का इतिहास होती हैं। भूगर्भित स्तर में जैसे विशेष काल की सृष्टि स्थिति और समाज स्थिति को (चिम चिरेबंद) की जाती है वैसे ही धार्मिक संस्कारों में से उस समय का ज्ञान और अज्ञान अस्थि-स्थिर (Fossilized) चिरेबंद और चिरंतन कर रखा होता है। उदाहरण के लिए विवाह के समय महाराष्ट्रीय कन्याएँ हमेशा के समान कच्छ न पहनते हुए उस धार्मिक विधि के लिए बिना कच्छ के वस्त्र पहनती हैं। कारण यह हो सकता है कि जिस समय विवाह-विधि की रचना हुई उस समय शायद आर्य कुमारियों में कच्छ की पद्धति नहीं होगी। उत्तर प्रदेश की ओर मूल 'आर्यावर्त' में उच्च वर्ग की महिलाओं में आज भी कच्छ की पद्धति नहीं है। विवाहादि कार्यों में ठीक शुभ मुहूर्त साधने हेतु ठीक समय दरशानेवाली घड़ी महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, कोई भी उपाध्याय घटिका-पात्र पूजन में उसे नहीं रखेगा,

वह स्थान नहीं देगा। इस घड़ी का स्थान एक छेद किए हुए घटिका-पात्र को ही मिलेगा जो जल भरे ताँबे के नाद में डाला जाता है; क्योंकि जब विवाह-विधि की रचना हुई, जो बाद में रूढ़ि बनी तब लोगों की अति आधुनिक घड़ी घटिका-पात्र ही थी। उसपर धर्म की छाप बैठते ही वह जो 'अस्थि-स्थिर' होकर बैठ गई सो बैठ ही गई। वही बात बिजली के दीप की या गैस के आज के प्रकाश की। मंदिर में या घर में इस देदीप्यमान दीप को देवता का, पवित्रता का मान नहीं मिलेगा। उन्हें शाम के समय कोई भी 'दीपज्योतिर्नमोऽस्तुते' करके नमस्कार नहीं करेगा। वह दीप देवता का सम्मान मिलेगा उस मिट्टी के दीये को या समई को। क्योंकि अपने पूजादि धार्मिक नियमों की जब रचना हुई तब उस समय का सबसे अधिक आधुनिक दीया मिट्टी का दीप या समई था। धर्म की उसपर छाप लगी और उसकी पवित्रता 'अस्थि-स्थिर' हो गई। उस सनातन दीपक का, धर्म के दीपक का, मंद और धुँधला प्रकाश धुआँ अधिक। परंतु विज्ञान का विद्युत् का दीया! अद्यतन!!

प्राचीन समाज स्थिति का ढाँचा प्राचीन धर्म संस्कारों के तंत्र में ही गड़ा हुआ मिलता है। इस नियम के अनुसंधान से अग्नि की युक्ति वैदिक आर्य के अति प्राचीन पूर्वजों को कैसे मिली उसका पता उनके अग्नि प्रज्वलित करने के पुरातन धार्मिक तंत्र में यानी यज्ञ विधि में मिलना अधिक संभव है और जिस अर्थ में यज्ञ की पवित्र अग्नि मानने पर उसे काष्ठ पर काष्ठ घिसकर ही उत्पन्न करना पड़ता है, उस अर्थ में उस यज्ञीय तंत्र रचना करनेवाले प्राचीन युग में अग्नि जलाने की उत्कृष्ट युक्ति काष्ठ पर काष्ठ घिसकर अग्नि-कण गिराना ही होनी चाहिए। अब जिसमें अनेक गुना सुधार हुआ है ऐसी आगडब्बी या बिजली का बटन ढूँढ़ निकाला गया है, तो भी धार्मिक अग्नि, समंत्रक वैदिक अग्नि जलाने का मान इस सद्यतन साधन को कभी भी नहीं मिलेगा। वह सम्मान पाँच हजार वर्ष पूर्व के, यानी पाँच हजार वर्षों से पिछड़े हुए, काष्ठ पर काष्ठ को घिसने की पद्धति को ही मिलेगा। किसी का भी अज्ञान या निकृष्ट पद्धति उसपर धार्मिक छाप पड़ते ही किस प्रकार 'सनातन' हो जाती है, पवित्र हो जाती है इसके ये उदाहरण हैं। वास्तविक दृष्टि से सोचने पर अद्यतन माचिस से जलाई हुई अग्नि भी तो अग्नि ही है, फिर भी उसे कभी भी यज्ञीय पूजनीयता प्राप्त नहीं होगी। यज्ञीय पूजनीयता का पात्र अग्नि यानी पुरातन जंगली पद्धति से, काष्ठ पर काष्ठ घिसकर प्रज्वलित की हुई अग्नि ही है।

अग्नि जलाने की यह युक्ति जब मनुष्य को ज्ञात हुई तब उसके जीवन पर उसका कितना महान् क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा होगा। उसका खाना, पीना, रहना, गतिस्थिति इन सभी प्रकरणों में प्रगति पर कितना मन्वंतर हुआ होगा वह कल्पना से हमें ज्ञात हो सकता है। काली भयानक रात्रि में मानो एक प्रतिसूर्य, 'उगने' की

कहते ही उगने की सामर्थ्य मानव में आ गई। जन्मांध अँधेरे को मानो आँख मिल गई—दिखने लगा। उस अग्नि की कृपा से जो पचाया नहीं जा सकता था वह अन्न मनुष्य पचाने लगा। जिसका द्रव रूप नहीं कर सकते थे ऐसी धातुओं को वह पिघलाने लगा। अँधेरे के भयंकर भय को यानी भूतों को तीव्र प्रकाश की तीक्ष्ण तलवार से काटकर नष्ट करने लगा। इस प्रकार उस तेजस्वी होकर भी किसी सुहृद के समान पुकारते ही प्रकट होनेवाले महासल संबंध में मनुष्य को कृतज्ञ होना या उस 'चमकनेवाली' अग्नि को देवों में अत्यंत प्रिय और पूज्य मानना एकदम स्वाभाविक था।

अग्नि जलाने की यह युक्ति प्राप्त हो गई, परंतु यह अधिक सुविधाजनक नहीं थी। गहरी रात्रि में कभी तुरंत दीया जलाना हो तो काष्ठ पर काष्ठ घिसकर, स्फुल्लिंग पकड़कर आग जलाना एक दीर्घ कार्य था। यह कठिनाई चकमक की युक्ति में भी थी। अर्थात् एक बार फुरसत के समय प्रज्वलित की हुई अग्नि को बनाए रखने हेतु, जैसे अनाज का संग्रह करने की रीत थी वैसे ही अनाज को पकानेवाली इस अग्नि को भी स्थिर संग्रह के रूप में घर में सतत तैयार रखना भी उचित था। उस समय में मिट्टी के तेल जैसी ज्वालाग्राही और दियासलाई के समान शीघ्रचेतन साधन मनुष्य के पास नहीं था। इसलिए तब घर में अग्नि सतत जलते रखना कितना सुविधाजनक और आवश्यक था यह बात अभी-अभी तीस-चालीस वर्ष पूर्व की अत्यंत आधुनिक काल की गृहिणी भी बता सकेगी। क्योंकि इस प्रौढ़ पीढ़ी की बाल अवस्था तक घर में चूल्हे कई माह तक जलते ही रखने पड़ते थे। दिन में भोजन तैयार हो गया कि राख के ढेर के नीचे गोबर के कंडे रखकर जलते रखे जाते थे और आवश्यकता पड़ने पर उसी से अग्नि तैयार करते थे। रात को खाना बन जाने पर पुन: राख में गोबर के कंडे जलते हुए रात भर रखे जाते थे, सुबह फिर से उसे जलाकर चूल्हे पर भोजन बनाना शुरू होता था। ऐसा नियम घर-घर चलता था इस कारण अधिकतर घरों में चार-चार माह पूर्व जलाई हुई अग्नि न बुझने देते हुए रखी जाती थी। यह स्थिति अभी-अभी तीस वर्ष पूर्व तक की है। फिर तीन-चार हजार वर्षों पूर्व अग्नि सतत जलती रखना कितना सुविधाजनक और आवश्यक लगता होगा—यह बात सहज ध्यान में आती है।

अग्नि की इस अति उपयुक्तता के कारण ही वह दैवी तेज देवों में अत्यंत प्रिय और पूज्य देव बना। उसी प्रकार अग्नि सतत जलती रखने की, उस देव का अस्तित्व और उपस्थिति अपने-अपने घरों में सतत कायम रखने की यह क्रिया भी उसकी अत्यंत उपयुक्तता के कारण किसी दैविक, धार्मिक, पवित्र क्रिया के समान कर्तव्य हो बैठी, संस्कार हो गई, अग्निहोत्र का पद उसे मिला। पारसी लोगों में पूजा

की अग्नि पीढ़ी-दर-पीढ़ी बुझने नहीं दी जाती थी। परदादा ने काष्ठ पर काष्ठ घिसकर या चकमक के द्वारा एक बार जो चिनगारी निकाली उसकी अव्याहत वंश परंपरा; वह अग्नि कभी भी न बूझते हुए चार-चार तो क्या चौदह-चौदह पीढ़ियों तक सतत जीवित रखी जाती थी। हमारे अग्निहोत्र संस्था की उपपत्ति भी यही होगी।

चूल्हा या चिलम जलानेवाले व्यावहारिक आग का देवीकरण यानी अग्नि देव, यज्ञेय यग्नि! और चूल्हे में सतत आग जलते रखने के लिए जो व्यावहारिक सरल क्रिया उसका देवीकरण यानी अगियारी, अग्न्यागार या अग्निहोत्र। एक प्राकृत, घरेलू, ऐहिक व्यवहार का शब्द, दूसरा संस्कृत, मंदिर का, पारलौकिक धर्म का शब्द इतना ही उन दो शब्दों में भेद है, वह छोड़ दिया तो सदैव जलनेवाला चूल्हा ही अग्निहोत्र तथा अग्यिारी की जननी है।

वैसे ही घर या झोंपड़ी के पास निरंतर भट्ठी जलती रहने की आवश्यकता शीत प्रदेश में रहनेवाले लोगों में अधिक होगी। आज भी इंग्लैंड, जर्मनी, रूस जैसे देशों में, बैठक में, बँगले में, सभागृह में, मंदिर में, नाट्यगृह में जहाँ बैठोगे वहाँ पुरानी सिगडी या अद्यतन पद्धति का स्टोव या गरम पानी का नल आदि साधनों से कृत्रिम गरमी हमेशा रखनी पड़ती है। साठ-सत्तर वर्षों पूर्व सिगडी और आग सर्वत्र जलाकर रखी जाती थी। शीत प्रदेशों में हमेशा जलते हुए अग्निहोत्र का या अग्यारी का सर्वकालीन सान्निध्य धार्मिक कर्तव्य मानकर नहीं अपितु ऐहिक आवश्यकता की दृष्टि से भी सुखप्रद लगता था। उष्ण देशों में भी अत्यंत उपयुक्त अग्नि निरंतर प्रज्वलित रखना उस वन्य और अर्धसंस्कृत स्थिति में आवश्यक था। किंतु उष्ण प्रदेशों की वह आवश्यकता थी तो शीत प्रदेशों में सतत प्रज्वलित अग्नि का साहचर्य जैसे आवश्यकता थी वैसे पसंद भी थी, इसलिए उष्ण प्रदेशों की अपेक्षा शीत प्रदेशों में अग्नि का अधिक महत्त्व होता था। हिम प्रदेशों में तो अग्नि-उष्णता यानी जीवन। जिह्वा मुख से बाहर निकालते ही सिकुड़ जाती, चखने के पदार्थों से ही चिपक जाती थी। इस प्रकार के भयंकर रक्त जम जानेवाले शीत में, हिममय प्रदेश में अग्नि के बड़े-बड़े कुंड बस्ती के नाके-नाके पर भी रहते तो भी उसकी आवश्यकता होती थी। परंतु गरम प्रदेशों में, जहाँ गरमी के कारण शरीर से पसीने की धाराएँ फूटती हैं, बड़ी-बड़ी होली और सिगडियाँ घर में अपनी पसंद से कौन जलाएगा? इससे यह अनुमान सहज निकाला जा सकता है कि अग्निपूजा, अग्निहोत्र, अग्यागारे और माह-के-माह चलनेवाले बड़े-बड़े यज्ञ ये सब धार्मिक संस्थाएँ किसी हिम प्रदेश में या शीत प्रदेश में ही सर्वप्रथम अत्यंत प्रिय और पूज्य मानी गई होंगी। 'धर्म' होकर बैठ गई होंगी। सर्वप्रथम आवश्यकता, फिर पसंद और अंत में देवीकरण, धर्मीकरण ऐसी परंपरा से अग्निपूजा 'यज्ञ' की यह संस्था हिम प्रदेश में

ही उत्पन्न हुई होगी इसकी संभावना अधिक है। अग्निपूजा को एक बार दैवी, धार्मिक, पारलौकिक स्वरूप मिलने के कारण वह प्रथा जहाँ-जहाँ हिम या शीत प्रदेश के निवासी गए और दूसरे देशों में स्थायी हुए वहाँ-वहाँ यद्यपि यज्ञादि अग्नि पूजा की आवश्यकता का सुखद साहचर्य जिस स्थान पर, जिस समय में शेष नहीं था वहाँ भी उन्हीं संस्थाओं को धर्म संस्था के रूप में स्थापित करने लगे। अंध श्रद्धा के कारण उष्ण प्रदेश में भी अनुपयोगी होने पर भी उससे वे चिपककर रहे।

हमारे इस तर्क को आज उपलब्ध प्राचीन संस्कृति का इतिहास मजबूत करता है। उष्ण प्रदेशों में ज्ञात काल में एकदम आरंभ काल से ही रहनेवाले राक्षस (निग्रो आदि) लोगों में यज्ञ संस्था ने जन्म नहीं लिया। इतना ही नहीं अपितु जब उन्हें वह ज्ञात हुई तब भी वह उन्हें पसंद नहीं आई। हिम प्रदेश में विकसित संस्कृति के पारसी और भारतीय अनुयायियों में वह अग्निपूजा प्रमुख रूप से जटिल कर्मकांड का धार्मिक केंद्र होकर रह गई। हिम या शीत प्रदेश में आर्य लोग थे तब अग्नि का साहचर्य अपरिहार्य ही नहीं अपितु सुखद लगना स्वाभाविक था। बड़ी-बड़ी होलियाँ इंग्लैंड में भी कुछ धार्मिक त्योहारों में जलाई जाती हैं और असहनीय शीत ऋतु में गाँव-गाँव में वे सुखकर ही होती हैं। इन आर्य जातियों का उष्ण प्रदेश में आगमन होने के बाद भी अग्निपूजा और यज्ञ संस्था सुखद न लगने पर भी वे नहीं छोड़ पाए। यह उसके दैवीकरण या धार्मिककरण का परिणाम है।

सद्यःकालीन यज्ञ के व्यावहारिक लाभ

यज्ञ संस्था की कुलकथा से यदि कोई बात स्पष्ट होती तो यह कि जिस आवश्यकता के कारण वह अग्निपूजा या यज्ञ संस्था निर्मित हुई और व्यावहारिक दृष्टि से उपयुक्त रही, उनमें से एक भी आवश्यकता आज बची नहीं है। इसलिए अपने हिंदुस्थान जैसे उष्ण प्रदेश में तो वह बिलकुल अनावश्यक, अपायकारक, अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से त्याज्य हो गई है। अर्थात् उसकी आज आवश्यकता नहीं है, परंतु मनुष्यजाति को कभी उसकी आवश्यकता थी इसे भूलना नहीं चाहिए। और उन संस्थाओं का उनकी पूर्व सेवाओं के लिए कृतज्ञ ही रहना चाहिए। जिन प्राचीन पूर्वजों को वह अत्यावश्यक और अतिप्रिय लगी, उनकी उस स्थिति में वैसा लगना स्वाभाविक था, इसलिए उसको बनाए रखने से वे हास्यास्पद नहीं होते हैं। परंतु वह स्थिति पूर्णतः बदलने पर, उस काल का सृष्ट पदार्थों के संबंध में अज्ञान आज अधिकतर नष्ट होने पर भी, आज भी उस अज्ञान को ही धर्म समझकर उसकी पूजा करते रहना हमारी मूर्खता है। हास्यास्पद हम हो रहे। उपर्युक्त यज्ञ की कुलकथा में स्पष्ट हुए उसके उपयोग आज केवल अनावश्यक ही नहीं अपितु किस प्रकार

त्याज्य हो गए हैं यह देखिए—

१. जिन महान् और बुद्धिमान् शोधकर्ताओं ने उस बिलकुल अज्ञानी युग में कृत्रिम अग्नि खोज निकाली, मानवजाति पर उनके अनन्य उपकार हैं। उनसे उऋण होने के लिए इतना ही करना होगा कि चकमक में से अग्नि निकालनेवाले उन शोधकर्ताओं से लेकर आज के दूरदर्शक (Television) यंत्र तक बड़े-बड़े शोधों में, उन अग्निशोधकों में पुरातन ग्रंथों में उल्लिखित प्रसिद्ध अग्निशोधक ऋषियों की गणना करके उनकी स्मृति को कृतज्ञता से अक्षुण्ण रखना चाहिए। परंतु अग्नि जलाने की युक्ति उन्हें उस अज्ञानी युग में ज्ञात हुई इस बात का सही महत्त्व होते हुए भी आज उसका महत्त्व इतना बढ़ाना कि उसके सम्मुख आज की समस्त अग्नि विषयक युक्तियाँ, यंत्रशोध और शास्त्र निरुपयोगी माने जाएँ; केवल 'मानवी' समझे जाएँ और आज एकदम जंगली ठहरनेवाली वह पद्धति लकड़ी पर लकड़ी घिसने की और अग्नि उत्पन्न करने की एकदम दैवी मानी जाए; वेदों के पवित्र मंत्रों के बिना जो आचरण करेंगे वह पाप होगा, ऐसा धार्मिक संस्कार मानना, यह केवल भोलापन नहीं है क्या?

वास्तविक रूप से काष्ठ पर काष्ठ और चकमक पर चकमक घिसकर अग्निकण पैदा करना अग्नि विद्या का बिना कक्षा का पाठ है। कहाँ वह अग्निकण की युक्ति और कहाँ यह आज की कृष्ण रात्रि में प्रतिसूर्य के समान ठीक दोपहर जैसा चमकीला प्रकाश देनेवाली शोध ज्योति (Search Light) की यह युक्ति! उसे हम 'मानवी' समझें और चकमक घिसने को 'दैवी' पवित्रता समझें, शोध ज्योति के प्रकाश को अमंगल, अशुद्ध और चिलम जलाने के लिए ग्रामीण जो अग्निकण प्राप्त करता है उसे पवित्र मानें, शोध ज्योति का अन्वेषक सामान्य मानव, काष्ठ पर काष्ठ घिसकर अग्निकण बनानेवाले 'ऋषि' को देव मानें यानी बिना कक्षा के शिक्षक को भास्कराचार्य से भी अधिक श्रेष्ठ गणितशास्त्र पारंगत की उपाधि देना, क्योंकि उसने प्रथम पाठ सिखाया इसलिए मुझे दो का पहाड़ा मुखाग्र है उसे ही ईश्वरीय गणित मानना। भास्कराचार्य का सारा गणित शास्त्र केवल मानवी तुच्छ गणित। पूर्व में सनकाड़ी से दीया जलाते थे, बाद में माचिस निकाली। इसलिए भगवान् का दीया जलाना हो तो सनकाड़ी से ही जलाना, उसके लिए माचिस अपवित्र। वास्तविकता यह है कि जिस माचिस से हमने अग्नि को

अपना दास बनाकर रखा है उसी से ही यज्ञ के लिए अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए। यज्ञ में जिस लकड़ी को घिसकर अग्नि तैयार करते हैं उसकी स्तुति करनेवाले मंत्र हैं। परंतु फूलों की एक पँखुड़ी भी कोई माचिस पर नहीं चढ़ाता। इसका यही कारण हो सकता है कि यज्ञ की प्रथा निकली तब उस 'त्रिकालदर्शी' मंत्रद्रष्टा को सादी माचिस की यह 'युक्ति' नहीं दिख पाई। यदि उस समय दियासलाई की डिब्बी की खोज हुई होती तो उस पर निश्चित रूप से दो-चार ऋचाएँ रची जातीं। घंटा, कलश की और शंख की भी जहाँ पूजा होती है वहाँ माचिस की भी पूजा अवश्य होती। वह कला (युक्ति) उस काल में ज्ञात नहीं थी। अर्थात् यह उनका दोष नहीं। परंतु आज वह कला ज्ञात है। फिर भी पवित्र अग्नि काष्ठ पर काष्ठ घिसने की जंगली पद्धति से ही प्राप्त करनी चाहिए यह मान्यता कायम रखना हमारा जंगली अज्ञान है और इस पद्धति को ही पवित्र ज्ञान मानना मूर्खता है।

२. जो स्थिति चकमक से आग जलाने की, सनकाड़ी की वही स्थिति आगे चलकर दियासलाई की भी थी। माचिस की खोज हो गई तो वह खोज अपूर्व, उपयुक्त और महँगी थी। इसलिए इंग्लैंड में कई वर्षों तक बीस-पच्चीस रुपयों में केवल एक दर्जन माचिस मिलती थी। आगे चलकर उससे भी अधिक सुविधाजनक चीजें बनीं और आज यात्री व्यक्ति के हाथ में माचिस नहीं हाथ-बैटरी (Hand battery) होगी। आजकल घर-घर में बिजली का बटन चमक रहा है और दियासलाई डेढ़-दमड़ी की चीज हो गई है। अब दियासलाई के आविष्कारकर्ता का सम्मान करके यदि कोई अर्वाचीन धर्मपंथ हाथ-बैटरी या बिजली के बटन को अपवित्र वस्तु मानने लगे और दैवी अग्नि या मंदिर का दीया माचिस से ही जलाना चाहिए ऐसा कहने लगे तो वह दियासलाई-पूजक धर्मग्रंथ जैसा अज्ञानी माना जाएगा वैसा ही प्राचीन चकमक या काष्ठ घिसनेवाले अग्निपूजक पंथ को भी आज अज्ञानी ही मानना चाहिए और उसे छोड़ देना चाहिए।

३. अग्नि जब चाहिए तब प्रज्वलित करना कठिन था तब वह घर में या गाँव में निरंतर प्रज्वलित रखना आवश्यक था। यही अग्निहोत्र का व्यावहारिक उपयोग और उपाय था जो अब पिछड़ा, पुराना अंक (Back Number) हो गया है। क्योंकि अब अग्नि माचिस की लकड़ी से जब चाहे तब जलाई जा सकती है। फूँक मारकर बुझाई भी जा

सकती है। न मंत्र चाहिए और न तंत्र। वह सारा अग्निहोत्र आज एक छोटी माचिस-डिब्बी में बंद कर जेब में या किसी कोने में रख सकते हैं। लगातार ईंधन जलाकर अग्नि पालने की बिलकुल आवश्यकता नहीं। कुंड में या चूल्हे में अग्निहोत्र को लगातार जलाए रखने में उसी अग्निनारायण द्वारा भड़ककर घर या यजमान के ही जलने की दुर्घटना होने की जो आशंका थी वह दियासलाई में बहुत कम है। और दियासलाई से जो डर था वह सुरक्षित माचिस (Safety Matches) निकली तब से बिलकुल नहीं रहा। वैसे भी अब अग्नि का व्यावहारिक महत्त्व गैस और बिजली के कारण भी कम हुआ है। अग्निहोत्र प्रथम दियासलाई में अदृश्य हो गया। बाद में माचिस बिजली के बटन में अदृश्य हो गई। स्टोव का राज प्रारंभ होते ही धूमिल चूल्हे के सनकी ससुराल के कष्ट नष्ट हो गए और आजकल तो धुआँ और गरमी के कष्ट समाप्त करनेवाले 'प्रकाश चूल्हे' सूर्य किरणों के द्वारा चलानेवाले स्टोव निकल रहे हैं। शीघ्र ही सूर्य किरणें और प्रकाश किरणों के केंद्रीकरण से रात को या दिन को तुरंत जलनेवाला और बुझनेवाला स्टोव निकलनेवाला है। उसे न तेल चाहिए, न गैस, न अग्नि तो फिर धुआँ निकलने की बात बहुत दूर होगी। उस प्रकाश चूल्हे पर चाहे जितना खाना बना लो। किरणों को विशिष्ट पद्धति से केंद्रित करने के लिए काँच ऐसे बैठाए जाते हैं कि सूर्यप्रकाश हो या न हो वह जलता है और खाना बनता है।

आज तक मनुष्य का खाना बनाने का कार्य अग्नि करती थी अब यह कार्य सूर्य करने लगेगा। जिस सूर्य की कृपा के लिए मंत्र कहते थे, गायत्री जपते थे या अर्घ्य देते थे उस सूर्य नारायण की आराधना करने से नहीं अपितु किसी जड़ पदार्थ के समान सृष्टि नियमानुसार उसका उपयोग करने से ही होगा। वेद की अपेक्षा विज्ञान से सूर्य, अग्नि, प्रकाश, विद्युत, मरुत, सोम कैसे तत्काल बिना चूक और जबरदस्ती पाले जाते हैं। रसोई बनानेवाली महिलाओं पर इस प्रकाश चूल्हे से, सौ-सौ अग्निहोत्रों से प्रसन्न न होने वाली अग्नि अब कृपा करेगी। जो नहीं हो सकती थी ऐसी सुविधा होने वाली है। उस हमारे प्राचीन चूल्हे से या अग्निहोत्र से साड़ी जलानेवाला या घर जलानेवाला धोखा, आँखों को धुएँ से लाल होने के कष्ट, बार-बार फूँकना, लकड़ी ठूँसना आदि सब परेशानियाँ दूर होंगी।

रसोई हेतु स्टोव और प्रकाश चूल्हा, प्रकाश हेतु बिना धोखे

की दियासलाई, विद्युत् बटन, हाथ-बैटरी, गैस और शोध ज्योति (Search Light) गति के लिए पेट्रोल तथा बिजली, गरमी के लिए गरम जल की या पूरे घर में बिजली फैलानेवाली नलिकाएँ, इतना ही नहीं अपितु अति शीतकाल में अंग की गरमी नाप सके ऐसा आगतार धागे से बुने हुए वस्त्र मिलना संभव। ये सारी बातें जिस विज्ञान युग में मनुष्य की सेवा के लिए हाथ जोड़कर दास के समान उसके सम्मुख खड़ी हो रही हैं ऐसे विज्ञान युग में अग्नि का वह प्राचीन वैदिक युग का महत्त्व समाप्त हो गया है। अब अग्नि का युग समाप्त हुआ। विद्युत् रेडियम का युग चल रहा है। अग्निपूजा से प्राचीन काल में होनेवाले व्यावहारिक लाभ अब बिलकुल होनेवाले नहीं हैं, और उसकी गणना निर्जीव, भावनाशून्य और नियमबद्ध जड़ द्रव्य में होने के कारण उसका देवत्व और राक्षसत्व भी नष्ट हो गया है। अब उस अग्नि की पूजा क्या? प्रार्थना क्या? और चिंता क्यों?

४. अग्नि की उपयुक्तता से अग्निपूजा निकली और अग्निपूजा से यज्ञ संस्था, यह बात उपर्युक्त कुलकथा से स्पष्ट होती है। अग्नि का जो विशेष स्थान, उपयोग और दुर्लभता वैदिक युग में थी वह अब नहीं रही। क्योंकि मनुष्य की प्रगति अब विज्ञान के कारण हो रही है। हिम प्रदेश में या शीत भू-भाग में अग्नि का जो साहचर्य सुखदायी लगता है वह आज के हिंदुस्थान के भू-भाग में अत्यंत असहनीय हो गया है। घर में आवश्यक होने से घंटा-आध घंटा जलाई गई चूल्हे की गरमी जहाँ सहन नहीं होती है, केवल बैठने-उठने की हलचल से शरीर से पसीने की धाराएँ निकलती हैं, क्योंकि मौसम अति उष्ण होता है और यहाँ सूर्य की किरणों का ताप सहन न होकर मनुष्य मरते हैं ऐसे इस देश में और ऋतु में रुचि से अग्निहोत्र की होलियाँ घर-घर जलाकर रखना या सार्वजनिक यज्ञ की ज्वालाएँ कितने ही माहों तक मैदान में जलाते रहना केवल असह्य और तामस धर्माचार है। ऐसा 'धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविकृष्टमेवच' अधर्म के समान त्याज्य है। केवल जिस व्यावहारिक दृष्टि से हम इस अग्नि की ओर देख रहे हैं, उस व्यावहारिक दृष्टि से तो उष्ण प्रदेशों में यह अत्यंत कष्टप्रद पद्धति है। पूर्व में हिम प्रदेशों में सुखदायक होती थी इसलिए केवल पाली जा रही है। यह तो ऐसा ही हुआ जैसे बचपन में लकड़ी के घोड़े पर बैठते थे इसलिए बड़े होने पर भी सच्चे घोड़े पर न बैठते हुए लकड़ी के

घोड़े पर बैठने का प्रयास करें।

५. यज्ञ संस्था ने भूतकाल में हमारे भारतीय आर्यों पर इतना प्रभाव डाला था उसका एक यह भी कारण था कि यज्ञ उस समय में प्रत्यक्ष फलदायी लगते थे, जो कुछ प्रमाण में सही भी था। इस यज्ञ संस्था ने अपने वैदिक काल के आर्य राष्ट्र के संगठन को, संस्कृति को और दिग्विजय को बहुत बड़ी सहायता दी थी। मरुत-वरुण-सूर्य आदि सृष्टि शक्ति के समान अग्नि भी एक भावनाशील सजीव परम शक्तिमान् देवता है ऐसी उनकी प्रामाणिक निष्ठा थी। उस काल के मानवी ज्ञानानुसार जो निष्ठा वही सिद्धांत लगना स्वाभाविक था। इस निष्ठा से बद्ध, उत्स्फूर्त हुए आर्यों के पुरोहित, योद्धा, राजा, प्रजा—संपूर्ण राष्ट्र उस यज्ञ संस्था के पास इकट्ठा होते थे, वह यज्ञानिका हममें तेज का संचार करती थी इसलिए उसकी प्रार्थना होती थी और उस देवता के भावनामय आशीर्वाद को मस्तक पर धरकर शत्रुओं पर टूट पड़ते थे। उन्हें अनार्यादि अयाज्ञिक राष्ट्रों पर विजय प्राप्त होती थी। अग्नि जैसे आगे-आगे बढ़ती थी, वैसे उसके पीछे-पीछे आर्यों के वीर, पराक्रम, राज्य, संस्कृति आगे-आगे बढ़ते थे, नए-नए देश पादाक्रांत करते थे। विदेशों में जहाँ-जहाँ अग्नि आगे बढ़ी वहाँ-वहाँ आर्यों का प्रभाव भी बढ़ता गया, ऐसे जो यशोवाक्य अपने प्राचीन मंत्रों में कहे गए हैं यह केवल एक बार हुई घटना नहीं अपितु सौ बार वैसी घटनाएँ हुई थीं। बड़े-बड़े यज्ञों के आयोजनों में शास्त्रों की चर्चाएँ होती थीं, तत्त्वज्ञान की सभाएँ होती थीं, दूर तक फैले आर्य राष्ट्र वहाँ प्रतिनिधित्व करते हुए राष्ट्रीय एकता की भावना से पुनः-पुनः संगठित होते थे, आर्य संस्कृति में एकसूत्रता और एकजीवता, एकरूपता और एक प्राण पुनः-पुनः फूँका जाता था। आर्यों के ज्ञान का, पराक्रम का, वाणिज्य का, राज्य का, आर्य राष्ट्र का और राष्ट्र संघ का यह यज्ञ संस्था प्रत्यक्ष हृदय ही बन चुकी होती थी। पराजित राष्ट्र अयज्ञिय, विजेता आर्य राष्ट्र यज्ञिय! इस साहचर्य से कार्य-कारण भाव सहज ही समझ में आया कि जहाँ यज्ञ वहाँ जय, जिधर अग्नि उधर विजय! अर्थात् आर्यों को जो विजय अवश्य मिल जाती थी वह अग्नि देवता की कृपा है, यज्ञ का प्रताप है ऐसी भावना प्रबल हो गई। जहाँ यज्ञ वहाँ जय, जहाँ अग्नि वहाँ विजय—यह साहचर्य उस वैदिक काल में भारतीय आर्यों के लिए तो सही था, परंतु उस समय के धार्मिक भावनामय युग के अनुभव के

अभाव में यह बात उनके ध्यान में नहीं आई कि जहाँ यज्ञ वहाँ जय यह केवल साहचर्य था, कार्य-कारण भाव नहीं।

अग्निपूजक यज्ञप्रस्थ भारतीय आर्यों को वैदिक काल में कुल मिलाकर उनके शत्रुओं पर विजय के बाद विजय मिलती थी यह बात सही है। परंतु यह विजय उन्हें अग्निपूजा के कारण नहीं मिलती थी अपितु उस काल के उनके शत्रुओं से वे आर्य अधिक संगठित, सुसंस्कृत और वीर होते थे इसलिए विजय मिलती थी। वे ऐहिक शस्त्रास्त्र विद्या आदि भौतिक साधनों से संपन्न थे इसलिए। अनार्यों से वे उस समय के राष्ट्र, शासन, शास्त्र आदि विज्ञान में जिस प्रमाण में श्रेष्ठ थे उस मान से वरिष्ठ और गरिष्ठ भी थे। विज्ञान ने, आज अग्नि देवता न होकर केवल भावनाशून्य और जड़ सृष्ट पदार्थों में से एक पदार्थ है, यह जैसा सिद्ध किया है वैसा ही इतिहास ने यह भी निर्विवाद सिद्ध किया है कि यज्ञ और यश, अग्निपूजा और पराक्रम इनका कुछ भी कार्य-कारण संबंध नहीं, ऐहिक विजय ऐहिक साधनों से ही मिलती है और जब कभी उन साधनों के साथ यह इच्छा यानी हम मानवों को अभी तक अज्ञात और अपने काबू में नहीं ऐसे कारणों के कार्य खड़े होते हैं तब-तब वह योगायोग अग्निपूजा की ओर से होता है ऐसा बिलकुल नहीं। आर्य अनार्यों पर वैदिक काल में जो विजय प्राप्त करते थे वह यदि अग्निपूजा का फल होता, आर्य साग्नि, उनके शत्रु निरग्नि इसलिए आर्यों को अग्नि सफल बनाती थी, आर्य यशस्वी होते थे—कारण वे यज्ञपूजक थे और उनके शत्रुओं को अपयश प्राप्त होता था, क्योंकि वे यज्ञ विध्वंसक होते थे, ऐसा ही यदि होता तो वैदिक, यज्ञीय और आर्य पुरु राजा को उस अवैदिक म्लेच्छ ने कैसे जीत लिया था? रणांगण में यदृच्छया दैव आदि हो जाता है, उस योगायोग को यदि भगवान् का अधिष्ठान, अग्नि की कृपा कहना हो तो अलेक्जेंडर के अलौकिक चरित्र में यह दैव उसी को इतनी बार अनुकूल हुआ कि आर्यों में एक कहावत बनी, 'उसका दैव ही सिकंदर!' सिकंदर का शस्त्रबल और भारतीयों में फूट पुरु के नाश का प्रत्यक्ष कारण था। उस प्रकार की फूट न पड़ने देते हुए सिकंदर से अधिक अच्छा शस्त्रबल भारतीयों द्वारा जुटाते ही चंद्रगुप्त ने उसी म्लेच्छ को पराभूत किया। पुरु की अपेक्षा चंद्रगुप्त यज्ञ का अधिक एकनिष्ठ भक्त थोड़े ही था। इसके विपरीत वह यज्ञत्यागी, निरग्नि जैन मत का अनुयायी हो गया था ऐसा लगता है। अत्यंत विस्तृत, प्रबल और स्मरणीय अशोक का, आर्यों का ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्य था—एक व्यक्त यज्ञ, निरग्नि, वेदबाह्य बुद्धवीर का। ये तो केवल व्यक्त यज्ञ थे, परंतु यज्ञ विध्वंसक हूणों ने और मुसलमानों ने भारतादि आर्यों पर जो एक के बाद एक विजय प्राप्त कीं वह कैसे? जो अग्निपूजक थे वे बूझ गए और जो यज्ञ ध्वंसक तम

के पूजक थे वे चमकने लगे, कैसे? पराक्रम से, ऐहिक साधन से। दैव यानी यदि भगवान् का अधिष्ठान होगा तो फिर भगवान् यज्ञ ध्वंसकों का सहायक कैसे बना? रामदेव का पराभव हुआ, कहते हैं वह भगवान् का अधिष्ठान नहीं था। ऐसा 'ज्ञानमंदिर' में एक लेखक ने लिखा है। उसमें भी यज्ञ का, अग्नि का, वेद का, आर्य धर्म जिसे 'भगवान्' कहा जाता है उसका रामदेव, यह मुसलमानों की अपेक्षा अधिक अभिमानी और पूजक नहीं था क्या? बेचारा रामदेव राजा! युद्ध पर जाने के पूर्व देव को, अग्नि को, गाय को, ब्राह्मण को कितने आदर से पूजता था और करुणा से प्रार्थना करता था कि इस धर्मराज्य की रक्षा करो! इस प्रकार प्रार्थना कर रामदेव राय मुसलमानों से लड़ने गया था। उसका हृदयस्पर्शी वर्णन उपर्युक्त लेखक को पुराने बखर से एक बार पढ़ना चाहिए। यदि उस भक्ति से भी भगवान् का अधिष्ठान उसे नहीं मिला, इसलिए अपयश मिला; यदि रण-मैदान का यश भगवान् के अधिष्ठान पर निर्भर होता है, तो अलाउद्दीन को यश प्राप्त हुआ उसका कारण भगवान् का अधिष्ठान उसे मिला था ऐसा मानना ही चाहिए। तो क्या अलाउद्दीन रामदेव की अपेक्षा अधिक यज्ञभक्त था, अग्निपूजक था? वेद-ब्राह्मणों का भक्त था? क्या वह करोड़ों रामनाम का जप और त्रिकाल स्नान करता था? क्या वह अग्निहोत्री था? इसलिए क्या अपना अधिष्ठान भगवान् ने रामदेव के बदले अलाउद्दीन को दे दिया? जो गोभक्षक, यज्ञ-ध्वंसक, ब्रह्महत्यारा, देवशत्रु, भगवद्द्रोही था उसे यश प्राप्त हुआ। यह यदि भगवान् के अधिष्ठान के कारण हुआ तो ऐसे भगवान् को प्रसन्न करने का सही मार्ग यह मूर्तिपूजक हिंदू धर्म और यज्ञ पूजा नहीं है अपितु मूर्तिभंजक, यज्ञध्वंसक इसलाम धर्म ही है ऐसा कहना होगा। ऐसी बड़बड़ नहीं करनी हो तो ऐहिक यशापयश और राष्ट्रीय बलाबल ऐहिक साधनों के ही बलाबल पर और योगायोग पर निर्भर होता है और वे ऐहिक या भौतिक प्रत्यक्ष साधन, वह अप्रत्यक्ष यदृच्छा, योगायोग, अग्निपूजा, अग्नि-निंदा, पुराणों के मंत्र-तंत्र, कुरान की गालियाँ, शाप इसपर निर्भर नहीं होते हैं यह निश्चित रूप से मानना होगा।

जड़ अग्नि की पूजा जिस प्रकार धर्म नहीं, अज्ञान है, वैसे ही जड़ अग्नि की निंदा, यज्ञ का विध्वंस, इन्हें ही देवप्रिय धर्म समझना भी धर्म नहीं, दुष्टता है। अग्निपूजा से जैसे भगवान् प्रसन्न नहीं होता वैसे अग्नि-निंदा से भी प्रसन्न नहीं होता। अग्नि-निंदक, यज्ञ-ध्वंसी और कुराणानुयायी मुसलमान को भी पहले बाजीराव की तलवार रूपी हँसिया कुरान के समान फटाफट काटती गई, इसलिए नहीं कि वह अग्निहोत्रादि की पूजा करता था अपितु वह तलवार की धार चलाता था। अब अंतिम बाजीराव को देखिए, पहले बाजीराव की अपेक्षा पंचमहायज्ञ के कितने ही

अभिमानी वे थे, परंतु तलवार चलाने में ढीले थे। परिणामस्वरूप उन्होंने अपना राज्य ही गँवा दिया।

आज तो कुछ कहना ही नहीं। अग्नि के कट्टर उपासक पारसी लोक और दो-तीन यज्ञ और सैकड़ों अग्निहोत्रपूजक हम भारतीय, दोनों ही दुनिया की दृष्टि से, युगानुयुग में सिगरेट के बिना दूसरी समिधा जिन्होंने कभी जलाई नहीं, वैसे ही स्वार्थ के कुंड की जठराग्नि के बिना अन्य किसी भी आवाहनीय अग्नि में आहुति कभी दी ही नहीं उनकी समस्त प्रजा दुनिया में अब राज्य पदाधिष्ठित है।

तब अग्निपूजा से यश मिलता है, यज्ञ से संतति, संपत्ति, राज्य, साम्राज्य आदि ऐहिक लाभ होते हैं यह बात इतिहास के अन्वयी और व्यतिरेकी प्रमाण से साफ झूठी सिद्ध हो रही है। विज्ञान से स्पष्ट हो रहा है कि अग्नि कोई देवता नहीं बल्कि एक जड़ सृष्ट पदार्थ है। ऐसा लगता है, प्राचीन काल में अग्निपूजा से हो रहे लाभ, आज बिलकुल नहीं हो रहे हैं। होंगे भी नहीं। वैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टि से वे यज्ञ के अज्ञानी प्रपंच अब निरर्थक सिद्ध हो रहे हैं। अनावश्यक हैं। इतना ही नहीं अपितु यह अज्ञान की पूजा सिद्ध हो रही है। यह हो गया ऐहिक व्यावहारिक दृष्टि का वर्णन, परंतु पारलौकिक दृष्टि से, श्रद्धा की दृष्टि से, यज्ञ से कुछ भी लाभ नहीं होते क्या? उसका वर्णन और इस विषय का समापन अब करेंगे।

ऐतिहासिक दृष्टि से यज्ञ की कुलकथा बताकर हमने ऐसा दरशाया है कि जिन कारणों के लिए और लाभों के लिए अत्यंत प्राचीन काल में मनुष्य के अनेक राष्ट्रों में यज्ञ, अग्निहोत्र आदि अग्नि के प्रकार अति लोकप्रिय हो रहे थे, उन कारणों से और लाभों में से एक भी आज की परिस्थिति में उचित या उपयोगी नहीं है। इसलिए रोम, ग्रीस, बौद्ध आदि राष्ट्रों में और पंथों में अग्निपूजा केवल नाम के लिए रह गई है और उससे उन्हें अभाव का भास नहीं होता। हम भारतीय वैदिक हिंदुओं को भी यह अभाव भासित होने का कोई कारण नहीं। उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. अग्नि की युक्ति खोजनेवाले व्यक्ति की संशोधक या प्रकल्पक वर्ग में गणना करके उसका सम्मान करके ऋणमुक्त होना चाहिए। उसे देव या देवता समझना व्यर्थ है। उससे भी अधिक आश्चर्यकारक ऐसे वाष्प, विद्युत, रेडियम आदि शक्ति की और युक्ति की खोज प्रतिदिन हो रही है, परंतु उन शोधकर्ताओं को अतिमानुष वर्ग में गिनने का भोलापन या उस युक्ति को दैवी कृपा का चमत्कार समझने का पागलपन हम नहीं कर रहे हैं। अग्नि और उसे स्वेच्छानुसार प्रकट करने की युक्ति का संशोधक—इनके संबंध में अपनी दृष्टि वैज्ञानिक कसौटी की ही होनी चाहिए।

२. मानवी व्यवहार में अग्नि से जो आश्चर्यकारक उपयोग पूर्व में हो गए, उससे भी अधिक प्रमाण में और सुविधाजनक उपयोग बाष्प, विद्युत्, रेडियम आदि शक्ति की व्यावहारिकता से आज मनुष्य को गति, प्रकाश, ऊर्जा आदि लाभ हो रहे हैं। इस अनुभव के कारण अति प्राचीन समय में अग्नि में जो अपूर्णता या अद्वितीयता भासित हुई अब वैसी लगने का कारण नहीं। अग्नि का महत्त्व भी अब उस काल की अपेक्षा प्रत्यक्ष व्यवहार में बहुत कम हो गया है। बाष्प, विद्युत्, रेडियम आदि अनेक शक्तियाँ जिस प्रकार देवता नहीं हैं और निश्चित नियमों से कार्य करनेवाले जड़, हृदयशून्य, भावनाहीन सृष्ट पदार्थ हैं यह विज्ञान ने पक्का तय किया है, वैसे ही अग्नि भी एक पदार्थ है यह भी अनुभव-सिद्ध हो गया है। उसको ताजा घी की धारा या ओदन-मोहन भोग के ढेर अर्पण किए क्या अथवा शुष्क कोयले खिलाए क्या? वह अग्नि जलती है उतनी ही और वैसी ही जलती है। जिसे जलाना हो उसी को जलाती है। वह संस्कृत भाषा जानती ही नहीं, अत: वेद या अवेस्ता जो आत्मीयता से गौरवपूर्ण स्तुति करते हैं उसपर वह मोहित नहीं होती। यजमान के हितार्थ अग्नि में समंत्रक बकरा डालने से जैसा जलता वैसा ही बकरे के हितार्थ यजमान को यदि उसमें डाला जाए तो वह यज्ञाग्नि उस यजमान को भी राख करने से नहीं चूकेगी। उसे अरबी या हिब्रू भी नहीं आती, इसलिए कुरान के या तौलिदीय अग्नि-निंदा की गालियाँ देनेवाले मंत्र कहने पर भी वह अग्नि नहीं छोड़ेगी अनेक मुल्लाओं की और पारसियों की दाढ़ियाँ उसने जलाई हैं। खलीफाओं की राजधानियों की उसने घास के ढेर के समान होली जलाई है। सारांश, अग्निपूजक वेद-अवेस्ता के यज्ञप्रस्थों की स्तुति या अग्नि- निंदक कुरान, बाइबिल, तौलिद आदि में वर्णित यज्ञों की निंदा ये धार्मिक पागलपन, व्यावहारिक दृष्टि से आज पूर्ण गलत, भोलेपन पर आधारित धर्मोन्माद सिद्ध हुए हैं। उनके पालन करने से अग्नि के व्यावहारिक परिणाम किंचित् भी बदले हुए नहीं मिलते। अग्नि के जो निर्धारित वैज्ञानिक सृष्टि नियम हैं, उसके अनुसार उसका मनुष्य-हित में जो उपयोग किया जा सकता है, वह कर लेना ही इस वैज्ञानिक युग में सही और प्रत्यक्ष फलदायी अग्निविद्या है। उसके उपयोग के लिए उस जड़, मानवी भावनारहित, विज्ञप्तिहीन सृष्ट पदार्थों की कृतज्ञता या उपकार मानने का भी कोई कारण नहीं। रेलगाड़ी के इंजन के

आभार मानने का वैसा कारण नहीं, कारखाने के बंबे की पूजा जैसे पागलपन है वैसे ही यज्ञकुंड की या अग्यारी की।

३. जैसे मानवी स्तुति-निंदा से अग्नि के कार्य में कोई अंतर नहीं होता उसी प्रकार यज्ञ संस्था से भी आज के युग में, पूर्व का एक भी राष्ट्रीय लाभ नहीं होता। पूर्व में अग्नि जलाना कठिन काम था इसलिए काष्ठ घर्षण से बड़ी मेहनत से जलाई गई 'अग्नि' को सतत कायम रखना उपयोगी होता था। इसी क्रिया का धार्मिकीकरण यानी अग्निहोत्र! परंतु आजकल माचिस, विद्युत् का बटन आदि साधनों से अग्नि तुरंत प्रज्वलित की जा सकती है, इसलिए अग्नि को जलता हुआ रखने का कोई कारण नहीं। अब अग्निहोत्र का माचिसीकरण ही उचित है। वैसे ही वह सतत प्रज्वलित अग्यारी, वे यज्ञाग्नि से महीनों से जलनेवाले यज्ञकुंड, वह होली ये सब अग्निपूजा के प्रकार हिम या शीत प्रदेशों में सुखदायी थे। परंतु आज के भारतीय उष्ण मौसम में असह्य गरमी पैदा करनेवाली ये प्रथाएँ अति तापदायक होती हैं। हिम प्रदेश में भी ठंड के लिए आवश्यक विद्युत् आदि साधन और युक्तियाँ होली से भी अधिक सुविधाजनक निकली हैं। इससे अधिक भी सुविधाएँ हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में काष्ठ का घर्षण करके आग भड़काने की और उसमें घी की नदियाँ, नाना प्रकार के मंत्र-तंत्र कहते हुए पसीना बहाने में क्या अर्थ है?

४. 'वेदों में है, अतः हम यज्ञ करेंगे' फिर उसका उपयोग हो या न हो— ऐसा कहनेवालों की 'वचनाप्रवृत्ति' का अर्थ जितना सरल और सुसंगत लगता है, उतना भी यह यज्ञादि धार्मिक पंथों का समर्थन आज भी उपयुक्त है, इसलिए आज भी व्यवहार्य है इस प्रकार का आधे-अधूरे सुधारकों का कथन सुसंगत नहीं दिखता। यज्ञ क्यों करना चाहिए? तो कहते हैं कि उसमें चंदनादि पदार्थ जलाने से वायु सुगंधित होती है और घी जलाने से वातावरण स्निग्ध होता है। यह कार्य तो घर-घर में एक धूम्रपात्र और घी का पात्र रखकर भी किया जा सकता है। मसजिद में, चर्च में, बौद्ध विहार में वातावरण क्या सुगंधित नहीं होता? यूरोपादि विकसित देशों में क्या याज्ञीय आर्यावर्त से सौ गुना अधिक आरोग्य बल, तेज, ओज, आज नहीं है? यह वायु स्निग्ध करने का कार्य धूप और घी जलाने का समर्थन करता है; परंतु यज्ञों के मंत्र-तंत्र जटिल अगड़धत्ता का समर्थन नहीं करता।

५. भले-भले आचार्य ही नहीं अपितु आजकल के कुछ व्याख्याता भी यज्ञ का समर्थन करते हुए कहते हैं कि 'यज्ञात् भवति पर्जन्यः।' बड़े-बड़े यज्ञों से उत्पन्न होनेवाले ताप के कारण वातावरण में मेघ इकट्ठा होते हैं ऐसी युक्ति और कभी-कभी काकतालीय न्याय से आया हुआ अनुभव, इसके कारण प्राचीन काल में मनुष्य को ऐसा लगना स्वाभाविक था कि यज्ञ से पर्जन्य होता है यह भौतिक दृष्टि से भी एक सृष्टि नियम है। परंतु वास्तविक रूप से भगवद्गीता जैसे विचार परिप्लुत ग्रंथ में उल्लिखित मान्यता का मूल कारण धार्मिक निष्ठा है। इंद्र 'पर्जन्य' का, 'जलका' विमोचक, उससे ही वर्षा होती है और यज्ञ से वह सोमप्रिय इंद्र प्रसन्न होता है। ये दोनों निष्ठाएँ वेदों के मंत्रों से व्यक्त होती थीं और इन धार्मिक निष्ठाओं में ही 'यज्ञात् भवति पर्जन्यः' इस नियम का मूल है। यह मूल की एक निर्मल, प्रत्यक्ष सबूत की अपेक्षा न रखनेवाली, पोथीजात मान्यता है।

पूर्व में वैदिक पोथी पर अंधविश्वास न रखनेवाले बुद्ध आदि अवैदिक लोगों के और अभी के भौतिक विज्ञानवादी लोगों को समझाने के लिए और वह धार्मिक मान्यता सृष्टि विज्ञान की प्रत्यक्ष कसौटी पर भी सही उतरती है यह सिद्ध करने के मोह से उसपर यह वैज्ञानिक रंग भी चढ़ाया गया कि 'इंद्र यज्ञ से प्रसन्न होकर वर्षा करता है यह हमारी केवल शब्दनिष्ठ कल्पना नहीं अपितु वह अनुभवजन्य एक वैज्ञानिक नियम भी है।' हमारा 'धर्म' विज्ञान की दृष्टि से भी सत्य है। यज्ञ से वातावरण में उष्णता बढ़ती है, उसके कारण मेघीभवन होकर वर्षा होती है यह सृष्टि विज्ञान का तत्त्व हमारे महर्षियों को ज्ञात था। ऐसा समर्थन भी होने लगा और आज भी बेधड़क बड़े-बड़े विद्वानों के मुख से जो वाक्य पहले निकलता था वह आदतन आज भी निकलता है।

परंतु यह मान्यता केवल पोथी में ही है और मनुष्य के अनुभव ने उसे साफ झूठ सिद्ध किया है। प्रत्यक्ष भारत देश में यज्ञ भगवान् और दुर्गा देवी के अकाल हाथ में हाथ डालकर युग-युग से साथ निवास कर रहे हैं। यज्ञ संस्था के समर्थक समुद्रगुप्त आदि सम्राट् भी राज्य के दुर्भिक्ष निवारण हेतु बड़ी-बड़ी नहरें बनवाते थे, केवल बड़े-बड़े यज्ञ जगह-जगह कर शांति से बैठते नहीं थे। यदि यज्ञ से वर्षा सृष्टि नियम की निश्चितता से होती तो दुनिया से यज्ञ संस्था लुप्त होने का जो भय शास्त्री लोगों को लगता है वह न लगता। आज दुनिया से अकाल ही

लुप्त हुआ होता। जिन देशों में युगों-युगों में कभी अग्निपूजा नहीं हुई, इतना ही नहीं अपितु 'अग्निपूजा करेगा वह नरक में जाएगा' ऐसा कहनेवाले 'धर्म' आज भी प्रचलित हैं, दक्षिण अमेरिका से दक्षिण अफ्रीका तक पृथ्वी पर अकाल का प्रमाण लगातार घट रहा है। वैज्ञानिक साधनों के प्रभाव से। और द्वादश वार्षिक यज्ञ सत्र से तो दो वर्ष पूर्व हुए कुरुंदवाड के यज्ञ तक, जिस भारत में यज्ञकुंड हमेशा जलते रहते हैं, उस भारत में अकाल की खाई भी जल रही है। आज यूरोप में या अमेरिका में, उन यज्ञध्वंसी राष्ट्रों में अकाल के नाम का अकाल पड़ रहा है, तब केवल अकाल का ही प्रमाण नहीं अपितु अकाल की लाखों की मृत्यु संख्या का प्रमाण किसी भू-भाग में अधिक होगा तो वह केवल यज्ञीय भारत में ही। बड़ी-बड़ी नदियों से नहरें निकालकर दुर्भिक्ष को भगाया जा सकता है। उपजाऊ प्रदेश से अनाज लाकर दुर्भिक्ष के प्रदेश के मानवों के प्राण जैसे निश्चित रूप से बचाए जा सकते हैं वैसे, जब तक प्रत्यक्ष रूप से, नियमितता से और निश्चितता से यज्ञ करते ही, कम-से-कम वह यज्ञकुंड बुझाने के लिए पानी आकाश से गिरता नहीं, तब तक इस पोथीजात और काल्पनिक 'यज्ञात् भवति पर्जन्यः' को 'प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा, निशिपापं विनश्यति। आजन्मकृत मध्यान्हे सायान्हे सप्तजन्मनि' इस स्मृति आदेश की अपेक्षा या 'पानी में देखने पर दाँत गिरते हैं' इस प्रकार बालक को पढ़ाए जानेवाले दादी माँ के उपदेश की अपेक्षा सृष्टिज्ञान की दृष्टि से एक दमड़ी से अधिक मूल्य नहीं दिया जा सकता। यज्ञ से वर्षा होकर अकाल हटता हो या नहीं, पर पास का अनाज और घी अग्नि में जला देने से अकाल उस प्रमाण में अधिक बढ़ता जाता है यह मनुष्य ने अवश्य देखा।

जहाँ सतत यज्ञ होते हैं ऐसे राष्ट्र में बारह वर्षों का अकाल होता है—पानी का भी अभाव होता है और जहाँ बिलकुल यज्ञ नहीं होते वहाँ बारह माह में यथावत् वर्षा होती है। इस अन्वयव्यतिरेकी उभयविध अनुभव से 'यज्ञात् भवति पर्जन्यः' वचन साफ झूठा होता है। उसमें भी यज्ञ से वातावरण तप्त होकर मेघीभवन होता है ऐसा समर्थन क्षणैक कुछ अंशों में गृहीत मान लिया तो भी पर्जन्य का कारण उत्ताप सिद्ध होगा, पर्जन्य का कारण यज्ञ है यह सिद्ध नहीं होगा। उत्ताप यज्ञ से ही कुछ नहीं होता। बड़े-बड़े युद्धों में तोप आदि

अग्न्यास्त्र के धूम-धड़ाके से वातावरण उत्तप्त, निक्षुब्ध होकर भी वर्षा होती है ऐसा दिखाई देता है। इसलिए जिन मानवों को जीवित रखने हेतु वर्षा चाहिए उन्हीं लाखों मानवों को युद्ध में नष्ट कर क्या वर्षा करानी है? उत्ताप जिस प्रकार सैकड़ों यज्ञ जलाकर होता है उसी प्रकार प्लेग के समय में चिताओं को भडाग्नि देते हैं तब भी होता है। तो क्या चिताग्नि से वर्षा होती है। ऐसा सिद्धांत करना चाहिए? उत्ताप से वर्षा यदि होती है तो वह समर्थन अन्य किसी भी उत्ताप-उत्पादक साधन का होगा। इतनी ही ईंटें लगाइए, यहाँ से उठो, यहाँ झुको, यहाँ यह मंत्र, वहाँ वह मंत्र, यहाँ बकरा बाँध दो, बकरे को काटो, उसे खा लो इस प्रकार के जटिल यज्ञ का समर्थन नहीं हो सकता।

दूरध्वनि द्वारा किसी भी व्यक्ति की आवाज चाहे जितनी दूरी पर बिना बाधा के भेजी सकती है उस प्रकार की निश्चितता से 'हो जा वर्षा' करते ही वर्षा होनी ही चाहिए ऐसी वैज्ञानिक युक्ति रूस आदि देशों में प्रयोग से संपन्न हो रही है। उसे हम पर्जन्य का वैज्ञानिक सूत्र कह सकते हैं। अर्थात् पूर्व के सही लगनेवाले पोथीजात सूत्र को अनुभव के बाद झूठा घोषित कर। पूर्व के लोगों की वैसी मान्यता होना उस समय के ज्ञान की दृष्टि से स्वाभाविक था। उन्होंने इस उत्पत्ति को और प्रयोग को करके देखा। इसलिए आज हम उसे निश्चित रूप से गलत है ऐसा कह सकते हैं और सही कारण की ओर मुड़ सकते हैं।

इस संबंध में उस प्राचीन प्रयोग के प्रति कृतज्ञता व्यक्त कर 'यज्ञात् भवति पर्जन्यो' इस सूत्र के स्थान पर अब हमें 'विज्ञानदेव पर्जन्यो' यह सूत्र स्थापित करना चाहिए।

६. उपर्युक्त कारणों से प्राचीन समय में यज्ञ से होनेवाले या होने का आभास होनेवाले प्रत्यक्ष लाभ अप्राप्त हैं यह बात जिनकी समझ में आई है, ऐसे आधुनिक गृहस्थों में भी कुछ को यज्ञ बीच-बीच में होते रहने चाहिए ऐसा लगता है। क्योंकि यज्ञ संस्था अपनी प्राचीन संस्कृति का केंद्र और स्मृति-चिह्न है इसलिए उसे सुरक्षित रखना उन्हें उचित लगता है। उनके इस सदिच्छापूर्ण युक्तिवाद में मुख्य हेत्वाभास यह है कि प्राचीन संस्कृति की सभी बातें आज संस्कृत नहीं समझ सकतीं। प्राचीन संस्कृति की यज्ञ संस्था को भी देखे तो उसमें नृयज्ञ एक प्रकार होता है। फिर उसकी पहचान भूल न जाए इसलिए आज भी बीच-

बीच में नरमेध भी करते रहना है क्या? पूर्व में शास्त्र में लिखा है कि ब्राह्मणों को वराह का मांस खिलाते थे। कितने प्रकार के मांस, मछली, पक्षी श्राद्ध के लिए उपयुक्त थे इसकी सूची 'मनुस्मृति' में देकर 'नियुक्तस्तु यथाशास्त्रं यो मांस नात्ति मानवः। सप्रेत्य पशुतां याति संभवानेक विंशतिम्।' श्राद्ध में मांस न खानेवाला ब्राह्मण पतित होता है, उसे इक्कीस जन्म तक पशु-योनि मिलती है, ऐसा भयंकर शाप भी दिया है। फिर आज उस प्राचीन 'संस्कृति रक्षणार्थ' वैसे श्राद्ध में क्या सूअर का मांस, मछलियाँ ब्राह्मणों को खाना चाहिए? प्राचीन समय में नियोग था। द्यूत खेलकर पूरा राज्य भी शर्त में लगा देते थे। राजपत्नी को हारकर दासी बनाना धर्मराज भी क्षत्रियों का धर्म मानते थे। फिर आज भी कुछ नियोग सार्वजनिक रूप से आयोजित करें। कुछ राजा या कुछ धर्माभिमानी सज्जनों द्वारा साल में दो-तीन बार द्यूत खेलकर अंत में स्वभार्या की भी शर्त लगानी चाहिए—क्या सनातन संस्कृत ग्रंथों को लुप्त होने से बचाने के लिए?

संस्कृति रक्षण का सही अर्थ

संस्कृति की सुरक्षा का सही अर्थ यह नहीं कि प्राचीन काल में समय-समय पर जो उलटी-सीधी प्रथाएँ, उस समय के ज्ञानाज्ञान के अनुसार 'संस्कृत' लगती थीं उन सबकी जैसी-की-तैसी पुनरावृत्ति करें, जो रूढ़ियाँ आज व्यर्थ, विक्षिप्त, विघातक सिद्ध होती हैं उन्हें भी चालू रखें। वेदकाल की जो रूढ़ि या आचारात्मक धर्म आज विज्ञान के दिव्यतर प्रकाश में समाज-विघातक, रोग-जंतुओं से लिप्त दिखता है वह रूढ़ि या आचार आज की संस्कृति में नहीं, दुष्कृति में गिनना चाहिए। फिर वह प्राचीन काल में लोगों को भाता था या नहीं, यह 'संस्कृत' लगा हो या नहीं, आज गर्व से जिसकी रक्षा करनी है, वह प्राचीन काल का था, किंतु आज भी 'संस्कृत' है, मनुष्य के हित का है, उसे ही हमें जीवित रखना है।

प्राचीन का जो आज भी उत्तम, उदात्त, अपेक्षणीय, प्रगत और प्रबुद्ध ठहरता है, वह आज का 'संस्कृत' और उसकी सुरक्षा करना ही सही-सही संस्कृति रक्षण है। प्राचीन संस्कृति का संरक्षण आज का कर्तव्य है, प्राचीन दुष्कृति रक्षण नहीं।

उस संस्कृति रक्षण के कर्तव्य से आगे का कर्तव्य है संस्कृति विकसन। प्राचीन में से जो आज के विज्ञान में भी संस्कृत लगता है उसकी केवल रक्षा करके ही नहीं चलेगा अपितु उसमें नए सत्य और तथ्य जोड़कर संस्कृति वर्धन करना चाहिए। वही मुख्य कर्तव्य है। उसमें जो बाधक हो, उस परख पर जो न उतरे,

उसको त्यागना ही संस्कृति रक्षण, संस्कृति विकसन है।

यज्ञ संस्था इस कसौटी पर आज अनुपयुक्त सिद्ध होती है। जिस राष्ट्र में मंडुए का आटा भी खाने को न मिलने के कारण लाखों लोग मर रहे हैं, उस राष्ट्र में प्रत्यक्ष लाभ की दृष्टि से अनुपयोगी यज्ञ संस्था को संस्कृति मान आग की लपटें उठाकर उसमें मनों अन्न के ढेर और मनों घी के हौज समंत्रक, समारोहपूर्वक जलाते बैठना संस्कृति रक्षण नहीं, दिल जलाना है।

फिर भी यज्ञ के कर्मकांड जिस प्रकार होते थे उसका विस्मरण ऐतिहासिक दृष्टि से न हो इसलिए ऐतिहासिक संग्रहालय में इससे संबंधित ब्राह्मण और मीमांसा आदि ग्रंथ सुरक्षित रख देना ही उचित होगा। उससे भी अधिक प्रत्यक्ष यज्ञ की ज्वालाएँ हमेशा जलती रहें और मंत्रघोष पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता रहे इसकी उत्कृष्ट सुविधा आज विज्ञान ने उपलब्ध कर दी है। यज्ञ का एक-एक चलचित्र एक बार बना लिया जाए तो घी का एक बूँद भी न गँवाते हुए जब चाहे तब यज्ञ की प्रक्रिया देख सकते हैं।

यज्ञ का पारलौकिक लाभ

ऐहिक दृष्टि से यज्ञ संस्था से जो-जो लाभ इस लोक में प्राप्त हुए ऐसी कल्पना की गई या जो प्राचीन समय में कुछ अंशों में हो गए, उनकी छानबीन अभी तक हमने की। यज्ञ संस्था की छानबीन करते समय इतने समय तक हमने केवल ऐतिहासिक एवं ऐहिक कसौटी का ही उपयोग किया।

परंतु हमारे जिन हिंदू बांधवों की श्रद्धा यज्ञ के पारलौकिक फलों पर भी होगी, वे उपर्युक्त तर्क सही लगने के बाद भी पूछेंगे कि यज्ञ से आज के वैज्ञानिक युग में, वैदिक काल में अपने राष्ट्र को जो लाभ होते थे या हो रहे थे ऐसा लगता था, फिर भी पारलौकिक लाभ तो होते ही थे, इसके लिए तो यज्ञ संस्था रक्षणीय ही है।

इन हमारे श्रद्धाशील धर्मबंधुओं को उनकी श्रद्धामय कसौटी की दृष्टि से हम प्रथमत: ऐसा निवेदन करना चाहते हैं कि यज्ञ की प्रक्रिया यथावत् पूरी करने पर ही वे पारलौकिक लाभ हमारी झोली में पड़नेवाले होने से और वह प्रक्रिया ठीक क्या है इस संबंध में अति शब्दनिष्ठ सज्जनों में भी तीव्र भेद होने के कारण वे पारलौकिक लाभ प्राप्त कर लेने का यज्ञ अति संदेहास्पद और अनुमान धक्के का मार्ग हो रहा है। यज्ञ से ऐहिक लाभ तो अब निश्चयपूर्वक मिलते नहीं और पारलौकिक लाभ वचन की प्रवृत्ति की कसौटी से भी संपूर्णत: अनिश्चित है, किस प्रकार यह होता है इसका उदाहरण एक पशुहनन-प्रक्रिया के प्रश्न पर ही देखें।

पुष्ट पशु या पिष्ट पशु?

पशु-यज्ञ में पशु मारना पड़ता है इसलिए यज्ञ गर्ह्य (गलत) है ऐसा हम बिलकुल नहीं मानते। यदि पशुहनन से मनुष्यजाति का ऐहिक या पारलौकिक यथाप्रमाण लाभ होता हो तो एक ही नहीं, एक हजार पशु यज्ञ में मारने पड़ें तो भी मारने चाहिए। उसमें भी मनुष्य के पेट के लिए सहस्राधिक पशु नित्य ही कसाईखाने में मारे जाते समय जिन्हें दुःख नहीं होता उन्हें यज्ञ के लिए दस-पाँच बकरे मारे तो उसके लिए नाहक शोरगुल करने का क्या अधिकार है? पीढ़ी-दर-पीढ़ी के मांसभक्षक बकरे का मांस खानेवाले अपने मुख से, कुछ ब्राह्मणों ने कभी बकरा मारकर खाया इसलिए भूतदया की बातें कहें, माने पक्का चोर अस्तेय पर भाषण दे और चोरी करता रहे जैसी निडरता है। सौ-सौ गायों के समूह को जुलूस निकालकर खुलेआम कत्ल करवाने में प्रसन्न होनेवाले देव जिस मनुष्य जाति में अभी पूजे जाते हैं, उससे अहिंसा की बात करनी हो तो एक बकरे के चढ़ाने से संतोष होनेवाले देव का चरणामृत लेना ही चाहिए। पशु को आत्मा नहीं होती ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले ईसाई को या नित्य ही पशु के मांस पर जीनेवाले और अल्लाह के सामने कुरबानी की छुरी से पशुओं के खून की नहर बहानेवाले मुसलमानों को, 'यज्ञ में मारे हुए पशु की आत्मा उत्तम गति प्राप्त करती है।' ऐसा कहनेवाले श्रुतिस्मृति के श्लोकों को स्वयं ही लज्जित होना चाहिए। इतना ही नहीं अपितु, पशुहनन पर लिखित एक-एक श्लोक का खंडन करने के लिए 'मा हिंसात् सर्वभूतानि' ऐसा कहकर गर्जना करनेवाले और प्रत्यक्ष व्यवहार में मनुष्य को यथासंभव अहिंसा का अवलंबन कराने के लिए कारण बने सैकड़ों वचन हिंदुओं के श्रुति-स्मृति शास्त्र में मिलते हैं, उनके कारण भगवान् को देवप्रिय बनानेवाले और भूतदया के ध्येय से यावत्शक्य इस हिंसामय सृष्टि में भी व्यवहार्य बनाने का प्रयत्न करनेवाली हिंदू धर्म की सदिच्छा के आगे जगत् को अपना मस्तक झुकाना ही चाहिए।

इतने प्रयत्नों से भी यदि कुछ-न-कुछ हिंसा का व्यवहार किया जाना अपरिहार्य ही होगा तो वह बौद्ध, जैन, वैष्णव आदि हिंदू राष्ट्र के अनेक पंथों की दयालु सदिच्छा का या प्रयासों की पराकाष्ठा का दोष नहीं, परंतु जिसने सृष्टि मूलत: 'जीवो जीवस्य जीवनम्' इस मुख्य सूत्र के आधार पर रची है, उस आदिशक्ति का या शक्ति का दोष है।

इसलिए भूतदया की व्याप्ति से भी मनुष्य को मनुष्यजाति के बहुत बाहर ले जाना संभव नहीं, इष्ट भी नहीं। 'चलनामचला भक्ष्या दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिण:। सहस्तानामहस्ता शूराणां चैव भीरव:' यह जो सूत्र मनु भगवान् ने बताया है वह त्रिकाल सत्य है। मनुष्य हित को अनुकूल उतनी ही भूतदया और उतनी ही अहिंसा श्रेयस्कर,

इष्ट, उचित, मानव नीति वह इतनी ही।

इस दृष्टि से मनुष्य का ऐहिक और पारलौकिक हित यदि यज्ञ में पशुहनन से यथार्थतः साध्य होता है तो, यथाप्रमाण आवश्यक उतने पशु यज्ञ में बलि देना ही हित प्राप्त, अतएव धर्म्य ठहरता है। पशुहिंसा के कारण ही यज्ञ संस्था अग्राह्य हो गई ऐसा नहीं।

परंतु यज्ञ का पारलौकिक फल मिलता है ऐसा मानने पर भी उसकी प्रक्रिया निस्संदेह ज्ञात होने पर ही फल मिलता है यह शास्त्रसिद्ध है। और कठिनाई भी यहीं है। पशुहनन का प्रश्न ही लें तो वेदों के उन वाक्यों का अर्थ बड़े-बड़े आचार्य अनेक प्रकार से कर रहे हैं। पशुओं का हनन कैसे करें? वपा, नसा, भेजा, मज्जा, रस, रक्त आदि अंगोपांगों के छेदन, अर्पण, दहन, भक्षण आदि प्रक्रिया कुछ वेद भागों में इतनी स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष पशु मारना उन वेदमंत्रों में विहित है, इसमें शंका नहीं रहती है। किंतु अन्य वेद भागों में या बीच-बीच में ऐसे उलट अर्थ के मंत्र और प्रक्रिया आती है कि पशुहनन की वह निंदा ही है, यह भी स्पष्ट दिखता है। फिर प्रश्न मन में उठता है समन्वय का! इसी कारण फिर मतभेद बढ़ते हैं। योग से अतींद्रिय ज्ञान प्राप्त हुआ। उनका साक्षात्कार होने का जिन्हें विश्वास है, वैसे महान् आचार्यों का, स्मृतिकारों का नहीं, प्रत्यक्ष मंत्र-दृष्टया ऋषियों का वह मतभेद! वह किन्हीं सामान्य व्यक्तियों का मतभेद तो नहीं! कुछ लोग कहेंगे कि पशु मारने का कोई कारण नहीं, केवल भगवान् को चढ़ाकर उसे छोड़ देना चाहिए। परंतु अन्य मंत्रों में परिस्फुटता से वर्णित देवों को वह पशु केवल पशुशाला में बाँधकर रखने के लिए नहीं अपितु खाने के लिए चाहिए। उन्हें पशु के मांस के विभिन्न भागांश खाने की लालसा रहने के कारण यज्ञ में केवल पशु दिखाकर उसे छोड़ देंगे तो देवों को कितनी निराशा होगी? और उनके मन में कितना क्रोध उमड़ आएगा। बूँदी-जलेबी का लालच दिखाकर भूखे ब्राह्मणों को या मेहमानों को भोजन हेतु बुलाया जाए और उन्हें और उनके सम्मुख केवल घी का कुप्पा और शक्कर, मसाला, आटे की बोरियाँ दिखाकर, हाथ जोड़कर कहें कि इस सबमें आप कल्पना कीजिए बूँदी-जिलेबी की। और जिस व्यापारी के घर से वह सामग्री लाई थी वह तुरंत उसे लौटा दी जाए। नहीं तो 'उस मेहमान' के निमित्त गाँव के अन्य लोगों में बाँट दी जाए। इस प्रकार का 'आमंत्रण' यानी उन आमंत्रितों को बलपूर्वक कराया गया लंघन ही नहीं अपितु उन आमंत्रितों पर किया गया एक प्रकार का अपमान और अत्याचार होगा। इसी प्रकार से भगवान् को 'पशु का रुधिर मांस दे रहा हूँ, आओ' इन वेदमंत्रों के आधार पर बुलाया जाए, और मांस के मसालेदार व्यंजन खाने की अपेक्षा से जिनके मुँह को पानी आया है ऐसे उन देवों के आते ही, उन्हें केवल पशु दिखाकर छोड़

देना और कहना कि 'आइए, इसी आलभन को भोजन कहते हैं' तो यह केवल उनका परिहास होगा।

पिष्ट पशु का विकल्प तो उससे भी बड़ा परिहास है। पशु छोड़ देना यह परिहास तो पिष्ट पशु केवल वंचना। पशु के पाँव का, कलेजे का, मज्जा का, पीठ का, इस प्रकार विविध रुचियों के मांस की लालसा को संतुष्ट करने का वेद मंत्रपूर्वक गंभीर वचन देकर आमंत्रित देवताओं के सम्मुख यदि आटे के गोले रखकर कहा जाए कि 'इसे ही पशु समझकर खाइए' तो केवल 'पशु' शब्द कहने से उन दोनों पदार्थों की समानता मसालेदार मांस के साथ या नमक-मिर्च के बिना बनाए उस आटे के गोले के पशु के साथ कैसे हो सकती है? कदापि नहीं। क्योंकि देव 'पशु' शब्द को खाने के लिए आए होते हैं। फिर पुष्ट पशु के स्थान पर पिष्ट पशु देने से उनकी वंचना ही होगी। नहीं क्या? दूध की लालसा करनेवाले द्रोणाचार्य के बच्चे को दूध देता हूँ, ऐसा कहकर आटे में पानी मिलाकर दिया, तब छोटा बच्चा होने से वह धोखा खा गया और उसने बड़ी रुचि से उस पेय को ग्रहण किया। परंतु रुचिसंपन्न मांस को सैकड़ों ऋतुओं में चाव से खाए हुए देव कैसे धोखा खा सकते हैं? छोटे बच्चों से अधिक चतुरता देव में होती है यह मानकर चलना उचित नहीं है क्या?

उपर्युक्त आपत्तियाँ टालने के लिए लोग यह कहते हैं कि 'वेदों में पशुहनन बिलकुल बताया ही नहीं गया है। मांस यानी मांष—दाल की एक जाति। ये पशुहनन प्रकरण में केवल रूपक हैं। इस प्रकार का अर्थ करनेवाले आचार्यों का मत यदि प्रमाण समझा जाए तो उनके ही जैसे अन्य महान् आचार्यों का मत अप्रमाण क्यों माना जाए? इसका निर्णय लेने के लिए कोई स्वतंत्र साधन भी नहीं। प्रत्यक्ष सृष्टि के संबंध में दो महापुरुषों का मतभेद होने पर समक्ष सबूतों से उसका निवारण किया जा सकता है।' 'लंदन एक नगर है।', 'लंदन केवल एक तालाब है।' ऐसे भिन्न मत दो अतींद्रिय ज्ञानी समयोग्य आचार्यों ने किए तो तुरंत लंदन पहुँचकर, दस लोगों के समक्ष, प्रत्यक्ष आँखों से देखकर निर्णय लिया जा सकता है कि वह नगर ही है। परंतु मृत्यु के कारण आँखें बंद होने पर जो दिखता है और जो वैसा देखता है या नहीं, यह कहने के लिए वहाँ से लौटकर आने की कोई व्यवस्था नहीं। फिर उस स्वर्गादि प्रकरणों के संबंध में समज्ञानी आचार्यों के मतभेद किस प्रकार मिटेंगे? अन्य प्रकरणों के मतभेद शब्दनिष्ठ श्रद्धा मान ली जाए तो भी, वेदवचन मिटेगा। परंतु वेदवचन क्या कहता है इस प्रकरण का मतभेद मिटाने के लिए श्रद्धा को भी, उसकी शब्दनिष्ठ प्रतिज्ञा के अनुसार बुद्धि के सिवाय अन्य साधन नहीं।

वेदों का स्फुरण करनेवाले ईश्वर ने जब तक यह प्रबंध नहीं किया है कि

वेद के शब्द ही एक और उनका मनुष्य बुद्धि में प्रतीत होनेवाला अर्थ भी एक ही, अन्य अर्थ बुद्धि में विदित होना असंभव, तब तक वेद वचनों के संबंध में होनेवाला इतना संपूर्ण परस्पर विरोधी मतभेद, और सर्वकाल ज्ञानी कहनेवाले साक्षात्कारी अधिकार के आचार्यों में मतभेद, कभी भी मिटनेवाला नहीं। समन्वय भी हमेशा संशयास्पद रहेगा, क्योंकि समन्वय के संबंध में ही शास्त्रकारों में तीव्रतर मतभेद होते आए हैं।

तब सपशुहनन, पशु विसर्जन, पिष्ट पशुहनन, या अपशुहनन इनमें से कौन सी प्रक्रिया सही है यह संशयास्पद होने से यज्ञ कभी भी निःसंशयता से यथाविधि पूरा करना कठिन होगा। अर्थात् उसके यथाविधि समापन पर निर्भर पारलौकिक फल भी हमेशा संशयास्पद होगा। इतना ही नहीं अपितु इन चारों में से किन्हीं तीन वेदों के विरुद्ध गलतियाँ होनेवाली रहने के कारण वेदविधि एक अक्षर से भी अयथावत् होने पर 'इंद्रशत्रु' न्याय के घोर परिणाम केवल गरीब यजमान आदि यज्ञकर्ताओं को भुगतने पड़ने की आशंका तीन गुना अधिक। स्वर्गादि फल प्राप्ति की अकेली संभावना भी उनके लिए संशयास्पद होती है।

पुनः यह साग्निस्थूल यज्ञ को हीन बतानेवाले और यज्ञ की इससे भिन्न निरग्नि सात्त्विकतर नाना रूप और प्रकार बतानेवाले वेदवचन बहुत मिलते हैं। वे क्या कारण के बिना होते हैं? वे भी वेदवचन हैं। जपयज्ञ है, तपयज्ञ है, ज्ञानयज्ञ है, द्रव्ययज्ञ है, इतना ही नहीं अपितु कामयज्ञ भी है। कामाग्नि ही अग्नि, योनि यज्ञकुंड ऐसा वर्णन करते-करते शृंगार गीत में भी नहीं बता सकते ऐसी बातें इतनी स्पष्टता से काम-संभोग की प्रक्रिया पर यज्ञ-प्रक्रिया के रूपक का वर्णन करते कामयज्ञ के प्रशंसक मंत्र हैं। भोजन ही यज्ञ, जीवन ही यज्ञ, जठराग्नि, कामाग्नि, संयमाग्नि आदि नाना प्रकार की अग्नि का वर्णन किया गया है। किसको चुनेंगे उनमें से? और चयन यदि वेदविहित है तो उसे किस कसौटी पर कसा जाए?

सभी धर्मों की 'धारणात् धर्मम् इति आहुः धर्मो धारयती प्रजाः। तस्मात् धारण संयुक्तं तं धर्म वेद तत्त्वतः' इस कसौटी से परीक्षा करनी चाहिए। यही शास्त्र कथन होने के कारण इन नाना प्रकार के यज्ञों में चयन करने की भी वही कसौटी शब्दनिष्ठ श्रद्धा की दृष्टि से भी कम-से-कम अधिक निरपवाद माननी चाहिए।

इस कसौटी के आधार पर जिस अग्निपूजा से प्रत्यक्ष कुछ भी ऐहिक हित इस वैज्ञानिक युग में साध्य नहीं, इसके विपरीत समाज की भोली प्रवृत्ति की रक्षा करते रहने से बुद्धिहत्या करने का दोष लगता है और द्रव्य का, काल का और कष्टों का अपव्यय होकर प्राचीन अज्ञानता को चिरंतन करने की हानि होती है; पारलौकिक दृष्टि से जिनके फल प्राप्त करना सांग प्रक्रिया के लिए, वेदमंत्र का निश्चितार्थ तय

करना, मानवी बुद्धि को संभव न होने के कारण सर्वदा और सर्वथा संदेहास्पद होता है, वह यज्ञाग्नि पूजा अब 'कलिवर्ज्य' में धकेलकर वह सारा यज्ञसाहित्य उस अग्निसह यज्ञ संस्था ने प्राचीन समय में अपने राष्ट्र पर किए हुए उपकार मानते हुए ममतापूर्ण कृतज्ञता से बार-बार संस्मरण कर, भगवान् बुद्ध के समान गंगा में विसर्जित करना—यह सब राष्ट्रहित की दृष्टि से श्रेयस्कर है।

उसमें भी स्वर्ग, संतति, संपत्ति आदि ऐहिक, पारलौकिक काम्य फल जो साग्नि यज्ञ से प्राप्त होते हैं वही यज्ञ से क्वचित् इष्टतर फल, जपतनृसेवाज्ञान आदि स्वरूप के निरग्नियज्ञ और अन्य साधन इनसे भी मिलता है ऐसा वचन निःसंदेहता से श्रुतिस्मृति शास्त्र दे ही रहे हैं। स्वर्गादि पारलौकिक फलप्राप्ति का साग्नि यज्ञ ही एक साधन न होकर भक्ति, त्याग, सेवा, दया, ज्ञान जनहित आदि अनेक साधन वेदों में और शास्त्रों में भरपूर दिए हुए हैं। यज्ञ के कारण जो स्वर्ग में पहुँचे ऐसी जिनकी कीर्ति है, उनसे सौ गुना अधिक संख्या में साधक एवं सिद्धों ने इन यज्ञ के अतिरिक्त साधनों से भी क्षमाशील स्वर्ग पद प्राप्त किया है। इतना ही नहीं अपितु अक्षय मोक्षपद भी पाया है, यह नामावली सहित उसी वेदशास्त्र पुराणों और अर्वाचीन संतकथाओं में हमें प्रशंसित दिखाई देता है।

यज्ञदानतपोभक्ति आदि नाना साधनों ने श्रद्धा के शास्त्र के समान, जो कुछ पारलौकिक लाभ मिलते हैं, वे इन साधनों से वह 'यज्ञतपसाम' भोक्ता और इन फलाफलों का नियंता जो भगवान् नारायण, वही संतुष्ट होकर, देता नहीं है क्या? और यज्ञ, ज्ञान-तप को भी जिसके योग से धर्म्यता प्राप्त होती है उस लोकधारण व्रत की अपेक्षा, नारायण की यानी अत्यंत उत्कृष्ट व्यक्ति जो नर, उस मनुष्य जाति के उद्धार के हित में खपाने के अलावा नारायण भगवान् को संतुष्ट करने का दूसरा कौन सा यज्ञ, कौन सा व्रत, कौन सा तप हो सकता है? यज्ञ से होनेवाले जो कोई पारलौकिक लाभ हैं, वे श्रद्धा के और शास्त्र की दृष्टि से, जिस कारण परोपकारी जनसेवा से निःसंशय होनेवाले होते हैं और जिस कारण यज्ञ से वे लाभ अब बिलकुल नहीं होते, वे ऐहिक लाभ तो मनुष्य को इस परोपकारी जनसेवाव्रत के द्वारा ठोक-बजाकर यहीं पर मिल सकते हैं, उस कारण नरों की सेवा ही नारायण की सेवा समझकर उस सेवायज्ञ को छोड़कर अन्य साग्नि यज्ञों का हमेशा के लिए विसर्जन करना ही सही धर्म है, सही कर्तव्य है।

आज की हिंदू राष्ट्र की स्थिति में एक-एक अनाथालय एक-एक अश्वमेध यज्ञ के समान पुण्यप्रद है। यज्ञ करनेवाला, सहस्राधिक सत्यनारायण की पूजा करनेवाला और उसके लिए लाखों रुपए व्यय करनेवाला जो वर्ग आज भारत में या महाराष्ट्र में है वह भी धर्मात्मा और हिंदू राष्ट्र का अभिमानी वर्ग है। लेख के अंत

में उनसे हमारी विनती है कि आज हिंदू राष्ट्र के अस्तित्व पर जो धार्मिक भ्रष्टता का आक्रमण हो रहा है वह धर्म दृष्टि से अत्यंत भयंकर विघातक होने के कारण उन्हें उसका निवारण करने का व्रत लेना चाहिए। शुद्धीकरण का कार्य जो-जो हिंदू सभाएँ कर रही हैं उन सबका यही अनुभव है कि आज भारत में या महाराष्ट्र में भी आर्थिक सुदृढ़ता के आधार पर खड़ा ऐसा कोई हिंदू अनाथालय नहीं है। अतः यदि म्लेच्छों के कब्जे से मुक्त करने का अवसर मिलने पर भी हजारों हिंदू शिशुओं को आश्रय देना असंभव होगा तथा ये शिशु मुसलमानों के कब्जे में जाने से, अहिंदू धर्म के हो जाने से हिंदू राष्ट्र के शत्रुओं की संख्या और बल इन भगाए गए शिशुओं द्वारा बढ़ाया जा रहा है। हमें यह सब आँखें मूँदकर देखना पड़ रहा है। अन्य सब कर्तव्य छोड़ो, धर्म्य विषय से जिसका अत्यंत निकट का संबंध है वह एक कर्तव्य भी, उन सज्जनों ने जिस तत्परता से हजारों की संख्या में सत्यनारायण कथा यहाँ कराई, उसी तत्परता से पूरा करना चाहिए।

हम इस विषय को देखते हुए ऐसी विनती करते हैं कि इनमें से प्रत्येक को एक-एक हिंदू अनाथालय, विशेषतः अहिंदुओं के हाथों से हिंदू सभा द्वारा मुक्त किए हुए शिशुओं के पालन-पोषण, शिक्षा इस प्रकार हिंदू राष्ट्र के सैनिक बनानेवाला उद्धारालय तत्काल संकल्प करके स्थापित करना चाहिए। यज्ञ में या सत्यनारायण कथा में जो अन्न पर व्यय केवल दस-पाँच दिनों में हो जाता है, गत दो वर्षों में जो लाखों रुपयों का व्यय इंदौर, कुरूंदवाड, केड़गाव, मोर्शी आदि स्थानों पर व्यय हुआ उसी धन में प्रत्येक स्थान पर एक-एक अनाथालय स्थापित किया जा सकता था, तो उन्हें सौ साल टिकनेवाली एक पंजीकृत संस्था निकालने का पुण्य प्राप्त होता। इस प्रकार हिंदू धर्म और हिंदू राष्ट्र के अस्तित्व को आज अत्यंत आवश्यक हिंदू अनाथालय पारलौकिक दृष्टि से भी, एक यज्ञ से या एक हजार सत्यनारायण पूजा से भगवान् को संतुष्ट किया जा सकता है; उससे भी अधिक नर-मानवों के उद्धार का धर्मकार्य अधिक संतोष देगा यह हमारी श्रद्धा भी नकार नहीं सकती। हिंदू राष्ट्र के अभिमान को जगानेवाले और पालनेवाले सभी ऐहिक लाभ तो यज्ञादि की अपेक्षा इस धर्मकृत्य से इसी जगत् में तत्काल प्राप्त किए जा सकते हैं।

मसूरकर महाराज ने गोवा में दस हजार ओघव, जो अहिंदुओं के सांस्कृतिक बंदी में आज तीन शतकों से थे, उन्हें मुक्त किया और हिंदू समाज में वापस लाया। उन्हें हिंदू धर्माभिमानी बनाया। इस प्रकार आज की स्थिति में हिंदू राष्ट्र धर्म का एक सही कार्य पूरा करना एक यज्ञ नहीं है क्या? सत्यनारायण की पूजा दस हजार घरों में फिर शुरू हुई। हिंदू राष्ट्र का जो कोई भी अभिमानी देव होगा वह इस प्रकार के कार्य से अधिक संतुष्ट होगा और यज्ञ करके जो पारलौकिक प्राप्ति होगी वह तो

अवश्य प्राप्त होगी। जितने धन में ये दस हजार लोग अहिंदुओं की बंदी से मुक्त कराए, म्लेच्छों की तीन शतकों की कार्रवाई विफल कर दी, उनसे बदला लिया, उतने ही धन को अब कुरूंदवाड में एक बकरा मारने के काम में लगाया जाए, यह क्या देशकालपात्र विवेक हो गया? या हिंदू धर्म-रक्षण? इसका विचार शांत चित्त से हमारे हिंदू बांधवों को करना चाहिए।

जिस परिस्थिति में हिंदू राष्ट्र की धारणा और उद्धार हेतु जो कृत्य प्रत्यक्ष रूप से लाभदायक और आवश्यक होगा उसको प्राप्त करना ही उस स्थिति में यज्ञ, हिंदू धर्म है! मनुष्य जाति को जो हितप्रद—वह मनुष्य धर्म है!

□

गोपालन हो, गोपूजन नहीं!

गाय, यह पशु हिंदुस्थान जैसे कृषि-प्रधान देश को अत्यंत उपयुक्त होने के कारण वैदिक काल से ही हम हिंदू लोगों को प्रिय लगता है, यह स्वाभाविक है। गाय के समान वत्सल, पालतू, गरीब, सुंदर, दुधारू पशु किसको प्रिय नहीं लगेगा? माँ के दूध के बाद गाय का ही दूध हमारे देश के बच्चों को पचता है, प्रिय लगता है। मृगया युग को समाप्त करके जितना सुधार होते ही प्राचीन काल से ही जो गाय मनुष्य की सखी बन गई और कृषि के उपरांत जिसके दूध, दही, मक्खन, घी पर मनुष्य का पिंड आज भी पाला-पोसा जा रहा है, उस अति-उपयुक्त पशु के प्रति हम मनुष्यों को अपने परिवारजन के समान ममता रखना बिलकुल मनुष्यता की बात है। ऐसी गाय की रक्षा करना, पालन करना अपना वैयक्तिक और पारिवारिक ही नहीं, अपने हिंदुस्थान के लिए तो एक राष्ट्रीय कर्तव्य है।

इतना ही नहीं अपितु जो प्राणी हमारे लिए इतना उपयुक्त है उसके संबंध में मन में एक प्रकार की कृतज्ञता की भावना उत्पन्न होना, विशेषत: अपने हिंदुओं के भूतदयाशील स्वभाव के लिए, शोभादायक है।

गाय एक उपयोगी पशु है इसलिए हमें प्रिय लगती है यह बात निर्विवाद है, किंतु जो गोभक्त उसे कृतज्ञता से देवी मानकर पूजते हैं उन्हें भी वह पूजा योग्य है क्या? ऐसा पूछते ही वे उस पूजा के समर्थन में, गाय देवता है, यह कारण बताने के पूर्व वह गाय हमें कितनी उपयुक्त है यही बताने लगते हैं। उसके दूध से लेकर गोबर तक सभी पदार्थों का मनुष्य को कितने विभिन्न प्रकार से ऐहिक उपयोग होता है, यही बताने लगते हैं। अर्थात् वे उस गाय को देवता मानते हैं, उसका कारण वह गाय मनुष्य को इहलोक में भी उपयुक्त है और इसलिए वह देवी है। मनुष्य को यदि वह गाय सिंह के समान खाने लगती, दूध देकर पोषण करने के स्थान पर साँप के समान विष से मार डालती, तो गाय को हमने देवी नहीं माना होता। पूजा भी करते तो कृतज्ञता से नहीं अपितु जैसे मरी माँ को पूजते हैं वैसे कष्ट के डर से, इस सत्य

को ये गोपूजक गोभक्त भी जाने-अनजाने, परंतु अपरिहार्यता से मान लेते हैं।

तब गाय, यह पशु मनुष्य को इस दुनिया में उपयुक्त है, अतः पालने योग्य है ऐसा कहनेवाले और गाय मनुष्य को इहलोक में भी इतनी उपयुक्त है, कि वह एक पूजनीय देवी है ऐसा कहनेवाले दोनों पक्षों के लोगों को गाय से इस जगत् में बहुत लाभ होते हैं, इसलिए उसका पालन करना चाहिए यह विधान निर्विवाद मान्यता प्राप्त है।

फिर उभयपक्ष निर्विवाद रूप से मान्य हुए मुद्दों का अनुसरण करके उसी सत्य को, अधिकाधिक पूर्वता हो, इस हेतु से निम्न सूत्र में कथन किया है कि मनुष्य को गाय का जिससे अधिकाधिक ऐहिक उपयोग हो, ऐसी रीति से गाय का पालन और पूजन किया जाना चाहिए। इसके विपरीत जिस कारण गाय से मनुष्य के हित को लाभ तो होता ही नहीं, परंतु हानि होती है, मनुष्यता में न्यूनता आती है, ऐसे गोरक्षण के मुख्य हेतु को विफल करनेवाला गोरक्षण का अतिरेक त्याज्य है, तो यह सूत्र यथावत् गोरक्षण कार्यकर्ताओं को मान्य होने में क्या आपत्ति हो सकती है? कम-से-कम इतना तो निर्विवाद है कि मनुष्य को गाय का जिस कारण अधिकाधिक उपयोग ऐहिक दृष्टि से भी हो, ऐसा ही अपने राष्ट्र का गोविषयक लक्ष्य और व्यवहार होना चाहिए। यह सूत्र किसी को पसंद नहीं आया तो भी उसे नकारना संभव नहीं। क्योंकि गोपूजन से ही नहीं अपितु गोपालन का ही समर्थन, गोभक्त भी, गाय मनुष्य के लिए इस जगत् में अत्यंत उपयुक्त है, इस कोटिक्रम (तर्क) पर मुख्य जोर देकर, करते हैं।

अब गाय के संबंध में अपने सब व्यवहार और भावनाओं की जाँच करने पर प्रथमतः ध्यान में आता है कि मनुष्य को गाय का अधिकाधिक प्रत्यक्ष उपयोग यदि करना है तो उसे देवी समझकर गोपूजन की भावना पूर्णतः त्याज्य है, यह हमें मानना होगा। उसके कुछ कारण—

१. देव कोटि मनुष्य कोटि से उच्चतर वास्तविक या कल्पित भावनाओं की होती है; मनुष्य से अधिक सद्गुणों का, सत् शक्ति का, सत् भावनाओं का विकास जिसमें प्रकर्ष से होता है वह देव या देवता, परंतु पशु मनुष्य-से-अधिक हीनतर वर्ग का अतिमानुष देवता है, देव है। अपमानुष पशु, कीट है। गाय तो प्रत्यक्ष पशु! मनुष्यों में निर्बुद्धों जितनी बुद्धि भी जिसमें नहीं होती ऐसे किसी पशु को देवता मानना मनुष्यता का ही अपमान करना है। मनुष्य की तुलना में सद्गुणों में और सद्भावना में जो उच्चतर हो ऐसे प्रतीक को एक बार देव कहा जा सकता है; परंतु नोकदार सिंग, गुच्छदार पूँछ इनके अलावा जिस

पशु में मनुष्य से अधिक भिन्न बताने योग्य कोई आधिक्य नहीं, मनुष्य को उपयुक्त करके जिसका गौरव और ममता मनुष्य को लगती है ऐसी गाय को या किसी पशु को देवता मानना मनुष्यता को ही नहीं अपितु देवत्व को भी पशु की अपेक्षा हीन मानना है।

गोशाला में खड़े-खड़े घास, चारा खानेवाले, खाते समय ही निःसंकोचता से मल-मूत्र करनेवाले, थकान आते ही जुगाली करते हुए उसी मल-मूत्र में बैठनेवाले, पूँछ के द्वारा वह कीचड़ अपने ही बदन पर उछालनेवाले, रस्सी छूट गई तो उतने ही समय में कहीं जाकर गंदगी में मुँह डालनेवाले और वैसे ही फिर गोशाला में बँधनेवाले उस पशु को, शुद्ध और निर्मल वस्त्र पहने हुए ब्राह्मण या महिला द्वारा हाथों में पूजापात्र लेकर गोस्थान में पहुँचकर उसकी पूँछ का स्पर्श करते हुए अपनी पवित्रता को बाधा न आने देते हुए उसका गोबर और गोमूत्र चाँदी के पात्र में घोलकर पीने में अपना जीवन निर्मल हो गया—ऐसा मानना कहाँ तक उचित है? वह पवित्रता, जो अंबेडकर के समान महान् स्वधर्म बंधु की छाया पड़ते ही बाधित होती है, वह ब्राह्म-क्षात्र जीवन, जो तुकाराम के समान संत के साथ पंगत में बैठकर दही-भात खाने पर भ्रष्ट होता है, वह पवित्रता और वह ब्राह्म-क्षात्र जीवन गोस्थान के अमंगल खानेवाली गाय के मलमूत्र से लिप्त पूँछ को स्पर्श कर पवित्र होती है और गोमय, गोमूत्र भी सबको पवित्र करता है। पशु को देव कहते हैं और देव के समान मनुष्य को वे पशु कहते हैं। ये दोनों रूढ़ियाँ धर्म और सदाचार के रूप में एक ही समय में, एकत्र गौरव करनेवाली यथार्थ स्थिति से, धर्म की छाप लगते ही, केवल विसंगत मूर्खता भी, सुसंगत विद्वत्ता और सत्शील पवित्रता लगने लगती है। मनुष्य की कैसी बुद्धिहत्या होती है, इसका दूसरा उचित उदाहरण कौन सा दें?

२. किंतु पशु को देवता मानने से मनुष्यता को ही हीनता आती है, वह केवल तात्त्विक या लाक्षणिक होता तो भी इस अतिरेक को अनुष्टुप छंद में कहते हुए स्वराष्ट्र हत्या उससे भी सहस्र गुना अधिक बड़ा पाप है, प्रत्यक्ष इहलोक में पापी मनुष्य को पचानेवाला महानरक है यह विधान वे कभी गलती से भी नहीं करते।

गाय को देवता मानने के यःकश्चित् भाविक प्रवृत्ति के परिणाम इतने भयावह और राष्ट्रहननकारक होते हैं यह केवल अतिशयोक्ति का वर्णन है—ऐसा

स्वाभाविक रूप से माननेवाले पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि गाय मनुष्य के लिए नहीं, परंतु मनुष्य गाय के लिए है। यह भोली भावना गोपूजन का, गाय का देवीकरण करने का अवश्यंभावी परिणाम है। यह केवल तर्क नहीं, अपने इतिहास में अनेक समय में वैसे परिणाम हुए हैं। गाय के लिए हिंदू राष्ट्र के चरणों में परतंत्रता की बेड़ियाँ डालने में हाथ बँटाने में यह भोली भावना अज्ञानवश पीछे नहीं हटी। मुसलमानों के इतिहास में भी हिंदुओं के इस भोलेपन का उल्लेख मिलता है। अपने इतिहासकारों ने भी उन घटनाओं का उल्लेख किया है। जब मुसलमानों के आक्रमण प्रबल वेग से हिंदुस्थान पर शुरू हुए, उस समय के हिंदुओं की अत्यंत भाविक काल में, प्राण गया तो भी हिंदू लोग गाय पर हाथ नहीं डालेंगे यह बात ज्ञात होते ही कुछ प्रसंगों में मुसलमानी सेना स्वयं की व्यूह रचना के आगे बहुत सी गायों को गोल बनाकर ले चलते थे और उन्हें आगे रखकर वे हिंदू सेना पर हमला करते थे। गायों को देखते ही शस्त्र-अस्त्र से सुसज्ज हिंदू सेना अकस्मात् एक भी बाण छोड़ने की या एक भी हथियार चलाने की हिम्मत नहीं करती थी। क्योंकि मुसलमानों पर वैसा बाण छोड़ते ही या हथियार चलाते ही प्रथमत: शत्रु के आगे की गायें कट मरने की आशंका अधिक होने से उन्हें गोहत्या का महापाप होने का भय लगता था। कोई भी हिंदू गोहत्या के पाप का अधिकारी होना नहीं चाहता था। रण-मैदान पर मुसलमानों से संघर्ष करने के लिए दल-बल के साथ आई हुई हिंदू सेना रूपी सिंह का पंजा अकस्मात् कमजोर होते ही सिंह जैसा गाय बनता है वैसे गाय बनकर रणांगण से पीछे-पीछे हटने लगते थे। लड़ाई न लड़ते हुए मुसलमान जीत जाते थे और अपना विजय उत्सव वे समस्त गाय काटकर उनके मांस पर हाथ मारकर संपन्न करते थे। जो गाय की बात है वही मंदिरों की। मुलतानियों पर हिंदुओं की एक प्रबल सेना ने आक्रमण किया तो मुसलमानों ने धमकी दी कि 'मुलतान का पवित्र सूर्यमंदिर गिरा देंगे यदि एक कदम आगे बढ़ाओगे तो!' इस पाप से डरकर मुलतान को मुसलमानों के कब्जे से छुड़ाने का अत्यंत महत्त्व का कार्य और उस प्रसंग में हिंदू सेना को कठिन नहीं था ऐसा राष्ट्रकार्य, वैसा ही छोड़कर हिंदू लौट आए। 'श्री' को मुक्त करो (काशी स्वतंत्र करो) यह वाक्य, यह लगन पहले बाजीराव से नाना-महादजी तक सबको समान थी इसका उल्लेख पत्रों में है। परंतु मल्हारराव होलकर द्वारा काशी पर अचानक छापा डालकर हिंदू पदपादशाही का मुकुटमणि हस्तगत करने का प्रयास करते ही मुसलमानों ने फिर धमकी दी कि 'मंदिर गिराएँगे, ब्राह्मणों को मार डालेंगे, तीर्थस्थान भ्रष्ट किए जाएँगे।' इस बात का बदला लेकर मुसलमानों के दाँत उखाड़ने की बजाय काशी के हिंदू नागरिकों ने मल्हारराव के सम्मुख ही दाँत दिखाए, धरना दिया, शपथ डाली कि काशी मुसलमानों के पास ही

रहने दी जाए, नहीं तो वे तीर्थक्षेत्र भ्रष्ट करेंगे और इस प्रकार हिंदू धर्म को कलंक लगानेवाले इस महापाप का दोष मल्हारराव पर आएगा। अंत में काशी के हिंदू नागरिक मुसलमानों के पक्ष का समर्थन करने लगे—यह देखकर हमले का विचार कठिन समझकर मराठों को लौटना पड़ा।

दस मंदिर, मुट्ठी भर ब्राह्मण और पाँच-दस गायें मारने का पाप टालने के लिए राष्ट्र को मरने दिया गया। गोहत्या का पाप टालने हेतु राष्ट्रहत्या होने दी। राष्ट्र से भी बढ़कर राष्ट्र का एक पशु माना गया। राष्ट्र की स्वतंत्रता नष्ट हो गई उसकी चिंता नहीं, परंतु एक मंदिर नष्ट हो जाने की चिंता की गई। इतिहास में यदि ऐसा एक भी प्रसंग हो जाता तो 'धर्म' के भोलेपन को अधर्म से भी नरकगामी कहा जाता। फिर यहाँ ऐसे प्रसंग मुहम्मद गजनवी के समय से दूसरे बाजीराव के समय तक किसी-न-किसी रूप से बार-बार घटित हुए हैं। इसलिए पोथीनिष्ठ, विवेकशून्य, राष्ट्रघातक 'धर्मभीरुता' से हमें घृणा हो तो इसमें किसका दोष है? हम उपयुक्ततावादियों का या राष्ट्र डुबानेवाली धर्मभीरुता से अभी भी चिपककर रहने के इच्छुक हमारे भाविक पोथीवादियों का?

यह पाप, यह पुण्य, बस! पोथी की इतनी ही आत्मघाती आज्ञा होती है। वह पाप क्यों? पुण्य क्यों? उनका हेतु क्या था? किस परिस्थिति में, किस कालावधि में, यह प्रश्न भी न पूछने देती है, न बनाती है। गोहत्या का पाप, गोपूजन का पुण्य, बस! गोहत्या ही पाप क्यों? भैंस हत्या या गधे की हत्या पाप क्यों नहीं? राष्ट्रहत्या या गोहत्या का विकल्प खड़ा होते ही उनके विवेक भाव की कसौटी क्या? यह पोथी नहीं बतलाएगी! और पूछने भी नहीं देगी। इसलिए जिस मूल हेतु के लिए गोहत्या पाप मानी गई उस हेतु की ही हत्या उस गोहत्या को टालने के लिए कैसी बार-बार होती गई यह बात पोथीनिष्ठों के प्रकरणों में अपरिहार्य हो बैठती है। परंतु विज्ञान केवल यह 'पुण्य', यह 'पाप' ऐसी आज्ञा न करते हुए, उसका हेतु क्या था, विवेक कौन सा, कसौटी कौन सी यह प्रत्येक बात स्पष्ट रूप से ऐहिक सबूतों के साथ बताता है। जैसे मनुष्य के लिए गाय एक उपयुक्त पशु है इसलिए उसकी हत्या नहीं होनी चाहिए। इसके विपरीत यह पशु उपयुक्त न होते हुए हानिकारक होगा, उस स्थिति में गोहत्या भी आवश्यक, ऐसा खड़ा जवाब विज्ञान देता है। अतएव किसी भी प्रसंग में विज्ञाननिष्ठा मनुष्य को अपना कर्तव्य पोथीनिष्ठ मनुष्य की अपेक्षा अधिक उचित तरीके से तय करना सिखलाती है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक प्रसंग में यदि यह वैज्ञानिक उपयुक्तता की कसौटी लगाई जा सकती तो उस हिंदू सैनिक को और सेनापति को अपना कर्तव्य दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट दिखने लगता। जो लोग हिंदू धर्म का उच्छेद करने के लिए

आए थे, हिंदुओं के राज्य समाप्त करने निकले थे, उन दैत्यों के सामने चल रहे गायों के समूह को हिंदू सेना ने यदि फटाफट काट दिया होता और प्रत्येक गाय की हत्या का प्रायश्चित्त करने हेतु उन समूहों के पीछे छुपे हुए सैकड़ों म्लेच्छों के रक्त में अपने हाथों को धोना चाहिए था। क्योंकि उस युद्ध के समय मुट्ठी भर गायों को बचाने के लिए हमने मुसलमानों की मुट्ठी में अपनी हिंदू स्वतंत्रता की गरदन देने से ऐसी एक गाय, एक मंदिर, एक तीर्थ बचाने के लिए एक-एक लड़ाई मुसलमानों को जीतने देने से, एक-एक हिंदू राज्य नष्ट करने देने से, एक-एक मुसलमानी बादशाही अपनी छाती पर चढ़ा लेने से, अंत में समस्त हिंदुस्थान में सभी मंदिरों की मसजिदें होंगी, सभी तीर्थ भ्रष्ट होंगे, दस-दस हजार गायों का कत्ल करने के लिए कसाईखाने सैकड़ों वर्ष इसी हिंदुस्थान में, जिसमें खाने के लिए गाय काटना असंभव था, उसी हिंदुस्थान में कसाईखाने खोले जाएँगे और अंत में 'देव मात्र उच्छेदिला। जित्यापरिस मृत्यु भला।' 'देवों का उच्छेदन कर दिया। अब जीने से मरना ही बेहतर है।' ऐसी समस्त हिंदू-पृथ्वी आंदोलित हो जाएगी यह अपने भाषण का परिणाम उस समय के हिंदू सेनापतियों को और हिंदू जनता को स्पष्टता से दिखने में एक क्षण का भी विलंब न होता। मुलतान का एक सूर्यमंदिर गिराने की धमकी पाक मुसलमानों द्वारा देते ही पोथी का अंधभक्त हिंदू न होता तो वह तुरंत प्रतिकार करते हुए कहता, 'मंदिर को गिराओ तो सही, फिर समझ लो कि अब यह हिंदू सेना लौटेगी नहीं, परंतु मुलतान को मुक्त कराकर काबुल तक जितनी मसजिदें दिखेंगी उनपर गधों द्वारा हल चलाए बिना नहीं रहेगी। इतना ही नहीं अपितु उस काबुल की शाही मसजिद की शिलाओं के आधार पर मुलतान का सूर्य-मंदिर फिर से खड़ा किया जाएगा।' मल्हारराव होलकर आगे बढ़े तो काशी का एक भी तीर्थ, मंदिर, ब्राह्मण बचने नहीं देंगे ऐसी अयोध्या के नवाब ने जब धमकी दी थी तब काशी के हिंदू आदि कहते कि, 'ऐ नवाब, गिरा दो वह मंदिर जिसका आधा भाग पूर्व में औरंगजेब ने गिराया है, उस विश्वनाथ मंदिर का शेष भाग तुम गिरा दो। हमारे इन ब्राह्मणों के मुट्ठी भर मस्तकों की क्या गिनती! परंतु ध्यान में रखो कि दिल्ली को हिलानेवाले मराठों से तुम्हारा संघर्ष होगा और उधर पूना में ब्राह्मणों का राज्य प्रबल है, लाखों घुड़सवार सिपाही हरदम तैयार रहते हैं। वे इस काशी के एक मंदिर के बदले में महाराष्ट्र में एक भी मसजिद बचने नहीं देंगे। रास्ते साफ करके मसजिदें और बाजों की समस्या ही आनेवाली पीढ़ी के लिए नहीं छोड़ेंगे। राजनीतिक संघर्ष में धर्मस्थानों की अवमानना न करना हिंदुओं की रीत है। शनिवारवाडे में भी एक पीर सुरक्षित रखा गया है। परंतु तुम म्लेच्छों ने यदि इस रीति को तोड़ा तो हिंदू भी उसे ठुकरा देंगे, क्योंकि आज तो सिंधु से लेकर सेतुबंध तक मराठों का शस्त्र ही

शास्त्र है। महाराष्ट्र में तुम्हारी मसजिदें अपने पैरों पर नहीं, खड़ी रहीं तो हमारी कृपा पर!' पोथी के कारण अंध न बने हुए होते तो काशी के हिंदू नवाब को इस प्रकार धमका सकते थे और उस समय यह धमकी सही करके दिखाने की शक्ति भी हिंदू-खड्ग में थी। परंतु अंधी पोथीनिष्ठा के लिए मुट्ठी भर गाय मारने का 'पाप' न हो इसलिए उन्होंने राष्ट्र को ही नष्ट कर लाखों गाय अनेक शतकों तक मारने के लिए कसाईखाने के ताम्रपट ही म्लेच्छों को दे दिए। देवों का एक मंदिर तोड़ना नहीं चाहिए, लेकिन देवों का राज्य ही नष्ट करने दिया। भैंस, घोड़ा, कुत्ता, इतना ही नहीं अपितु गधा भी अपने हिसाब से गाय के समान मनुष्य के लिए उपयुक्त है।

उपर्युक्त आलोचना से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य के लिए अधिकाधिक उपयोग जिस प्रकार से होगा उसी प्रकार से गाय का पालन भी किया जाएगा। इस हेतु को प्राप्त करने के लिए गोपालन सूत्र राष्ट्र के सामने राष्ट्र का कर्तव्य के रूप में रखना चाहिए। गोरक्षण धर्म है, वह ऐहिक और पारलौकिक पुण्य है, गाय देवता है, इतना ही नहीं अपितु, उसमें एक नहीं, तीस करोड़ देवता वास करते हैं। इस प्रकार की कल्पनाओं पर अनुष्टुप छंद में रचना करके गोपूजन ही हिंदू धर्म है यह सूत्र राष्ट्र के सम्मुख रखने से गाय का रक्षण तो जैसा चाहिए वैसा होता ही नहीं, परंतु भोलेपन की प्रवृत्ति राष्ट्र के सामने रखने से गोभक्ति के कारण राष्ट्रभक्ति ही नष्ट होती है। हिंदू के हित की ही बलि गाय के सामने देने पर गोरक्षा के मूल हेतु को ही धक्का पहुँचता है। कितना भी उपयुक्त हो गाय एक पशु है, उसे देवता मानने से सामान्य लोक उसका पालन उत्कटता से करेंगे, इसलिए उसे देवता मानेंगे, गोपूजन को धर्म मानना चाहिए यह समझ मूर्खता की है, समाज की बुद्धिहत्या की कारण होती है।

उपयुक्तता की दृष्टि से भी गाय का इतना महत्त्व बढ़ाना गलत है। गाय के भी पूर्व से या गाय के बराबर ही मनुष्य के अत्यंत निष्ठावान् सेवक घोड़ा और कुत्ता प्राचीन काल से ही थे। कृषि युग और गोपालन युग के पूर्व मृगया युग में मनुष्य जब भ्रमण करता था तब भी गाय की अपेक्षा कुत्ता और घोड़ा उसके साथ प्राण देनेवाले मित्र थे। मृगया (शिकार) में पशु को पकड़ते समय अपने मालिक के प्राणों के लिए हिंस्र पशु पर भी हमला करनेवाला, घरबार की रात-दिन चोर-उचक्कों से रक्षा करनेवाला, मालिक के सोने पर स्वयं जागकर मध्यरात्रि को भी कड़ा पहरा देनेवाला तथा जिस गाय को हम देवता कहते हैं उसे भी उसके साथियों के साथ अनेक प्रसंगों में अपनी उपस्थिति से चरने में सहायक होनेवाला पशु कुत्ता रहा है। आज तक जो प्राणी पुलिस के सुबुद्ध कर्तव्य भी यूरोप जैसे देश में करके मनुष्य समाज की सेवा कर रहा है उस कुत्ते का उपयोग क्या मनुष्य को बहुत अल्प सा हुआ है?

गाय ने दूध दिया है तो कुत्ते ने अनेक प्रसंगों में मनुष्य को जीवनदान दिया है। बच्चों का मित्र, मृगया की बंदूक, घर का ताला, बैठता है दरवाजे के पास, खाता है रोटी के टुकड़े, सब भगाते हैं उसे, केवल यू, यू कहा कि तुरंत पाँव चाटने लगता है इतना नम्र, संकटों में प्राण देनेवाला कृतज्ञ, और किसान से लेकर शाहू-सम्राट् तक सबका एकनिष्ठ सेवक। इस कुत्ते को सम्मान कौन सा? वेतन क्या? तो उसका नाम एक गाली, जाति अस्पृश्य; उपयुक्तता में घोड़े की योग्यता भी वैसे ही निस्सीम! पूरे राष्ट्र का जीवन या मरण अनेक प्रसंगों में, उसके अश्वदल की ताकत पर और सज्जता पर निर्भर रहता आया है। मराठों के पास—भीमथड्डी के टट्टू थे। इसलिए हिंदू पदपादशाही को कितनी सहायता मिली। हिंदू धर्म की रक्षा का वह कितना मजबूत साधन सिद्ध हुआ। हिंदू धर्म के शत्रुओं को अटक तक भगाने का कार्य मराठों ने गायों के समूह के बल पर नहीं, अपितु अश्वदल के बल पर ही किया। गाय तो उपयुक्त है ही, परंतु गाय के दूध की कमी को पूरा करने के लिए भैंस भी तो होती है न? परंतु रण-मैदान के प्राणसंकट में राष्ट्र का रक्षण करनेवाला, प्रतापसिंह के जैसे राष्ट्रवीर के प्राण हलदी घाटी के संग्राम में बचानेवाला, झाँसी की रानी को अहिंदू अंग्रजों की बंदूकसम पीछा करके भड़कती आग में से काल्पी तक एकदम पहुँचाकर, स्वतंत्रता समर की देवी के प्राण बचाने का महान् कार्य पूरा होते ही स्वयं प्राण त्याग करनेवाला घोड़ा, उसकी कमी, अन्य कौन सा पशु पूरी कर सकता है? घोड़े के समान कुछ देशों में गधा भी मनुष्य के लिए गाय के समान ही उपयुक्त सिद्ध हुआ है। कुछ लोग गधे को मनुष्य का इतना एकनिष्ठ सेवक समझते थे कि उसका नाम ही उपयुक्तता का उपमान हो बैठा है। यीशू ख्रिस्त जब ईशप्रेषित रूप से जेरूसलम में अपनी प्रथम विजय प्राप्त करने गया था तब उसने अपने धर्म और दैवी कार्य के लिए गधे की योजना की थी। ''ऐसी विजय यात्रा का पवित्र वाहन गधा! तो जाओ और एक सफेद स्वच्छ गधा ले आओ!'' यह आज्ञा अपने शिष्यों को दी। उस शुभ गर्दभ पर बैठकर वह देवदूत ख्रिस्त जेरूसलम में प्रवेश कर गया। अनेक देशों में यह प्रतिदिन बूढ़े, बच्चों की सवारी का वाहन आज भी है। सिंध देश में अपने हिंदू बांधव भी गधे का उपयोग इतने निस्संकोच होकर करते हैं कि ब्राह्मणों की लड़कियाँ ससुराल या पीहर जाने-आने के लिए गधे पर बैठकर वैसी ही हिलती-डुलती हैं जैसी बैलगाड़ी में जा रही हो। कितनी ही जातियों की उपजीविका गधे पर ही चलती है। उनका मुख्य धन गोधन नहीं, गधे हैं। घर के किसी सदस्य के समान गधा बेचारा घर-मालिक के कष्ट हरता है, बोझा ढोता है और होता भी है सस्ता! उसका वेतन गाँव का कचरा फूँककर जितना पेट भर सकेगा वही है। गाय के दूध से कुछ रोग ठीक नहीं होते, पवित्र पंचगव्य से भी लाभ नहीं

होता, ऐसी बीमारियों में ब्राह्मण संतानों को भी गधी का दूध उपयोगी होता है। परंतु गधा इतना उपयुक्त और इतना प्रामाणिक, इतना सहनशील कि उसको पशु न मानकर देवता मानना चाहिए था। क्या किसी ने कभी गधा गीता लिखकर गधा पूजन का संप्रदाय निकाला है?

कुम्हार भी गधे को पालना इतना ही अपना कर्तव्य समझता है, गधा पूजन नहीं। घोड़ा अत्यंत उपयुक्त राष्ट्रीय पशु है। उसे घोड़देव मानकर उसके संबंध में अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए चातुर्मास में मनुष्य घोड़े पर न बैठते हुए उसे ही मनुष्य पर समारोहपूर्वक सवारी करने दे ऐसा कोई व्रत किसी ने चलाया है क्या? कुत्ता अति उपयुक्त, प्रत्यक्ष दत्तात्रेय भगवान् का प्यारा; इसलिए कुत्ते को ही देवता समझ लो, श्वानहत्या को 'पाप' मानें और किसी म्लेच्छ शत्रु का जहाज यदि भारत पर आक्रमण करे तो उसपर जो कुत्ते होंगे वे मरेंगे, श्वानहत्या का पाप होगा इस आशंका से हिंदू सेना उस जहाज पर गोलीबारी करने को नकारे और उसे हिंद भूमि पर सुरक्षित उतरने दे, फिर लाखों हिंदू स्त्री-पुरुषों का कत्ल हो तो फिर वह कृत्यकृतज्ञता का स्तुत्य प्रदर्शन समझा जाएगा या केवल पागलपन?

गाय एक पशु है इसलिए उसे देवता समझकर हम यह पागलपन जो गाय के संबंध में करते हैं वह सब भी केवल मूर्खता ही नहीं है क्या? घोड़ा, कुत्ता, गधा इन उपयुक्त पशुओं में वे गुण नहीं होंगे जो वांछनीय हैं, परंतु उनमें मनुष्य के उपयोग के लिए जो आवश्यक गुण हैं वे गाय में नहीं हैं। देवता की कल्पना कर उसकी पूजा नहीं की इसलिए क्या उनके पालन में कमी आती है?

वे उपयुक्त पशु हैं, अत: भैंस, घोड़ा, कुत्ता का उचित पालन-पोषण होता है वैसा ही गाय का भी पालन-पोषण होगा, भले ही हम उसे देवता मानें, या न मानें। उसकी उपयुक्तता की शक्ति के कारण उसको पाला जाएगा। उसे देवता बनाने की बजाय एक पशु की रुचि के अनुसार उसका प्रबंध होने पर गोपूजन के कारण होनेवाली राष्ट्र की बुद्धिहत्या का पाप टलेगा। परंतु गोपालन कर्तव्य न होकर, गोपूजन ही हिंदुओं का धर्म बन गया है, वह केवल ऐहिक नहीं अपितु पारलौकिक 'पुण्य' भी है, इस प्रकार की भोली भावना के कारण हम गाय को भी नापसंद हो जाएँ इतना उसका ढोंग हमने मचा रखा है।

गोग्रास

कुछ भी कहें तो भी गाय बेचारी एक पशु है। उसे हरी-हरी घास खाने में ही अच्छा आनंद मिलता है। और मनुष्य के व्यंजनों में से उसे कौन सा व्यंजन अधिक पसंद होगा, तो एक बड़े घमेले में, भोजन की पंक्ति से निकलता हुआ

झूठन इकट्ठा कर उसके सामने रखना। वह उसकी पसंद का गोग्रास। परंतु उसको देवता मानने की गलत कल्पना के कारण उसे जो नहीं देना चाहिए, उसके नसीब से, वही उसे देंगे। शुचिर्भूत ब्राह्मण के सम्मुख रखते हैं वैसा एक केला का पत्ता काटकर उसपर एक तरफ बड़ी, चटनी, दूसरी ओर नींबू, नमक-खीर, चावल, दाल, लड्डू अच्छी तरह से परसकर, घर के बच्चे-बूढ़े भोजन करने के पहले वह केला का पत्ता गोमाता के सम्मुख रखना। इतना अच्छा हुआ कि पूरा परोसा हुआ केले का पत्ता ही गोमाता के सम्मुख रखने के लिए पोथी कहती है। किसी भक्त ने पाँच-दस संस्कृत श्लोक उसमें घुसेड़कर यदि ऐसा कहा होता कि गाय को प्रसादी चढ़ाते समय गोठे में न बाँधते हुए देवघर में बाँधना चाहिए। एक चंदन का पटिया डालकर दस-पाँच आदमियों को गाय को उठाकर इस पटिये पर खड़ा करना चाहिए। उसे साड़ी, चोली पहनाकर अपने हाथों से खिलाना चाहिए। परंतु पोथी में यह सब न होने के कारण हम केवल केले का पत्ता अन्न से सजाकर गोस्थान में ले जाकर रखते हैं। उसे सब कुछ अर्पित करते हैं। परंतु उसका उस गाय को कोई ज्ञान नहीं होता। उलटा वह तो उसे अपने पशु धर्म का अपमान समझती है। देवता के समान खाने हेतु सर्वप्रथम खीर खानी चाहिए, फिर घी मिलाया चावल, दाल आदि पत्ते को न हिलाते हुए खाना चाहिए। परंतु वह तो जहाँ उसकी जिह्वा स्पर्श करे वहीं से खाना शुरू कर देती है। वह तो नमक, खीर, भिंडी की सब्जी, बड़ा, रायता, लड्डू, दाल सबकुछ जिह्वा से इकट्ठा करते हुए खा जाती है। कभी-कभी इसे केले के पत्ते का ही मोह होता है और वह पत्ते पर रखे हुए व्यंजनों को जमीन पर गिराकर हरा-हरा पत्ता ही खा जाती है। उस पत्ते पर रखे हुए व्यंजन कढ़ी, दाल, घी सब भूमि पर गिराती है जो गोबर में भी मिल जाते हैं।

इससे तो मनुष्य योग्य सुग्रास अन्न मनुष्य को ही देकर और पशु को प्रिय ऐसा पंक्ति में बचा हुआ झूठा, बासी अन्न किसी घमेले में रखकर गाय के आगे रखना चाहिए, ताकि वह अपनी जिह्वा की तृप्ति कर सके। व्यर्थ जानेवाला जूठन भी काम आ जाएगा, इसका संतोष मनुष्य को भी रहेगा। नहीं क्या? पशु के इतना और पशु के समान चाकरी करने से गोपालन अधिक अच्छा किस प्रकार होगा इसका यह एक उदाहरण ही काफी है।

किंतु अन्य उदाहरण चाहते हों तो गाय की स्थिति और प्रगति अमेरिका में कितनी उत्कृष्ट रीति से होती है, यह देखिए। अमेरिका के कुछ कृषि-प्रधान भागों में हिंदुस्थान जितनी ही गोधन की आवश्यकता है। परंतु गाय की ओर वे 'मनुष्य के लिए उपयुक्त एक पशु' इसी दृष्टि से देखते हैं इस कारण गोपालन इतना ही कर्तव्य मान लिया जाता है। गोपूजन का भोलापन मानवता को हीनता लानेवाला है यह ज्ञान

होने के कारण वह पशु मनुष्य के लिए अधिकाधिक उपयोगी जिस मार्ग से होगा उसी मार्ग से या उपायों से गाय को पाला-पोसा जाता है। उसके दूध में जो विशेष गुण होते हैं वे कैसे विकसित होंगे, इसके वैज्ञानिक प्रयोग करके दूध अधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए उचित खान-पान दिया जाता है। उसके रहने का स्थान पशु के स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुकूल हो इसके लिए वहाँ प्रकाश, सफाई, कीटनाशक पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। गोस्थान उनके रहने के लिए उपयुक्त बनाए जाते हैं। गाय किस जाति की है, उत्तम पैदाइश हेतु उत्कृष्ट वृषभ कौन से, ऋतु कौन से अच्छे आदि जानकारी वैज्ञानिक प्रयोगों से प्राप्त की जाती है। गायों का वंश आगे की पीढ़ी में अधिक सुंदर, दूध अधिक देनेवाली, पुष्ट हो—इसकी तैयारी की जाती है। 'भागवत' में गोकुल का जो वर्णन किया जाता है वास्तव में वैसा गोकुल आज अमेरिका में है। उनकी गायों को चराने हेतु विस्तृत हरे-भरे जंगल होते हैं। वहाँ एक से बढ़कर एक सुंदर, ऊँची, सुश्लिष्ट, एक भी कीटक बदन पर न हो ऐसी, विशाल नेत्रोंवाली, बहुत दूध देनेवाली गाय समूह में प्रदर्शनियों में उत्तम गायों की लगी हुई स्पर्धाएँ और मदोन्मत्त गर्जना करते हुए जानेवाले मजबूत वृषभों की टकराहटें; दही, दूध, मक्खन के विशुद्ध, सत्त्वस्थ क्षीरसागरोपम हौज-के-हौज भरे हुए होते हैं। सही माने में आज यदि कहीं पृथ्वी पर गोकुल होगा तो वह गोमांसभक्षक अमेरिका में है जहाँ गाय को एक पशु मानकर पाला जाता है। गाय को देवता समझकर पालन करनेवाले देश में, उसका मलमूत्र पीने में भी पुण्य की भावना रखनेवाले भारत देश में कौन सी और कितनी गो-संस्थाएँ हैं? मुख्य रूप से पिंजरापोल और कसाईखाने।

अत: सभी गोरक्षक संस्थाओं से हमारी प्रार्थना है कि उन्हें गोपालक बनना चाहिए। वैज्ञानिक साधनों से मनुष्य को उस पशु का अधिकाधिक उपयोग किस प्रकार हो सकेगा इस दृष्टि से अमेरिका के समान सशक्त और सुंदर जाति को विकसित कर, उनके दूध की मात्रा बढ़ाकर, उनका स्वास्थ्य अच्छा करके पालन करना चाहिए, गोरक्षण करना चाहिए और राष्ट्र के गोधन में वृद्धि करनी चाहिए। परंतु यह करते समय भोलेपन से पशु को देवता समझकर पूजा करने की मूर्खता नहीं करनी चाहिए। गाय का कौतुक करने हेतु उसके गले में घंटा बाँधिए, परंतु भावना वही होनी चाहिए जो कुत्ते के गले में पट्टा बाँधते समय रहती है। भगवान् के गले में हार डालते हैं उस भावना से नहीं। इस प्रकार से जो धार्मिक छाप की सैकड़ों भोली धारणाएँ हमारे लोगों की बुद्धिहत्या कर रही हैं उन निरर्थक प्रवृत्तियों की हैं। उसका एक उपलक्षण करके हमने केवल गाय की बात उठाई है।

'गाय' पर हमारे लेख को पढ़कर जिन गोभक्तों को क्रोध हुआ होगा, वे शांति से विचार करें कि हमारी हिंदू संस्कृति का उपहास यदि कोई कागज़ करता हो

तो वह हमारे लेख का कागज नहीं, किंतु वह चित्र का कागज है जिसपर तैंतीस करोड़ देवता चित्रित किए जाते हैं।

पंढरपुर की यात्रा के भीड़-भड़क्के में रेलगाड़ी के तीसरे दरजे के डिब्बे में पंढरपुर के वारकरी को जिस प्रकार घुसाया जाता है, उसी प्रकार इस गाय के शरीर में देवों की रगड़ा-रगड़ी होती है और श्वास लेना भी मुश्किल हो जाता है। विष्णु, ब्रह्मा, चंद्र, सूर्य, यम कोई कंठ में, कोई दाँतों पर, कोई नाक में, जहाँ जमेगा वहाँ वह लटकता है। गाय के पृष्ठ भाग में तो इतनी भीड़ हो जाती है कि कोई सनातनी भी क्रोध से जब किसी आवारा गाय की पीठ पर, वैसे ही दूहते समय गाय के लात मारते ही उसे डंडे से पीटता है तो दस-पाँच देव तो स्वर्गवासी होते ही हैं। नाक-मुख के आस्वाद्य रस में लिपटे हुए देवों की तो करुणाजनक स्थिति होती है। परंतु उसमें भी बुरी स्थिति मरुत् और वरुण की होती है। स्थान प्राप्ति की गड़बड़ी में अंत में, 'अपाने तू मरुदेवो योनौ च वरुणास्थिती: ॥' और मूत्रे गंगा! यह क्या चित्र है कि यह विचित्र है? अपनी हिंदू संस्कृति की विडंबना आज के विज्ञान युग में यदि कोई करता हो तो हमारा उपर्युक्त लेख नहीं अपितु देवों को पशुओं से भी बदतर स्थिति देनेवाले संस्कृत के अनुष्टुप श्लोक हैं। और हमारे आचार की विडंबना है वह पंचगव्य!

गाय को एक बार गोमाता कहो, लाक्षणिक अर्थ में वह कुछ समय के लिए चल जाएगा, परंतु उसे पूर्ण रूप से सही नहीं मानना चाहिए। इतना ही नहीं, माता के लिए भी जो पदार्थ असेव्य मानते हैं वे भी गाय के लिए सेव्य मानकर, पवित्र मानकर, उसका गोबर और गोमूत्र समारोहपूर्वक पीना इसे आचार कहें या अत्याचार? क्या कहते हैं कि गोमूत्र से फलाँ-फलाँ बीमारियाँ हटती हैं और गोबर उत्तम खाद है। इतना ही होगा तो उन रोगों से पीड़ित रोगी को वह गोमूत्र पीने दो। घोड़े का मूत्र, गधी का दूध, मुरगी की विष्ठा ये भी उपयुक्त ओषधि हैं। मनुष्य-मूत्र में भी कुछ गुण हैं। आवश्यक उस बीमारी पर उपर्युक्त दवाइयाँ ली जाती हैं। वैसे गोमूत्र भी लीजिए। परंतु मुरगी की विष्ठा सर्पदंश पर उतारे का कार्य करती है। इसलिए श्राद्ध के दिन भी चटनी के समान थोड़ी-थोड़ी सेवन करनी चाहिए क्या? गोबर खाद है तो खेत में डालो। पेट में क्यों? गोबर खाद है तो विष्ठा भी खाद है। मृत चूहे गुलाब के पेड़ के लिए उत्तम खाद हैं। इसलिए मृत चूहे ही गुलाब के समान नाक से सूँघना चाहिए क्या? तब गाय के गोबर और मूत्र में कितने ही गुण गोभक्तों ने दरशा दिए तो भी सिर्फ उस रोग से संबंधित उपयोग के लिए ही उनका सेवन करना चाहिए। परंतु गोमूत्र पीने और गोबर खाने से पुण्य कैसे होगा? आत्मशुद्धि का संस्कार करके? पवित्र करके, जो पंचगव्य सेवन किया जाता है उसका समर्थन कैसे होगा?

सही बात मूल रूप से ऐसी है कि जिस भोलेपन की प्रवृत्ति के कारण गाय के समान एक साधारण पशु को एक देवी बना दी उसी धर्म-भोली प्रवृत्ति से उसका गोबर रंगोली द्वारा द्वार के सम्मुख निकालना शुभ मानना, उसकी पूँछ आँखों पर से घुमाना कल्याणकारक मानना, उसकी पूजा करना धर्म मानना और अंत में पागलपन की हद होकर उसका गोबर और मूत्र भी पवित्र मानना, उसे खाने या पीने से आत्मशुद्धि होती है, पापक्षालन होता है, इह और परलोक में भी पुण्य होता है, इतना भोलापन चरम पर पहुँच गया।

अपनी महान् हिंदू संस्कृति की यदि कोई अवमानना कर रहा हो तो पुण्य गोबर खानेवाली और गोमूत्र पीनेवाली भोली प्रथाएँ हैं। इस पोथीनिष्ठ मूर्खता का निषेध, हमारे सनातनी बंधुओं को, इस प्रकार का उपहास न चाहते हों तो, करना चाहिए। निषेध हमारे उन लेखों का नहीं करना चाहिए जिनके द्वारा हमने मूर्खता का परिचय लोगों को करवाया है।

चलते-चलते पंचगव्य की उपपत्ति संबंधी एक बात कहना चाहते हैं। वह बात कहीं दिखाई नहीं देती। हम भी सिद्धांत रूप में नहीं अपितु एक सूचना रूप में बताते हैं। हमें ऐसा लगता है कि गाय का गोबर खाना और गोमूत्र पीना कभी किसी समय एक उपमर्दकारक निंदाव्यंजक सजा दी जाती होगी। पापी की मूँछ उड़ाना, गधे पर बैठाना आदि सार्वजनिक बदनामी के समान उसे सजा मान गाय का गोबर और मूत्र सेवन करना पड़ता होगा। प्रायश्चित्त में भी गोमय, गोमूत्र की स्पष्टता यही दरशाती है। आगे चलकर उस सजा का संस्कार ही धर्मीकरण हो गया होगा और जिसके कारण पापनिवृत्ति होती है वह पुण्यकारक इस सहज भावानुक्रम से गाय का गोबर खाना और गोमूत्र पीना यह स्वयमेव पुण्यकारक है, ऐसे धर्मभीरु मत की एकदम सहज समझ हो चुकी है। क्योंकि केवल गोमय, गोमूत्र पवित्र मान आचमन करने का प्रश्न छोड़ दिया जाए तो भी आज भी व्यवहार में 'गोबर खाना, मूत्र पीना' गाली है, संस्कार नहीं।

□

साधु-संतों के चित्रपट किस प्रकार देखें?

महाराष्ट्र में साधु-संतों के चित्रपटों की ऋतु सदैव फली-फूली रहती है। उन चित्रपटों को देखने हजारों स्त्री-पुरुषों का समाज उपस्थित रहता है यह स्वाभाविक है।

ये चित्रपट देखने पर उनसे होनेवाले लाभ और मनोरंजन प्राप्त करके भी, यदि असंगत दृष्टि से उन्हें देखें तो समाज की जो अपरिमित हानि होनेवाली है, उसे यथासंभव किस प्रकार टाला जा सकता है, उसके संबंध में कुछ सूचनाएँ दिग्दर्शनार्थ दे रहा हूँ।

साधु-संतों के चित्रपट आज कैसे देखने चाहिए यह सूचित करते समय साधु संचित चरित्र ही कैसे पढ़ने चाहिए, कैसे मनन करना चाहिए—यह बताना होगा।

संतों के चित्रपट देखते समय प्रमुख बात जो ध्यान में रखनी चाहिए वह यह है कि वे चरित्र ऐतिहासिक नहीं हैं अपितु दोनों अर्थ से 'चामत्कारिक' हैं। संतों के जो चरित्र आज उपलब्ध हैं, वे जैसे हैं वैसे यदि बने रहे हैं तो, और आज तक जीवित रखे हैं यह महिपति के समान संतचरित्रकार के उपकार ही हैं।

उस समय के समाज की भाव-भावनाएँ कैसी थीं यह सामाजिक इतिहास का ही एक भाग है, उसे भी उन्होंने प्रयास से जीवित रखा है। परंतु उसके पीछे उस चरित्र में ऐतिहासिक सत्य क्या है यह निश्चित रूप से बताना बहुत कठिन हुआ है। इतना ही नहीं अपितु आज उपलब्ध चरित्रों के संबंध में यदि कुछ निश्चित बताया जा सकता है तो यह कि वे चरित्र भोली कथाओं से और अनैतिहासिक प्रमादों से पूरी तरह भरे हुए हैं। पुन: बात यह है कि पुराने ऐहिक बखरी का वृत्त जाँचने के अन्य साधन भी संत विजय, भक्ति विजय आदि दैविक ग्रंथों को कसौटी पर परखने के लिए सर्वथा अपर्याप्त पड़ते हैं। संत अधिकतर स्वभावत: व्यवहार-विमुख होते हैं, अनेक ऐसे कि उनके द्वारा लिखी किसी घटना की या पत्राचार की एक अँगुली

भर चिट्ठी भी कभी भेजी नहीं गई हो।

दूसरे साधन का विदेशी इतिहास में उल्लेख होता है। हमारे राजनीतिज्ञों के संबंध में विदेशी लेखन में भरपूर उल्लेख मिलते हैं, फिर भी ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकारामादि संतों के संबंध में तो क्या, किंतु रामदास, ब्रह्मेंद्र के संबंध में, जो उल्लेख उनके चरित्र खोजने हेतु उपयुक्त हो सकते हैं ऐसे उल्लेख मिलना भी संभव नहीं होता। मुसलमान बादशाहों को परेशान करने के 'चमत्कार' उन संतों के चरित्र में कई बार आते हैं। परंतु उनका अता-पता भी मुसलमानी, अंग्रेज, डच, फ्रेंच इनके समकालीन लेखन में नहीं मिलता। मुसलमान अथवा यूरोपियनों को हमारे संतों द्वारा किए हुए पराभव कदाचित् लज्जास्पद लगते, इसलिए उनके लेखों में उन घटनाओं का उल्लेख नहीं है ऐसा कहें तो हिंदू वीरों ने मुसलमानों को संग्राम में कई बार पराजित किया, उसके उल्लेख विदेशी इतिहास में भरपूर मिलते हैं। तुकाराम के कीर्तन प्रसंग में शिवाजी राजे उपस्थित थे। उन्हें पकड़ने के लिए उस कीर्तन समूह को ही घेर लिया गया। तुकारामजी ने अपनी भक्ति से चमत्कार दिखाया और मुसलमानों को सर्वत्र शिवाजी-ही-शिवाजी दिखने लगे। इस गड़बड़ी में शिवाजी राजे वहाँ से निकल चुके थे। यह तुकाराम का चमत्कार मुसलमानों ने अपमानजनक मानकर अपने इतिहास में नहीं लिखा ऐसा मान लिया जाए तो शिवाजी राजे औरंगजेब को चकमा देकर आगरा के लाल किले से भागे—यह प्रसंग मुसलमानों के पराभव का होते हुए भी उनके इतिहास में लिखा है।

संतों के चमत्कार संताजी के चमत्कार के समान विदेशियों को सत्य नहीं लगे या सही नहीं थे। उन्हें वे तुच्छ लगे। इसलिए विदेशियों ने संतों के चमत्कार का ही नहीं उनके अस्तित्व का भी महत्त्वपूर्ण उल्लेख कहीं अधिक नहीं किया। ऐसा कहिए या न कहिए, परंतु उल्लेख नहीं है इस बात को नकारा नहीं जा सकता। इसलिए संतों के चरित्र को खोजने का वह साधन भी बिलकुल उपलब्ध नहीं है।

संतों के स्वयं के ऐहिक पत्र व्यवहार या लेख, स्वयं के संबंध में परकीय शत्रु-मित्रों के उल्लेख ये दोनों ऐतिहासिक साधन नहीं के बराबर होने की कठिनाई होते हुए तीसरी महत्त्वपूर्ण कठिनाई यानी उनके संबंध में इतिहास संशोधकों को महिपति आदि चरित्रकारों द्वारा लिखित सुसंगत या विसंगत जानकारी है। अन्य पुरुषों की ऐहिक दृष्टि से लिखित बहुत सी बातें उनके वर्णन की विसंगति से कभी-कभी तत्काल सच-झूठ तय हो जाती हैं। मान लें, किसी बखर में ऐसा वर्णन आया कि चिमाजी अप्पा के वसई पर कब्जा करते ही बड़े शिवाजी महाराज ने उन्हें रायगढ़ पर बुलाया और उनका गौरव किया कि 'पुर्तगीजों का बदला लेकर तूने परशुराम क्षेत्र में धर्म की रक्षा की।' इतना ही नहीं अपितु उन्होंने श्रीपतराव का

प्रधान पद छीनकर चिमाजी अप्पा को दिया। तो इस वाक्य की विसंगति स्थल, काल, पात्र की दृष्टि से तुरंत सिद्ध की जा सकती है। शिवाजी महाराज यानी शाहू महाराज होने चाहिए, ऐसी कुछ गलती निकालकर और उसे सुधारकर उस विसंगति में भी सबूत के रूप में सत्य चुन लिया जा सकता है। क्योंकि ये चरित्र साधारणत: ऐहिक बुद्धिवाद के मानुषीय तर्क के विषय होते हैं यह सबने माना है। परंतु संतचरित्र का मूल गृहीत (aximotic assumption) आध्यात्मिक, दैविक, अतिमानुषीय होता है। जो घटना जितनी अधिक विसंगत, उतनी ही वह अधिक संग्राह्य। 'चमत्कार' न हो तो वह संतचरित्र कथन करने योग्य नहीं। इसलिए चरित्र की घटनाएँ दैविक एवं आध्यात्मिक भाषा में तर्कातीत यानी ऐहिक एवं बौद्धिक भाषा में तर्कशून्य होगी। ये संतचरित्र यानी साधारणत: असंभव अलंकारों के उदाहरण होते हैं। मान लीजिए उपर्युक्त उल्लेखानुसार शिवाजी महाराज चिमाजी अप्पा से मिले या श्रीपतराव का प्रधान पद चिमाजी अप्पा को दिया गया जैसी अस्त-व्यस्त बातें यदि संतचरित्र में हो कि श्रीधरस्वामी को ज्ञानेश्वर महाराज मिले और उनका पांडव प्रताप ग्रंथ ज्ञानेश्वर पढ़ने बैठे या महिपति के अध्याय नामदेव ने लिखे तो ऐतिहासिक दृष्टि से स्पष्टत: ऐसे विसंगत विधान गलत हैं, ऐसा भक्ति पंथियों का समझाना भी असंभव है। क्योंकि स्थल-काल, संभवासंभव आदि उपर्युक्त मानुषीय तर्कों की कसौटी उन्हें बिलकुल लागू होती ही नहीं। यह तो उस संतचरित्रकार की आशा और अशंकनीय गृहीत (Axiom) है। वे कहेंगे, 'ज्ञानेश्वर की योगसिद्धि ही वैसी थी या विट्ठल को असंभव क्या हो सकता है?' विट्ठल ने नामदेव का मिलन श्रीधर से, या नामदेव का मिलन महिपति से करा दिया। इस प्रकार के बहुत से अनैतिहासिक उदाहरण उन संतचरित्रों में दिखाई देते हैं। 'अलौकिक सिद्धि', 'नाम प्रताप', 'ईश्वर कार्य' इस प्रकार तर्कातीत यानी ऐतिहासिक भाषा में तर्कशून्य मान्यताओं के कारण संतचरित्र संबंध की इतिहासात्मकता स्पष्ट रूप से निकालना और पटाना, इतिहास संशोधन का जो आंतरिक सबूत का तीसरा मान्य साधन, उसकी सहायता से भी कठिन होता है। केवल हिंदू का ही नहीं अपितु जो-जो संत वाङ्मय क्रिश्चियन, मुसलिम, यहूदी आदि धर्मछाप का है उन सब पर यह बात लागू होती है।

अनेक 'चमत्कार', लाक्षणिक भाषा को ही सत्य मानने के कारण चमत्कार बनकर सबकी चर्चा का विषय बनते हैं। किसी भी परंपरागत संशोधन के साधन से परीक्षा न कर सकने से आज उपलब्ध समस्त संतचरित्र ऐतिहासिक दृष्टि से कभी भी जैसे-के-तैसे सही नहीं माने जा सकते। यह बात और एक उदाहरण से सिद्ध हो सकती है। इन चमत्कारों में अनेक 'चमत्कार' केवल लाक्षणिक वर्णन से शब्दश:

सही समझनेवाली भक्त मंडली की कल्पनाओं का प्रपंच होते हैं। संत की भावना होती है कि सबकुछ भगवान् करते हैं। उनकी वृत्ति निरहंकारी। जो स्वयं किया उसे भी स्वयं का न बताना, भगवान् ने किया ऐसी भाषा, उस भावना का लाक्षणिक अर्थ लगाना, उनकी रीति होती है। श्रीधरस्वामी रामविजयादि ग्रंथ लिखते समय या महिपति भक्तिविजय लिखते समय बार-बार कहते हैं, ''मैं मंदमति हूँ, ग्रंथ रचना कैसे करूँगा? परंतु पांडुरंग ने कलम हाथ में दी और कहा, लिखो। इस प्रकार उसने जैसा कहा वैसा लिखा।''

संतों के अभंगों में, ओवी में, ग्रंथों में यह भाषा उपर्युक्त लाक्षणिक अर्थ में आती थी, परंतु उनके बाद के भक्तगण उस भाषा को शब्दश: वस्तुस्थिति समझकर प्रत्यक्ष पांडुरंग भगवान् का अवतार हुआ, कलम उठाकर उन्होंने संत के हाथ में दी और संत जैसा कहते थे वैसा पांडुरंग लिखते थे। उसी प्रकार पांडुरंग स्वयं कहते थे और संत लिखते थे आदि। संत कीर्तन करते थे तो हनुमान उनके पीछे खड़े होकर साथ देते थे मानो हनुमानजी स्वयं ही प्रत्यक्ष रूप से खड़े होते थे। इस प्रकार के वर्णनों की संतचरित्रों में अधिकता है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी विभिन्न कीर्तनकार उस वर्णन को अधिकाधिक आकर्षक बनाते हैं। परिणामस्वरूप लाखों भक्तजन उस 'चमत्कार' को अक्षरश: प्रामाणिक मानने लगे। संतजन ऐसा भी कहते थे कि सोना और मिट्टी दोनों हमें समान हैं। या वे कहते थे कि वैराग्य का पारस पत्थर उनके हाथ लगा है अब लोहे को वे सोना बना सकते हैं। और सोना भी पत्थर हो सकता है। रामकृष्ण परमहंस की एक साधना इस प्रकार थी कि वे एक हाथ में सोना और दूसरे हाथ में मिट्टी लेते थे। उन चीजों को एक-दूसरे हाथ में इतनी गति से बदल लेते थे और कहते जाते थे कि 'सोना-माटी-माटी सोना'। तब तक वे यह कहते जाते थे जब तक उनके यह ध्यान में भी नहीं आता था कि किस हाथ में सोना है और किस हाथ में मिट्टी! सोना को मिट्टी और मिट्टी को सोना कह देते थे! परंतु इस प्रकार के प्रखर वैराग्य के लाक्षणिक शब्दों को संत जो कुछ कहते थे उसे ही वाद में संत चरित्रकार, भक्तगण, कीर्तनकार शब्दश: सत्य मानकर और उस हिसाब से रंग देकर अनेक चमत्कार करके बताते थे। जैसे सही-सही मिट्टी का फलाने संत ने सही सोना बना दिया; संत नामदेव ने अपने हाथों से जो पत्थर उठाए वे पारस बन गए; पारस जिन्होंने स्वार्थ से अपनाए वे पुन: पत्थर हो गए आदि प्रकार के चमत्कार इस श्रेणी के थे।

विपरीत स्थिति में, लाक्षणिक अर्थ में कही गई घटना भी चमत्कार बनती है। यह है दूसरी श्रेणी। संत तुकाराम की मोटे पुट्ठों की अभंगवाणी की चौपड़ियाँ सरिता के जल में डुबोने पर फूलकर ऊपर आ गईं यह एक साधारण बात है। इस

बात को लेकर संत तुकाराम जैसे निरहंकारी श्रद्धालु भक्त ने स्वाभाविक रूप से कहा कि 'विट्ठल ने मेरी अभंगों की चोपड़ी लौटा दी।' बस, यही भावना प्रबल होकर, लाक्षणिक अर्थ में रँगकर बताने के बाद आज उसकी एक अद्‌भुत कथा हो गई है। एक सरल घटना दैवी चमत्कार बन गई। दामाजी पंत के कथानक की भी ऐसी ही बात थी। कागज-पत्रों के आधार पर इतिहासाचार्य राजवाडे ने यह सिद्ध किया है। दामाजी पंत के दंड की राशि किसी बिठू हरिजन ने जमा कर दी और दामाजी पंत को बंदीगृह से मुक्त कराया। यह सत्य सरल बात है, परंतु इस हरिजन का नाम बिठू था और दामाजी पंत तो थे संत। इसलिए भाविक लोगों ने बिठू को चलने-बोलनेवाला विट्ठल बना दिया। और यह बात ही बाद में चमत्कार बन गई।

सही नाम पर श्लेष करके उस आधार पर अद्‌भुत चमत्कारों की रचना करना, केवल काल्पनिक कथाएँ बताना—यह चमत्कारों का तीसरा प्रकार है।

जाट एक जाति का सही नाम है, उसपर श्लेष करके एक अद्‌भुत कथा रची गई कि महादेव की जटा से उत्पन्न हो गए इसलिए नाम जाट पड़ा। नाई का नाम नाभिक ऐसी कल्पना करते ही उसपर तर्क किया गया कि वे ब्रह्मदेव की नाभि से जनमे थे। ब्राह्मण मुख से और क्षत्रिय बाहू से जनमे। इस सुंदर रूपक को शब्दश: सही मानने की मूर्खता इतना ही नाई-नापिक-नाभिक ये ब्रह्मदेव की नाभि से प्रकट हुए, यह विश्वास भी मूर्खता का है। कर्ण के नाम पर श्लेष हुआ और तुरंत इसका एक चमत्कार बन गया कि कर्ण कुंती देवी के कर्ण (कान) से जनमे थे इसलिए उसका नाम 'कर्ण' रखा गया था। जैसे अलौकिक पुरुषों का जन्म भी अलौकिकता से हुआ तो ही शोभा देता है, इस भोले आदर के कारण अनेक महापुरुषों को ईशसंभव या अयोनिसंभव की कल्पना करने की ओर सामान्य जनों का अधिक झुकाव दुनिया में सर्वत्र दिखाई देता है। जीसस बढ़ई का लड़का नहीं, वह कुमारी मेरी के ईश्वरीय गर्भ से हुआ, यह ख्रिस्त कथा देखिए! वही बात नामदेव की! श्रीनामदेव अलौकिक संत, इसलिए उनका जन्म भी अलौकिक होना चाहिए। यह खोज करने का कोई साधन? हाँ, वे दरजी थे न? अर्थात् मराठी में शिंपी यानी सीप या सीपी। पुराण कथाओं के समान यहाँ भी शिंपी का अर्थ सीप में या सीप से उत्पन्न ऐसा लगाया गया और नामदेव की जन्मकथा भी गढ़ दी गई। नामदेव के माता-पिता को एक दैवी सीप मिली। घर पर लाकर देखते हैं तो उसमें एक अद्‌भुत बालक। इसलिए नामदेव को 'शिंपी' (सीपी) कहते हैं।

चमत्कारों का एक चौथा प्रकार है। उसे नकल कह सकते हैं। सब एक जैसा कार्य। एक संत के शिष्य ने उसका एक चमत्कार बताया कि दूसरे संत के शिष्य ने वही चमत्कार अपने गुरु के चरित्र में जैसा-का-तैसा ही लिख दिया।

नामदेव ने मंदिर घुमाया, वैसी ही कथा गुरु नानक को मशीद से निकालकर बाहर भगाया तब मसजिद घूमने की कथा है। इसी प्रकार अन्य संतों की कहानियाँ बनती हैं। जनाबाई के पास पांडुरंग की दुशाला मिली, इसलिए पंडों ने उसपर चोरी का आरोप लगाया, उसे सूली पर चढ़ाने की सजा सुनाई गई। ऐसा ही संत चोखामेला के संबंध में हुआ है। उसके पास भी पांडुरंग का हार मिला, पंडों ने चोरी का आरोप लगाया, उसे बैलगाड़ी से बाँधकर मार डालने की सजा हुई। दोनों प्रकरणों में पांडुरंग दौड़ते हुए आए, उन्होंने भक्तों को छुड़ाया; परंतु पांडुरंग भक्तों पर इस जीव को बेचैन करनेवाला और उनके रिश्तेदारों को उनके मृत्युदंड की सजा सुनकर भयंकर दुःख देनेवाला संकट क्यों लाता है? इस प्रकार जान लेनेवाली विचित्र लीलाएँ करने की बुरी आदत पांडुरंग को लगी हुई है। यह वर्णन करते समय हम भगवान् को कितना उपद्रवी और निर्दयी बना रहे हैं, यह बात यह अद्‌भुत कथा बार-बार कहनेवाले भक्तजनों के और संतचरित्रकारों के ध्यान में नहीं आती।

उपर्युक्त नमूने के लिए सूचित सभी कारणों से, आज उपलब्ध संतचरित्र शब्दानुसार यथार्थ, ऐतिहासिक सत्य नहीं हैं। अधिक-से-अधिक इसे हम एक ऐतिहासिक काव्य समझकर पढ़ सकते हैं। उनके (चित्रपट) तो एक केवल चामत्कारिक नाटक होते हैं और उन्हें इस एक ही भाव से देखना चाहिए।

संतचरित्र जैसे हैं वैसे ही पढ़ना चाहिए, चित्र सजाने चाहिए

आज उपलब्ध संतचरित्र ऐतिहासिक दृष्टि से, और वे पूर्ण रूप से सत्य हैं ऐसी अंधश्रद्धा से उन्हें देखना या पढ़ना टाल सकें तो फिर वे जैसे हैं वैसे चित्रित करने में कोई विशेष धोखा नहीं। हम तो ऐसा कहेंगे कि उन संतचरित्रों में जोड़-तोड़ करके, उनमें जो चमत्कार हैं उन्हें छोड़कर, उन भोले और साधुशील महात्माओं के यथार्थ स्वरूप को छिपाकर, उनके पुरानी भक्ति विजय और संतलीलामृत के नए संशोधित संस्करण निकालना एकदम गलत होगा, लुच्चेगिरी का और अरसिकता का द्योतक भी होगा। उनके उस भोले भाव के अद्‌भुत चमत्कारों के, झाँझ-करताल के वातावरण में ही यह हमारी संतमंडली शोभा देती है। उन्हें आधुनिक बनाना उसका असहनीय उपहास (विडंबना) होगा। नामदेव-तुकाराम की वंदनीय और मोहक मूर्तियाँ उन पगड़ियों में, नामघोष में, तुलसी माला में, काला बुक्के में, उस अँगरखे में शोभा देती हैं। नामदेव को आज साइकिल पर बैठाना या तुकोबा को सूट-बूट पहनाना बुद्धि का पागलपन है। क्योंकि महिपति चरित्र में उस समय का जो वातावरण और भावनाएँ जिस प्रकार व्यक्त की गई हैं, वैसी व्यक्त नहीं हो

सकेंगी और हम उसमें से कुछ छोड़ेंगे, कुछ रखेंगे। उस समय का समाज-दर्शन यथावत् कराना भी इतिहास का एक कर्तव्य है। महिपति आदि कवियों का काव्य भी इस अर्थ में एक इतिहास है।

दूसरी बात यह है कि संतों के इन चित्रपटों से या चरित्र से उस चमत्कारादि के वातावरण से अद्‌भुत रस का उत्कृष्ट सम्यक् पोषण हो सकता है। अद्‌भुत रस अत्यंत आस्वाद्य रस है। इसके लिए जिस दृष्टि से हम उपन्यास या हजार रातों की कहानियाँ पढ़ते हैं केवल उसी दृष्टि से उन चमत्कारों को देखना चाहिए।

तीसरी बात यह है कि संतचरित्र के बहुत से चमत्कार यद्यपि लाक्षणिक, अविश्वसनीय या बनावटी लगते हैं तो भी उनके कारण इन साधु पुरुषों की सही महानता को बाधा नहीं आती। क्योंकि संतों की सही महानता इन चमत्कारों में नहीं, उनकी पवित्र वाणी में, ग्रंथों में और परोपकारी एवं उदात्त चरित्र में ही समाविष्ट है।

जब तक ज्ञानेश्वरी, तुकाराम, अभंग, एकनाथ, नामदेव आदि के अत्युदार चरित्र हमारी आँखों के सम्मुख हैं तब तक उनके संबंध में लगनेवाला आदर और पूजनीयता कम होने का डर नहीं। परंतु यदि वह आदर और पूजनीयता बुद्धिपूर्वक और यथाप्रमाण अनुभव करनी हो, तो उनके वे पुराने चरित्र जैसे थे वैसे ही रहने देना आवश्यक है।

इन सब कारणों से वर्तमान चित्रपटों में संतचरित्र जैसे हैं वैसे ही और उनके समय के अच्छे-बुरे, परंतु सही-सही वातावरण में चित्रित करने चाहिए।

किंतु संत कहते ही वह सर्वज्ञ या शक्तिमान या ईश्वर जिनके वचनों में हो, ऐसा होना चाहिए यह मान्यता केवल झूठी और पागलपन की है। यह बात पाठकों को या भक्तों को कभी भूलनी नहीं चाहिए। भक्ति का आनंद आध्यात्मिक होता है। उसके कारण कोई विशेष व्यावहारिक योग्यता या सृष्टि नियम का ज्ञान या राष्ट्र के ऐहिक उत्कर्ष के लिए उपयोगी कोई बात, विशेप रूप से शक्ति या युक्ति संतों के, योगियों के, भक्तों के शरीर को प्राप्त नहीं होती। कितने ही संत एकदम निरक्षर थे। नाम की महिमा से उन्हें बाराखड़ी भी स्वयं होकर ज्ञात नहीं हुई। फिर सर्वज्ञता का नाम ही मत लें। कितने ही एकदम भोले, जग तो क्या परंतु देश का भी भूगोल, इतिहास या राजनीति भी उन्हें ज्ञात नहीं थी। उनके प्रत्येक संकट में भगवान् प्रसन्न होते थे यह बात तो उनके चरित्रों को झुठलाती है। चोखा संत को, सनातनी लोगों ने जब हल को जोता था, तब पांडुरंग ने उनके प्राण बचाए। परंतु जब उस संत चोखा को मुसलमान बादशाह पकड़कर ले गया और उसने उससे बेगार करवाई, तब पांडुरंग उस तरफ गए भी नहीं। सीमा की दीवार बनाते-बनाते गिर गई जिसके नीचे दबकर संत चोखामेला मर गया। यह बात

संतचरित्रों में लिखी है। फिर उस समय पांडुरंग प्रसन्न क्यों नहीं हुए? नामदेव, तुकारामादि के घर महिलाएँ और बच्चे भूख से मर गए। तुकाराम लिखते हैं, ''स्त्री एकी अन्नान्न करून मेली!'' (अर्थात् एक स्त्री अन्न-अन्न करते हुए मर गई) 'नामाचा महिमा' एक प्रकार का आध्यात्मिक आनंद उस व्यक्ति को दे सका तो भी उस व्यक्ति के या राष्ट्र के जीवन में 'नाम की महिमा' की कुछ भी साख नहीं होती, यह स्पष्टता से ध्यान में रखना चाहिए।

संत अपने अन्य गुणों के कारण ही महान् होते हैं। उनका या भक्तिपंथ का बेकार गुणगान करने से उनके चरित्रों की दुर्गति हुई है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए उदाहरणस्वरूप एक सामान्य भक्त द्वारा गाया हुआ और संत नामदेव के नाम पर चलाया हुआ यह चमत्कार देखें।

पुराने संत महिपति ने नहीं अपितु आज के आजगाँवकर के समान लेखक ने श्रद्धापूर्वक 'निर्भीड' नामक मासिक पत्र के फरवरी अंक में ऐसा वर्णन किया है कि 'एक ब्राह्मण ने नामदेव को बेदर जाने का आग्रह किया। नामदेव जाने को तैयार नहीं थे। पांडुरंग ने उन्हें जाने की आज्ञा दी (सरल बात यह है कि नामदेव की भी जाने की इच्छा हो गई। परंतु कर्ता भगवान्! इस तात्त्विक भाषा के ढाँचे में वह बात बताते ही वही अक्षरश: सत्य मानकर चमत्कार हुआ। प्रत्यक्ष पांडुरंग ने कहा, 'जाओ'।) उसके बाद ब्राह्मणों का एक बड़ा समूह लेकर भजन एवं नामघोष करते हुए नामदेव बेदर नगर में प्रवेश करने लगे। उस समय बेदर का सुलतान महल की छत पर बैठा था। उसने वाद्यों की आवाज सुनी और पताकाओं के साथ समूह को देखा तब अपने प्रधान काशीपंत से पूछा, ''यह किसकी सेना है, जो अपनी राजधानी पर आक्रमण कर रही है?'' काशीपंत ने सेनापति को बुलाकर कहा कि 'यह सेना किसकी है? कहाँ जा रही है? इधर आने का उद्देश्य क्या है? आदि बातों का पता लगाओ!'

तब बहुत से पठान सैनिकों को लेकर सेनापति सीमा पर गए और उन्होंने तुरंत नामदेव की भजन मंडली को घेर लिया। ब्राह्मण भयग्रस्त होकर पांडुरंग को पुकारने लगे। नामदेव ने आगे बढ़कर सेनापति से कहा, ''मैं त्रैलोक्यनाथ पंढरपुर के पांडुरंग का सेवक हूँ। ये ब्राह्मण भी उत्सवार्थ यहाँ पर आए हैं। (आश्चर्य है कि यह उन्मत्त बादशाह, तीर्थयात्री और सेना में जो अंतर है वह भी नहीं जान पाया) आप लोग यह घेरा उठा लें और हमें मार्ग दें।'' सेनापति ने तुरंत सैनिकों का घेरा उठा लिया। देखा यह वर्णन। एकदम अरेबियन नाइट्स की शैली। बादशाह छत पर से देखता है तब तक उसे बड़ी सेना के आगमन की सूचना नहीं थी। इतनी सुलतानी राज्य व्यवस्था ढीली-ढाली नहीं होती थी। नामदेव के साथ अधिक-से-अधिक

दो-तीन सौ ब्राह्मणादि की मंडली थी। कथा में यह लिखा है। पंचा-पगड़ी-पताका-धारी वह मुट्ठी भर समाज बादशाह ने देखा। परंतु खड्ग, बंदूक, तोप आदि कुछ न होते हुए भी उसे वह बड़ी सेना लगी। काशीपंत प्रधान को भी कुछ पता नहीं था। ऐसे प्रकरण में पूछताछ करने के लिए कोतवाल को बुलाना चाहिए, सेनापति को नहीं। सेनापति इतना भोला-भाला था कि जब तक बादशाह ने नहीं देखा तब तक बड़ी सेना आने की सूचना उसको नहीं मिली थी। लगता है, सेनापति कभी छत पर बैठता ही नहीं था। आश्चर्य की बात तो यह है कि सेनापति पठानों की दूसरी बड़ी सेना लेकर गया। सामने के समूह के पास खड्ग, बंदूक, तोप आदि आयुध नहीं हैं और वे केवल पंचा, पगड़ी और पताकाधारी भजनी लोग हैं, यह देखते हुए भी उसे वह बड़ी सेना लगी। लगता है, सेनापति आँखों पर तथा कानों पर पट्टी बाँधकर गया था। बाद में वह घेरा डालता है तो ब्राह्मणादि वारकरी भय से काँपने लगे। पांडुरंग, त्रैलोक्यनाथ के ये सेवक! ऐसा नामदेव ने कहा यह यदि सही है तो उस त्रैलोक्यनाथ ने पहले उस उन्मत्त बादशाह का कान पकड़कर उसे छत पर ही क्यों नहीं बताया कि ये वारकरी हैं, सैनिक नहीं। बेचारे वारकरियों को भयग्रस्त होने तक पांडुरंग ने उपद्रव क्यों होने दिया? नामदेव के 'घेरा उठाओ' कहते ही सेनापति ने घेरा उठाया। कितने भोलेपन की कथा है यह! सेनापति तो बादशाह का गुलाम था। बादशाह की आज्ञा होने तक तो रुकता। नामदेव की आज्ञानुसार उसने सेना का सशस्त्र घेरा कैसे उठाया?

सेनापति ने बादशाह के पास आकर समस्त वृत्तांत कथन किया। बादशाह को क्रोध आया। नामदेव को उनके वारकरी मंडली सहित पकड़कर लाया गया। वह सारी ब्राह्मण मंडली दो सौ की थी। उन्हें गारदियों के हाथों से मारते-पीटते बेदर के बाजार में घुमाया। हिंदू लोग दुःखी हो गए, परंतु बादशाह के जुल्म को रोकने की सामर्थ्य उनमें कहाँ थी? (यह प्रश्न पूछनेवाले आजगाँवकर स्वयं से यह प्रश्न क्यों नहीं पूछते कि 'उस नामदेव के धनी' त्रैलोक्यनाथ उन गरीब सैकड़ों भक्तों की मार-पीट और अपमान देखते रहे, इतने कठोर और अनाथ वे कैसे हो गए? पांडुरंग ने ही नामदेव को उन ब्राह्मणों के साथ जाने के लिए कहा था। फिर उसी समय पांडुरंग ने बादशाह को बाँधकर उस दिन के लिए जेल में बंद क्यों नहीं रखा? एक तो बेदर के बादशाह की अपेक्षा यह अपना पांडुरंग दुर्बल है या समर्थ होते हुए भी अपने भक्तों का अपमान और छल निष्कारण चलने देना इतना खटनट है। इस प्रकार की व्यर्थ कथाएँ अपने देवताओं का ही अपमान करती हैं। यह बात हमारे भक्तों के ध्यान में भी नहीं आती। भोली तारतम्यशून्यता से आजगाँवकर जो लिखते हैं उसका सारांश ऐसा है।) उन सब भक्तों को बादशाह के सम्मुख भेड़ों के

समान खड़ा किया गया, बादशाह ने एक गाय लाकर उसका वध करवाया, तब नामदेव ने भगवान् की आराधना की, गाय जीवित हो उठी। बादशाह ने नामदेव को साष्टांग प्रणाम किया। भगवान् ने भक्त की पुकार सुनकर हिंदू धर्म की लज्जा रख ली। (लाज रखी या लाज ली? यह नाम की महिमा या कलंक। जब भगवान् आए थे तो हिंदुओं को इतना छलनेवाले उस उन्मत्त बादशाह को खटिक के हाथ में देकर उन्होंने उसे मरवा क्यों नहीं डाला? एक गाय जीवित करके पुन:-पुन: शताधिक गायों को मारकर खानेवाले और हिंदू को छलनेवाले उस मुसलमान बादशाह को जीवित रखना? यही बादशाह थोड़े दिन के बाद विजयनगर के रामराय का सिर काटेगा, सहस्राधिक हिंदुओं का तालिकोट में कत्ल, हिंदू राजकन्याओं पर बलात्कार करवाएगा, मंदिरों पर हल चलाएगा, यह न समझनेवाला त्रैलोक्यनाथ सर्वज्ञानी पांडुरंग राजनीति का अनाड़ी था क्या? फिर एक गाय जीवित करके उन्होंने हिंदू धर्म की लाज किस प्रकार रख ली? परंतु भक्त जितने कमजोर हैं उतने ही उनके देव भी। भक्त जितने राजनीति में भयग्रस्त या भोले उतने ही उनके देव भी। गाय जीवित कर दी इस घटना के लिए ऐतिहासिक साक्ष्य भी नहीं। यदि इसको सत्य भी मानें तो भी नाम की महिमा या संत की सामर्थ्य अद्भुत नहीं ठहरती। यदि मृत को जीवित करने की सामर्थ्य गलती से भी नामदेव में या नाम की महिमा में होती तो एक ही गाय जीवित करने की बजाय उस पीढ़ी में किसी सज्जन को मरने नहीं देना चाहिए था। संत चोखोबा सीमा की दीवार के नीचे दबकर मर गए, नामदेव ने दु:ख प्रकट किया। उनका प्रेत ढूँढ़ते समय ढेर सारी हड्डियाँ नामदेव ने ही निकालीं। परंतु वहाँ पुन: नाम का गजर करके उन्हें चोखा को जीवित करना संभव नहीं हुआ। उस गाय की अपेक्षा वह संत चोखा नामदेव को सहस्रगुना प्रिय था। उसकी मृत्यु के कारण वे अति दु:खी हो गए थे। फिर उसे क्यों जीवित नहीं किया?

रामदास ने चिता पर जानेवाले एक शव को जीवित उठाया ऐसा चमत्कार लिखा है। चिता पर से अनेक प्रसंगों में मृत शरीर जीवन शक्ति का यंत्र पुन: शुरू होने से उठ बैठे हैं। व्यवहार में ऐसी बात कभी-कभी हो जाती है। परंतु रामदासजी का आशीर्वाद देना और मृत शरीर जीवित होना यह घटना एक ही समय में हो गई और वह 'चमत्कार' माना गया। यदि समर्थ को संजीवनी शक्ति की सामर्थ्य होती तो बाजी देशपांडे पावनखिंडी में या तानाजी सिंहगढ़ में युद्ध में गिर पड़े तब शिवाजी राजा को शोकाकुल देखकर रामदास के आशीर्वाद से हिंदू राष्ट्र के इन नेताओं को जीवित नहीं किया गया होता? प्रत्यक्ष शिवाजी राजे 'गुड़घी' रोग से आसन्नमरण हैं यह बात रामदास को पता चली, समर्थ को दु:ख हुआ, तब कम-से-कम शिवाजी को तो जीवित रखना था। शिवाजी की मृत्यु की समर्थ को खुशी

नहीं थी। इसके विपरीत भय था। राजे शिवाजी हमें छोड़कर चले गए। अतः समर्थ इतने दुःखी हुए कि उन्होंने अन्न-जल त्याग दिया। एक यःकश्चित् स्त्री के लिए, उसके पति को 'जीवित हो' कहते ही जीवित करने की सामर्थ्य समर्थ में थी फिर भी बाजी, तानाजी, शिवाजी की पत्नियों को और प्रत्यक्ष महाराष्ट्र राज्यलक्ष्मी को वैधव्य में डालते इतने समर्थ क्या भोले थे? नामदेव दुष्ट थे ऐसा कहिए या रामदास के या नामदेव के यह साधारण कार्य गाय या मनुष्य को जीवित करने के नाम महिमा के 'चमत्कार' बेकार हैं, वह बोलने-होने की संयोग की बात है या इसे संशयास्पद योगायोग कह सकते हैं। अन्य कुछ भी हुआ तो नाम महिमा से दुनिया में कुछ भी किया जा सकता है या संतों के ईश्वरीय अधिष्ठान के बिना कुछ एक यश भौतिक राजनीति में नहीं आएगा ऐसी दुर्बल, भोली और पागलपन की भाषा तो छोड़ देनी चाहिए। हम समझें कि हिंदुओं का छल करनेवाले इस बादशाह का हाथ काटने के लिए मना कर देने के लिए वह देव कुछ सहनशील या मंदबुद्धि नहीं है। ऐसी शंका भी नहीं की जा सकती। कारण आजगाँवकर ने आगे ठोक-बजाकर कहा है—

नामदेवादि संतों के छल का प्रायश्चित्त बेदर के बादशाह को तुरंत भयंकर रीति से भुगतना पड़ा था। उसकी प्रजा को भी भुगतना पड़ा, क्योंकि थोड़े ही दिनों में सुलतान के बाड़े में और नगर के घर-घर में असंख्य साँप निकले और सैकड़ों लोगों को डस लिया। सर्प दंशितों को खाटों पर डालकर सैकड़ों लोग राजभवन आए।

'काळे, पिवळे, आरक्त वर्ण। गुजगव्हाळे लंबायमान॥
भरोनी निघाले घर आंगण। सर्पे रोधिली अवधी धरित्री॥
पाय ठेवावा कोठेतरी। हत्ती घोड़े राव लष्कर॥
सर्पे रोघिले अवधे अंबर॥'

अर्थात्—काले, पीले, लाल वर्ण के, छोटे-बड़े लंबे सर्प निकले। उन्होंने घर, आँगन और संपूर्ण धरती घेर ली। कहीं पाँव रखने के लिए भी जगह खाली नहीं थी। हाथी, घोड़े, लाव-लश्कर और आकाश को भी सर्पों ने घेर लिया था।

यह स्पष्ट रूप से कवि कल्पना है। सत्य का जरा भी अंश उसमें नहीं। समस्त पृथ्वी और आकाश सर्पमय हो गया था ऐसा कहने की बजाय यदि हम कहें कि कवि के दिमाग में ही सर्प भरे हुए थे तो अधिक सही होगा। उन सर्पों के रंग भी दिए हैं। मानो दो पीढ़ियों के बाद जनमे महिपति ने प्रत्यक्ष देखकर लिखा था। इस प्रकार के कविता के सबूत पर ऐसे अद्‌भुत चमत्कार को सत्य मानने के लिए

कहते हैं। और 'सिद्ध' होने की बात भी बताते हैं।

इसके उपरांत सुलतान भयभीत हुआ। उस काशीपंत को नामदेव की ओर भेजा। काशीपंत ने संत नामदेव से प्रार्थना की कि संत महाराज, महावैष्णव के छल का प्रायश्चित्त आपने सुलतान को दिया। आपके शाप ने कितने ही लोगों के प्राण हरण कर लिये हैं। उन मृतों और स्त्री-बच्चों पर आपको दया नहीं आई तो प्रत्यक्ष भगवान् भी उनकी रक्षा नहीं कर पाएँगे। अत: उनपर दया कीजिए और अपना सर्पास्त्र वापस लीजिए। नामदेव इस समय ब्रह्मानंद में मग्न होने के कारण बेहोश थे। उनके पीछे खड़े पांडुरंग ने उन्हें सचेत किया। तब उन्हें शव और स्त्री-बच्चों का रुदन देखकर दया आ गई। 'भगवान्, यह दु:ख दूर करो' ऐसी पांडुरंग से प्रार्थना की। तब सारे मृत-शरीर जीवित होकर खड़े हो गए और सर्प भी अदृश्य हो गए।

अपराध किया सुलतान ने, परंतु भगवान् ने जो सर्पास्त्र छोड़ा उस कष्ट से सैकड़ों प्रजाजन मर गए; मुसलिम ही नहीं अपितु केवल 'प्रजाजन' यानी हिंदू भी। स्त्री-बच्चे हिंदुओं के घर-घर चिल्लाते रहे, परंतु जिस दुष्ट ने अपराध किया, संतों से छल किया, उस सुलतान को उन सर्पों में से कोई स्पर्श भी नहीं कर पाया। क्षण के लिए कम-से-कम भूमि पर लोटे इतना भी उसे काटा नहीं और न उसके स्त्री-बच्चों को डसा। संत तो ब्रह्मानंद की बेहोशी में थे परंतु जिसने यह सर्पास्त्र बदला लेने के लिए छोड़ा था वह भगवान् भी होश में नहीं था—ऐसा कह सकते हैं। उस पांडुरंग में यदि कोई 'राम' होता तो उसने सर्वप्रथम उस रावण को पकड़ा होता, पहला सर्प जो छोड़ना था वह उस सुलतान की नटई में दाँत घुसेड़ता जिसने हिंदू-वैष्णवों का छल किया था। हाँ, काशीपंत इतना बड़ा राजनीतिक प्रधान, उसने क्यों सर्पास्त्र पीछे लेने की बात की। उसे तो इसके विपरीत कहना था कि मुसलमानी तख्त को तोड़कर वैष्णवों का झंडा फहरानेवाली हिंदू पदपादशाही की स्थापना करो। परंतु ऐसे संत, स्वप्न के सर्पास्त्र और ऐसे प्रधान हिंदुओं में तब तक थे इसलिए वह बादशाही तख्त भी कायम रहा इसमें क्या आश्चर्य! और जब रामदास जैसे संत, बाघनख, भवानी भाऊ साहेबी मार जैसे शस्त्र और प्रथम बाजीराव जैसे प्रधान मंत्री हुए तब उन तख्तों का नाश हो गया इसमें क्या आश्चर्य।

वास्तविक रूप से देखा जाए तो नामदेवादि पूज्य संतों ने उस स्थिति में उनकी शक्तिनुसार और बुद्धिनुसार जितना कर सकते थे उतना जनहित किया, वे उनके उपकार ही थे। यह उनकी नाम महिमा थी। इस महिमा से इहलोक के कठिन जीवन से त्रस्त मन को अभी भी आस-पास की स्थिति का विस्मरण होने में और ब्रह्मानंद प्राप्त करने में सहायता मिलती है। इस नाम का व्यक्तिगत उपयोग होता है।

परंतु उससे ऐहिक सृष्टि की घटनाओं में उस नाम की महिमा अत्यल्प भी उपयोगी नहीं है। ब्रह्मानंद मिला, संत हो गया, समाधि सिद्ध हो गई कि वह मनुष्य कर्तुमकर्तुम समर्थ, सर्वज्ञ, सब प्रकरणों में परम प्रमाण ऐसा कोई मानव बनता है। उसके कहने पर ईश्वर भी उलटे-सीधे कार्य करने लगते हैं, इस भोली-भाली समझ के कारण ही इन संतों की फालतू विडंबना होती है। वह गलत समझ भी चित्रपटों के कारण अधिक प्रचलित होने से संभव न रहे; अत: उसका विवेचक बुद्धि से तीव्र विरोध करना प्रथम कर्तव्य बनता है।

□

लोकमान्य की स्मृतियाँ कैसे पढ़नी चाहिए?

लोकमान्य तिलक की स्मृतियाँ और जनश्रुतियाँ पुणे के श्री बापटजी ने संगृहीत कर केवल महाराष्ट्र को ही नहीं अपितु पूरे हिंदुस्थान को उपकृत किया है। लोकमान्य जैसे तपस्वी, राष्ट्र के नेतृत्व के महत्कार्य करनेवाले पुरुष के जीवन में सैकड़ों प्रसंग, सैकड़ों व्यक्ति, सैकड़ों स्थितियाँ और सैकड़ों विषय उत्पन्न और नष्ट होते थे। इन प्रसंगों, इन विषयों में इस असामान्य धुरंधर नेता ने कैसा-कैसा संघर्ष किया था, वे कैसा समन्वय करते थे, पेंच लड़ाते थे और पैंतरे बदलते हुए अपना राष्ट्रीय कार्य निरंतर चलाते रहते थे वह इतिहास इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक के कारण अत्यंत सुबोध, मनोरंजक, परंतु परिणामकारक रीति से लोगों को ज्ञात हो सकता है।

परंतु इस इतिहास का मर्म समझने के लिए ये विभिन्न स्मृतियाँ तथा जनश्रुतियाँ कैसे पढ़नी चाहिए यह मात्र समझ में आना चाहिए। किसी भी महान् पुरुष की स्मृतियाँ लिखनेवाले उनके समान महान् होते हैं ऐसा नहीं। अर्थात् इन स्मृतियों को लेखक ने यथाशक्ति विस्तार से लिखने का प्रयास भी किया तो भी नैसर्गिक स्मृति विभ्रम या बुद्धि समता का काफी कुछ प्रभाव लेखन पर पड़े बिना नहीं रहता और उसे धुँधला किए बिना नहीं रह सकता। यह एक स्वाभाविक बात है।

दूसरी बात यह कि चाहे विस्तार से लिखकर रखी स्मृतियाँ ही क्यों न हों, परंतु वे उस फुटकर प्रसंग की होने के कारण तथा जिस परिस्थिति में उस व्यक्ति विशेष से बात कही गई वह परिस्थिति और वह व्यक्ति (जिसे बात कही गई) हमें पूरी तरह से ज्ञात है ऐसा समझा नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए शिवाजी महाराज की एक कल्पित कथा ली जा सकती है। शिवाजी महाराज एक दिन मंत्रियों के साथ बैठे थे, तब एक मंत्री विशेष ने पूछा कि उत्तर के प्रदेशों पर आक्रमण करें या नहीं? उस मंत्री के संबंध में महाराज के मन में कुछ प्रतिकूल विचार थे, क्योंकि आशंका उत्पन्न करनेवाली घटनाएँ हुई थीं। परंतु महाराज ने गंभीर स्वभाव के

अनुरूप यह बात किसी से नहीं कही। इसलिए ऐसे संशयास्पद मनुष्य को पूछताछ करने के पूर्व उसे कुछ दिन पास में रख लेना चाहिए, परंतु उसपर विश्वास नहीं रखना है ऐसा सोचकर महाराज ने कहा, ''नहीं, नहीं, उत्तर से अपना क्या संबंध! अपनी उत्तर पर आक्रमण करने की बिलकुल इच्छा नहीं।'' यह वाक्य उस सभा में बैठे हुए वृत्तलेखक ने ध्यान में रखा और किस परिस्थिति में यह वाक्य कहा गया था इसकी उसे कल्पना न होने के कारण महाराज की मृत्यु के बाद उसने उनकी वह स्मृति प्रसिद्ध की, जिससे सामान्य पाठकों की मान्यता यह हुई कि महाराज उत्तर पर सवारी करने के विरुद्ध थे। इतने पर यह बात समाप्त नहीं हुई, श्रीमंत बाजीराव जब 'जड़ पर ही धावा बोलना चाहिए' ऐसे निश्चय से गर्जना करते हुए पराक्रम की कुल्हाड़ी लेकर चले तो उस आक्रमण के कारण अपने प्राण संकट में हैं, ऐसा समझनेवाले भयग्रस्त लोगों ने शिवाजी महाराज क़ी उपर्युक्त स्मृति का आधार लेकर कहा था कि शिवाजी महाराज भी उत्तर पर चढ़ाई करने के विरुद्ध थे। अपनी शक्ति इतनी प्रबल नहीं। और अपनी भीरुता ही विद्वत्ता है ऐसी प्रामाणिक समझ स्वयं की करने लगे और बाजीराव को पागल करार देने लगे।

इस कल्पित कहानी में दरशाया गया परिवर्तन, स्मृतियाँ पढ़ते समय जो संदर्भ ध्यान में रखना चाहिए वह न समझने से हुआ। इस उदाहरण से किसी भी बड़े व्यक्ति की स्मृतियाँ पढ़ते समय प्रमुख बात जो पाठकों को ध्यान में रखनी चाहिए वह यह है कि किसी एक स्मृति में व्यक्त उनके विचार उनके सिद्धांत थे ऐसा नहीं कहना चाहिए। उस विषय के संबंध में समय-समय पर विभिन्न प्रसंगों में और परिस्थिति में जो विचार व्यक्त हुए हैं उन सबको संगृहीत करके उनका समन्वय करना चाहिए और उनमें समानता दिखाई दी तो उस पुरुष के विचार ऐसे थे ऐसा सिद्धांत करना चाहिए। कभी-कभी ऐसा भी होगा कि एक ही विषय पर उस पुरुष के इतने विचित्र विचार विभिन्न स्मृतियों में प्रकाशित होंगे कि उनका परिस्थिति आदि मर्यादाओं का विचार करने पर भी समन्वय नहीं किया जा सकेगा। ऐसे समय में उस विषय पर उस पुरुष के निश्चित विचार यही थे ऐसा सिद्धांत नहीं कहना चाहिए या उनका विचार परिवर्तित होता गया ऐसा सिद्धांत कहना चाहिए। तथापि उस दूसरे सिद्धांत की अपेक्षा पहला सिद्धांत अधिक तर्कशुद्ध है।

परंतु कई बार ये सिद्धांत ध्यान में न रखने के कारण लोकमान्य जैसे विलक्षण पुरुष के भिन्न स्थिति में 'देश काले च पात्रे च' इस न्याय से एक ही विषय पर दिए गए भिन्न-भिन्न विचारों से हम अनुकूल विचार या वाक्य लेकर प्रथम स्वयं का, बाद में दूसरों का दिशाभ्रम करने का दोष जाने-अनजाने कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए अस्पृश्यता निवारण के संबंध में लोकमान्य के विचार का प्रश्न

लें। दूसरे खंड में शंकराचार्य डॉ. कुर्तकोटी ने लोकमान्य की स्मृतियों की आप अस्पृश्यता निवारण सभा का अध्यक्ष पद तब तक न स्वीकारें जब तक जनमानस उस तरफ नहीं झुकता, के संदर्भ में यह कहा कि लोकमान्य ने उनसे कहा। इस प्रकार शंकराचार्य डॉ. कुर्तकोटी के द्वारा प्रकाशित इस विचार को उस समय में लोकमान्य के विचार मानकर कुछ लोग कहते थे, 'लोकमान्य को देखिए, जब तक प्रत्यक्ष रूप से अस्पृश्यता का त्याग करने के लिए समाज तैयार नहीं होता तब तक ऐसे आंदोलन में भाग लेने के वे बिलकुल विरुद्ध थे। और इसलिए हम भी समाज अनुकूल होने तक इस आंदोलन में हाथ नहीं बटाएँगे।' प्रत्येक सामान्य व्यक्ति यदि तिलकजी द्वारा शंकराचार्य डॉ. कुर्तकोटी को दिया हुआ उपदेश अपने लिए समझने लगा और समाज के तैयार और अनुकूल होने तक अस्पृश्यता निवारणार्थ प्रत्यक्ष कुछ करने से मुँह मोड़ेगा तो वह समाज तैयार होगा कैसे? क्या किसी दिन प्रभात में सूर्य उगते ही समस्त हिंदू समाज, पूर्व में पृथ्वी गाय का या प्रस्तुत योग्यता की दृष्टि से बैल का रूप धारण करके खड़ा होगा और करुणापूर्वक रँभाकर कहेगा, ''हे श्रीमान गोमा गणेश, मैं हिंदू समाज रात में नींद में करवट बदलते-बदलते मेरा मन बदल गया, अतः आज अस्पृश्यता निवारण के लिए तैयार हो गया हूँ।'' ऐसा क्या इस व्यक्ति को लगता है? और वैसा वह सोचता भी हो तो भी लोकमान्य को ऐसा नहीं लगता था। कारण एक और स्मृति में श्रीमान शिंदे ने कहा है कि जब मैंने तिलकजी से पूछा कि मैं अस्पृश्यता निर्मूलन का कार्य छोड़ दूँ क्या? तब तिलकजी ने स्पष्ट रूप से कहा था कि वैसा मत कीजिए। (खंड दूसरा, पृ. २०३) शिंदे अस्पृश्यता निर्मूलन के लिए प्रत्यक्ष हरिजन-मांग आदि जातियों में मिलकर उन्हें शिक्षित कर काम-धंधे देकर केवल सार्वजनिक ही नहीं अपितु घरबार से भी अस्पृश्यता का नाम हटा देना चाहते थे। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को पशु से भी दूर का समझे इस नीच प्रवृत्ति का हमें अपने बीच से नाश करना है इस प्रकार की कट्टरता का उनका स्वरूप था, फिर भी उन्हें तिलकजी ने आग्रह से वे प्रयास जारी रखने के लिए कहा। क्योंकि वे जानते थे कि समाज निर्माण प्रयासों से सिद्ध होता है। शंकराचार्य को वह तत्पर समाज से मिलना होता है और वह भी कभी-कभी। परंतु अन्य लोगों को समाज सिद्ध करने के लिए ही अस्पृश्यता निर्मूलन आदि आंदोलन हाथों में लेने पड़ते हैं। इस प्रकार के क्रांतिकारी आंदोलन हाथ में लेने के पूर्व कभी-कभी अपना सिर भी हाथ में लेना होता है। इसलिए किसी को डर लगता हो और ऐसा करने की तैयारी न हो तो न करे। परंतु अपने भय को लोकमान्य के विचारों की आड़ देकर वही होशियारी करके स्वयं को और दूसरे को फँसाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जिन्हें लोकमान्य के अस्पृश्यता संबंधी सही विचार

जानने हैं उन्हें उपर्युक्त स्मृतियों के साथ उस विषय पर लिखी सभी स्मृतियाँ पढ़नी चाहिए, ताकि उनके सही विचार क्या थे वह ज्ञात हो। इस संबंध में लोकमान्यजी कहते हैं, ''पेशवा के समय भी अस्पृश्यों के हाथ का पानी ब्राह्मणों ने पीया था। यदि अस्पृश्यता भगवान् को मान्य हो तो भगवान् को भी मैं भगवान् मानने को तैयार नहीं हूँ।'' इस वाक्य पर सात हजार से अधिक व्यक्तियों के समाज ने इतने जोर से तालियाँ बजाईं कि जिससे मंडप के नीचे गिरने का भय हो गया। अब इस बीमारी का नाश होना ही चाहिए (खंड-२ र, पृ. २०४) यह मत तिलकजी ने सार्वजनिक भाषण में व्यक्त किया था, अकेले-दुकेले व्यक्ति के पास नहीं।

समाज में कोई बात क्रांतिकारी है यह समझते ही उसको नष्ट करने के लिए लोकमान्य समाज के आगे एक नहीं, दस कदम चलकर वहीं मजबूती से कैसे बैठ जाते थे यह जिसको देखना हो उसे उनके संघर्ष के समय का स्फूर्तिदायी वृत्तांत स्मरण करना चाहिए। 'मरी भैंस को मन भर दूध' इस कहावत के अनुसार लोकमान्य की मृत्यु के उपरांत अब जो लोग ऐसा कहते हैं कि 'लोकमान्य को देखो, समाज सुधार करना हो तो लोकमान्य ही करें।' ऐसा कहनेवाले लोगों की प्रवृत्ति के कारण ही चाय प्रकरण में उनके जीते-जी दस-बारह वर्षों तक उनका कठोर बहिष्कार किया गया था। उन्हें पुरोहित तक उपलब्ध नहीं होने दिया गया। विवाह की अक्षत (निमंत्रण) भी उन्हें मंदिर में जाकर देनी पड़ी थी। वाई के धर्मपत्र में तिलक के समाजसुधार-कार्यों को वाई से प्रकाशित होनेवाले धर्मपत्र में अनेक धर्ममार्तंड तिलक के समाजसुधार-कार्यों को प्रच्छन्न पाखंड कहते हुए उनपर हमले कर रहे थे। फिर भी उन्हें जो बात न्याय्य दिखी, समाजहितकारक दिखी, उन्होंने समाज के आगे सावधानी से कदम बढ़ाते लोगों को कहीं ऐसे लोकमान्य ने 'गीता रहस्य' में पूरी प्रामाणिकता से पूर्व आचार्यों का मतों का खंडन किया। उस समय उनपर जो शाब्दिक मार पड़ी उससे भी यही सीख मिलती है कि समाजहितार्थ समय पर दस कदम आगे जाने से भी वे नहीं डरते थे। पीछे हटते तो वे अपने सामाजिक कर्तव्य को कीर्ति लालसा के कारण बलि देते। ऐसा उन्होंने नहीं किया। इसीलिए वे लोकमान्य कहलाए।

एक ही प्रसंग की स्मृति भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी ग्रहण शक्ति एवं धारणा शक्ति के अनुसार कैसी भिन्नता से देते हैं यह यदि देखना हो तो नासिक के क्रांतिकारियों से उनसे हुए भेंट का वर्णन उस समय उपस्थित भट और दातार इन दो प्रख्यात महाराष्ट्रियनों द्वारा दी हुई स्मृतियों में देख सकते हैं। श्री भट के प्रथम खंड में दिए हुए इस प्रसंग की स्मृति पढ़कर, तिलकजी की उस भेंट के संबंध में जो कल्पना मन में उभरती है उसकी अपेक्षा श्री दातार शास्त्री द्वारा दी हुई दूसरे खंड

की—उसी भेंट का वर्णन और मतितार्थ पढ़ा तो एकदम अलग प्रकार की कल्पना मन में आती है। यह उदाहरण इसलिए दिया गया है कि ऐसी भिन्न स्मृतियाँ एकत्र करके पढ़े बिना महान् लोगों के व्यवहार के संबंध में या विचारों के संबंध में कुछ यथार्थ कल्पनाएँ नहीं कर सकते हैं। एक के या एकाध स्मृति से उसके एकपक्षीय या एकांगी होने की आशंका रहती है।

इस नियम का पालन न करते हुए किसी स्मृति प्रसंग का कोई वाक्य उठाकर वही मत प्रामाणिक है ऐसा समझने से जनता को कैसा राष्ट्रविघातक मोड़ मिलता है इसका परिणामकारक उदाहरण चाहिए तो वह भी दुर्भाग्य से अपने अवलोकन में अनेक बार आया है। लोकमान्य बार-बार किसी कार्य के बारे में कहते थे, ''मनुष्य कहाँ है? चालीस होंगे तो मैं आऊँगा, सौ होंगे तो मैं आऊँगा।'' ऐसी कोई लाक्षणिक संख्या बताकर साहसी व्यक्ति को, आप वैसा साहस क्यों नहीं करते, ऐसा वे कहते थे। अब लोकमान्य के समान लोकनायक ने कुछ व्यक्ति दिखाए, मैं उनका नेतृत्व करूँगा ऐसा कहने में बहुत अर्थ है। परंतु उसी वाक्य का उच्चारण करके यदि प्रत्येक मनुष्य दूसरों को उत्तर देने लगा तो कितनी अव्यवस्था उत्पन्न होगी वह देखिए। लोकमान्य के ये वाक्य राजनीति के साहसी आंदोलन के संबंध में होते थे। दुर्भाग्य से हमें राजनीति के संबंध में बोलना मना है। अस्पृश्यता को हम नष्ट करना चाहते हैं, इस हमारे कृत्य का बदला लेने के लिए अस्पृश्यता ने राजनीति में अस्पृश्यता का पालन करने के लिए हमें बाध्य कर दिया है। अत: वह प्रश्न छोड़कर संगठन के राष्ट्रीय और धार्मिक कार्य में भी, 'मनुष्य बल लाओ, मैं आता हूँ' यह वाक्य आलसी और भयग्रस्त लोगों का किस प्रकार आदर्श वाक्य बन रहा है और इसके कारण कोई भी नया साहस, नई उड़ान, राजनीतिक कार्य में भी कैसा असंभव हो रहा है इतना ही हम देखेंगे।

मान लीजिए किसी व्यक्ति ने चंदा इकट्ठा करने का विचार किया। उसका कार्य सबको अच्छा लगता हो फिर भी यदि चंदा देनेवाला प्रत्येक व्यक्ति उसे कहे कि आप सौ रुपए जमा कर लाएँ और फिर एक सौ एकवाँ रुपया मेरा होगा। अब वह व्यक्ति जिसके पास जाए वह हरेक उससे कहे कि मुझे चंदे के जमा सौ रुपए दिखा दो फिर मैं एक सौ एकवाँ रुपया दूँगा। इतना ही नहीं अपितु जो शुल्क जमा करना चाहता है वह भी यदि लोकमान्य का भक्त होने के कारण, इस सामान्य वाक्य को आदर्श मानकर चलनेवाला हो तो अवश्य कहेगा कि सौ रुपए इकट्ठा होने पर मैं अपना भी एक रुपया दे दूँगा। पहले देना शायद मूर्खता होगी। ऐसी स्थिति में सौ रुपए कभी इकट्ठा होंगे ही नहीं। अर्थात् चंदे की राशि शून्य से अधिक कभी नहीं होगी। यही स्थिति मनुष्यों की संख्या के संबंध में है। हरेक कहेगा कि प्रथम

चालीस लोग इकट्‌ठा कर लो फिर मैं इकतालीसवाँ हो जाऊँगा। प्रत्येक व्यक्ति इस अकर्मण्यता हेतु तिलक बनना चाहे तो प्रथम चालीस व्यक्ति कैसे इकट्‌ठा होंगे? चालीस के बाद स्वयं आने का यह आदर्श वाक्य तुच्छ मानने के लिए कोई तैयार नहीं हो और तेरी पुकार या आह्वान भी कोई न सुनता हो तो, तू अकेला चल और तेरे इस हिंदू जाति के कल्याणार्थ, मंगल के लिए अपना तन, मन, धन, आवश्यक हो तो अपना सिर भी उसके लिए तू अकेला अर्पण कर। तेरा कर्तव्य तू कर, कोई करे न करे, तू अकेला चल। ऐसा आदर्श वाक्य लिखा हुआ ध्वज लेकर कोई जब तक आगे, सबसे प्रथम पंक्ति में नहीं बढ़ेगा तो कोई भी आगे नहीं होगा और फिर कार्य कभी पूरा होगा ही नहीं।

जब-जब महान् कार्य हुए हैं और मनुष्यजाति में संपूर्ण परिवर्तन करनेवाले भूकंपीय महान् आंदोलन पृथ्वी को कंपित करते गए तब-तब चालीस व्यक्ति इकट्‌ठा होने की प्रतीक्षा न करते हुए समाज के आगे केवल एक कदम नहीं अपितु सौ-सौ कदम चलनेवाले किसी समर्थक के, प्रचारक के या हुकूमशाह के साहस ने ही वह कार्य पूरा होना संभव बनाया। वानर सेना का अता-पता भी नहीं था, अकेला हनुमान केवल एक कदम ही नहीं अपितु पूरा समुद्र लाँघ गया। चालीस व्यक्तियों के लिए न रुकते हुए अपना अकेले का सिर हाथ पर लेकर गया और सीता की खोज की। तब कहीं उनके पीछे-पीछे वानर सेना का दल कदम-कदम बढ़ाते हुए रामचंद्रजी के साथ लंका पहुँचा। अकेला कोलंबस समाज के आगे पूरा एक 'खंड' पार करके किसी की राह न देखते हुए गया और अमेरिका के किनारे पर उसने झंडा फहराया। उसके बाद स्पेन और पुर्तगाल की नौसेना का संचालक उस सेना की मदद से अमेरिका को जीत सका। यीशू ने ईसाई धर्म का प्रचार किया तब वह अकेला ही था। मोहम्मद भी उस खाई में अकेला था जहाँ उसने मुसलमान धर्म की नींव रखी। वे सब अकेले-अकेले आगे बढ़े तब चालीस इकट्‌ठा होते गए और आज करोड़ों लोग उनके झंडे के नीचे झूल रहे हैं। प्रथम चालीस लोग ईसाई होने के बाद फिर 'मैं ईसाई धर्म क्या है वह बताऊँगा' ऐसा यदि यीशू कहता तो ईसाई धर्म क्या है यह उस धर्म में जाने के पहले न समझने के कारण आज दुनिया में क्रिश्चनियटी का नाम भी सुनाई नहीं देता।

अतएव 'आप चालीस व्यक्ति लाएँ, फिर मैं आऊँगा' या 'समाज के आगे एक कदम मैं रखता हूँ' यह कथन सेनापति या लोकनायक को यद्यपि शोभा देता है तो भी उसका आधार लेकर प्रत्येक अनुयायी ने भी उसी को अपना आदर्श वाक्य बनाकर; जब तक अन्य व्यक्ति चालीस मनुष्य इकट्‌ठा नहीं करता तब तक बैठे रहना और उसी में अपनी चतुराई समझना ऐसा उस वाक्य का अर्थ बिलकुल नहीं

है। तिलक कहते थे, 'चालीस लाओ' यानी आप प्रथम आगे बढ़ों। जो प्रथम आगे जाएगा वह मूर्ख नहीं, वही तिलक का सच्चा शिष्य! क्योंकि उसके आगे होने से ही अन्य चालीस के आने की संभावना है और फिर लोकनायक भी आकर मिलेंगे।

लोकमान्य का इस प्रकार का कोई एक वाक्य उस विषय के संबंध में उनका निरपेक्ष और संपूर्ण विचार मान लेने के कारण, कायरता को ही विद्वत्ता समझने की कुछ लोगों को बुरी आदत लग रही है यह कई बार अनुभव में आने के कारण आलसी लोग उन वाक्यों का सही अर्थ लगाते हैं वैसा लगाना कैसी मूर्खता है यह स्पष्ट कर दिखाया है। परंतु हमारे प्रारंभ में कथित नियमानुसार इस विषय के संबंध में लोकमान्य के सभी संस्मरण एकत्र कर पढ़ने से उनके प्रथम वाक्य का अर्थ कैसा लगाना चाहिए यह भाष्य भी सौभाग्य से उन्होंने ही लिखकर रखा है। उदाहरण के लिए वामन मल्हार जोशी का संस्मरण देखिए—

जोशी : परंतु यह मार्ग जोखिम भरा है। उसे लोगों की सही सहानुभूति चाहिए।

तिलक : *(कुछ झल्लाकर)* किंतु लोग यानी कौन? आप, हम, इष्ट मित्र आदि मिलकर ही तो लोग होते हैं।

जोशी : परंतु वे सब सच्चे चाहिए यानी सतत कार्य करनेवाले, न डगमगानेवाले, ऐसे सौ लोग दिखाएँ जो इस मार्ग से जानेवाले हैं तो फिर एक सौ एकवाँ मैं हूँ।

तिलक : ठीक, आज सौ लोग तैयार नहीं हैं यह बात मान लो। परंतु नहीं हैं इसलिए इकट्ठा नहीं करेंगे क्या? चलिए आज से ही हम इस कार्य के लिए जुट जाएँ। मैं पहला, आप दूसरे! सौ मिलते ही कार्यारंभ करेंगे। उस समय भी मैं आगे रहूँगा। जो बाधा होगी उसे मैं सहूँगा, बाद में अन्य। चलिए, आप हो रहे हैं न दूसरे? सौ मिलने पर काम चालू होगा, तब तक केवल नाम लिखवाना होगा। क्या एक सौ एकवाँ होने में भी इतना विलंब!

महाराष्ट्र के युवको, इस प्रकार मैंने तिलकजी का सही दर्शन किया है। आओ, मैं पहला। इस वाक्य में प्रतिपादित उस आदर्श का पालन करें! फिर सौ क्या, हजार लोग आएँगे। और न आए तो भी तेरा कर्तव्य तू पूरा करेगा। चालीस के पीछे लोकनायक आएँगे। परंतु लोकनायक का आना संभव करने के लिए उन चालीस को इकट्ठा करने में तू पहला बन जा। तब महत्कार्यपूर्ण होंगे। तत्पश्चात् हिंदू जाति एकाएक जाग्रत् होकर 'ध्येयं वा साधयेत्। देहं वा पातयेत्' इस प्रकार की गर्जना करके संगठनों के जातीय क्षेत्रों में खड़ी रहेगी।

आश्चर्य की बात तो यह है कि 'चालीस के बाद मैं आऊँगा' या 'समाज के आगे एक ही कदम रखो' ये वाक्य महाराष्ट्र में सर्वतोमुखी हो गए हैं। परंतु 'मैं पहला' यह वाक्य इतना लोकप्रिय हुआ नहीं दिखता। इस प्रकार संकट में डालनेवाले, चमड़ी को चुभनेवाले संस्मरण न याद आना स्वाभाविक है। जिन्होंने कर्मक्षेत्र से अलग होते समय समाज के आगे से एक छोड़कर दस कदम पीछे जाने में कम नहीं किया वे कर्मक्षेत्र में कदम आगे रखते समय समाज के आगे केवल एक कदम आगे हूँ ऐसी तिलक के वाक्य की गवाही देकर चिंता करते रहे। और भागते समय चालीस की तो क्या, परंतु एक की भी प्रतीक्षा न करते हुए 'मैं पहला' मानकर भागे और घर में जाकर छिप गए। उन्होंने ही पुन: तत्परता से मुकाबला करनेवाले को मूर्ख और साहसी कहकर, दोष देकर लोकमान्य की भक्ति के लिए हम समाज के तैयार हुए बिना चालीसवाँ तो क्या सौवाँ सैनिक होने के लिए भी नकार दें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। तिलक की सुविधाजनक सीख का पालन करना ही तिलक भक्ति की उनकी व्याख्या है।

परंतु ऐसे लोगों को छोड़ दिया तो भी जिन्हें तिलक या अन्य किसी महात्मा के सच्चे वचन के संबंध में प्रामाणिकता से जानना हो तो उन्हें चाहिए कि उनके हर विषय के संबंध में समग्र संस्मरण और वचन एकत्र करें और पढ़ें। यही उनके विचारों का सही अर्थ समझने का एकमात्र उपाय है।

□

दो शब्दों में दो संस्कृतियाँ

यूरोप या अमेरिका में कदम रखते ही कोई अर्थपूर्ण शब्द हमें आज सुनाई देता हो तो वह है 'अप-टु-डेट', 'अधुनातन'। अगर हम किसी मामूली बूट पॉलिश की डिब्बी खरीदने जाएँ तो दुकानदार तुरंत कहेगा कि यही डिब्बी खरीदो। यही क्यों? ऐसा पूछते ही वह कहेगा कि यह 'अप-टु-डेट' है इसलिए। दरजी के यहाँ जाएँगे तो शर्ट का, कोट का, जाकिट का, चोली का, लहँगे का उत्तम-से-उत्तम कपड़ा बताएगा और कहेगा यह एकदम 'अप-टु-डेट' (अधुनातन) है, इसलिए खरीद लीजिए। उत्तम यंत्र यानी अप-टु-डेट यंत्र, अप-टु-डेट पुस्तक ही उत्तम पुस्तक, अप-टु-डेट पोशाक, अप-टु-डेट जानकारी, अद्यावत् सुविधाएँ यानी उन पदार्थों का सर्वोत्कृष्ट प्रकार। जो मानव अप-टु-डेट नहीं वह बेढंगा है, इस प्रकार की अधुनातनता वहाँ पर बूटों के बंद से लेकर बिजली के बटन तक दिखाई देगी। उनकी कल की बंदूक से आज की बेहतर होगी, कल के विमान से आज का विमान अधिक अच्छा होगा। परसों लंदन के एक छोर के कमरे में बैठकर लंदन के दूसरी ओर के कमरे में बैठे हुए व्यक्ति आपस में दूरध्वनि से बात करते थे और कल लंदन के कमरे में बैठा हुआ व्यक्ति स्कॉटलैंड के घर में बैठे हुए व्यक्ति से बात करने लगा। और आज लंदन के उसी कमरे में बैठकर अमेरिका में बैठे हुए अपने मित्र से बात करके सुबह का बाजार-भाव पूछता है और तुरंत मुंबई से बात करके अपने दलाल को उसकी जानकारी देता है। इस प्रकार उनका 'आज' उनके कल के आगे लगातार दौड़ता है, 'कल' पीछे रहकर बेकार हो जाता है। उनका प्रत्येक 'आज' उनके कल से अधिक समझदार, पुष्टिकर, सरस हो रहा है। इसलिए उनका कल पर का विश्वास हटकर 'आज' पर अटल हो रहा है। इतना दृढ़ विश्वास कि आज के यूरोप-अमेरिका के जीवन का, संस्कृति का, प्रवृत्ति का मुख्य लक्षण यदि किसी एक शब्द में स्पष्ट किया जाता हो तो वह शब्द है—अधुनातन या अप-टु-डेट। आज के यूरोप-अमेरिका की संस्कृति का विशेष नाम है अप-टु-डेट, अधुनातन।

परंतु हमारे हिंदू राष्ट्र में आज भी हमारी मनोभूमि में गहरी जड़ें जमाकर जो संस्कृति बैठी है वह और जो हमारे समस्त जीवन में व्याप्त है उस संस्कृति का मुख्य लक्षण किसी एक शब्द में व्यक्त करना हो तो वह शब्द है 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त'। अप-टु-डेट के एकदम विपरीत। कोई भी वस्तु, पद्धति, चाल, ग्रंथ, ज्ञान सर्वोत्कृष्ट क्यों है ऐसा किसी यूरोपियन से पूछेंगे तो तुरंत एक शब्द में कहेगा कि वह अप-टु-डेट है इसीलिए। परंतु कोई भी ज्ञान, ग्रंथ, चाल, पद्धति, सुधार ग्राह्य या अग्राह्य, उचित या अनुचित यह तय करने के लिए हम यह नहीं देखेंगे कि वह उपयुक्त है, सुविधाजनक है, प्रगतिकारक है या नहीं, पिछले से अब अधिक पुष्टिकर, सरस है या नहीं। इन बातों का विचार न करते हुए हम एकदम जो सोचेंगे, पूछेंगे वह यह है कि वह श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है या नहीं। हमारी संस्कृति का अतिशय लज्जास्पद भूषण जो हम पालते हैं वह यह है कि वेदों में जो बताया है उसके आगे हम गत दस-पाँच हजार वर्षों में भी सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक विधिनिषेध में या कुशलता में किंचित् मात्र भी आगे नहीं बढ़े हैं। यूरोप, 'मैं कल के आगे आज गया या नहीं, कुछ अधिक सीखकर कुशल हुआ हूँ या नहीं, बाप से सवाई हुआ या नहीं? हम सारे कल की तो बात ही नहीं करते और ऐहिक काल के भी आगे नहीं गए। गत पाँच हजार वर्षों में अधिक चतुर तो हुए ही नहीं ऐसा कहा जाता है। बाप को जो ज्ञात नहीं था, वह मुझे ज्ञात हुआ, ऐसा कुछ नया सीखेंगे तो बाप का बापपन कैसे कायम रहेगा? यह हमें डर है। हमारे पूर्वज त्रिकालज्ञानी थे यह हमारी प्रतिज्ञा और उन्हें जो मालूम नहीं था वह हम सीखे ऐसा मानना या कुछ सीखना यानी उनके त्रिकालाबाधित ज्ञान का अपमान ही होगा। अतः ऐसा पाप अपनों से तो नहीं हो रहा? उनको जो अज्ञात था वह हमें ज्ञात तो नहीं हो रहा, यह हमारी चिंता का विषय बना है। वेदकाल में जिस बैलगाड़ी में बैठकर हमारी संस्कृति चल रही थी उसी बैलगाड़ी में बैठकर इस रेलगाड़ी के युग में भी वह र र र आवाज करती हुई चल रही है। यह हमारी श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त संस्कृति आज की ही नहीं अपितु वह उस श्रुतिस्मृतिपुराण के पूर्व की भी है, उसके बाद की है, आज तक लगातार चलती आ रही है। जन्म से मरण तक, गर्भाधान से अंत्येष्टि तक जो-जो आचार, निर्बंध, अभिप्राय, 'मनुस्मृति' जैसी आद्य स्मृति में बताए गए हैं, वे आचार या निर्बंध क्यों हितकर या आचरणीय हैं इसकी पड़ताल करके नहीं अपितु मुख्यतः और बहुधा 'एष धर्मः सनातनः' है इसलिए। यह एक प्रकार से राजमुद्रा ही है। वह बात श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है इतना एक महाकारण आगे किया जाता है। 'लहसुन क्यों नहीं खाना चाहिए?' उसका कारण किसी परिस्थिति में वैद्यकीय दृष्टि से हितकर है या नहीं, इसका परीक्षण न करते हुए केवल 'एष धर्मः सनातनः' ऐसा कहकर उसका

पालन किया जाता है। 'दिन में मलमूत्रोत्सर्ग उत्तराभिमुख करना चाहिए और रात को दक्षिणाभिमुख' ऐसा क्यों? उत्तर यही रहेगा—'एषः धर्मः सनातनः'। हमारे प्रथम श्रीमान मनु राजर्षि की सत्ता से अंतिम रावबाजी की राजसत्ता तक राज्य-व्यवहार में भी अनेक महत्त्वपूर्ण जातीय या राष्ट्रीय समस्याओं के जो निर्णय लादे गए, वे निर्णय बदलती स्थिति में उपयुक्त हैं या नहीं—इसकी बिलकुल जाँच न करते हुए केवल उपर्युक्त एकमेव राजमुद्रा लगाकर कहते थे कि 'नया करना नहीं। पुराना नष्ट करना नहीं।' शिवछत्रपति या शाहू छत्रपति, पहले बाजीराव और अंतिम बाजीराव, इनके अभिलेखों के सैकड़ों निर्णय-पत्रों में यह वाक्य, सभी विवाद एकदम बंद करनेवाले ब्रह्मवाक्य के समान कहाँ-कहाँ, किस प्रकार दिखाई देता है यह इतिहासकारों को ज्ञात है। पुराना बाधक बनने लगा, सड़ने लगा, इसलिए जो वाद, संघर्ष, संकट उत्पन्न हो गए उन्हें समाप्त करने के लिए आधार फिर वही वाक्य 'पुराना नष्ट करना नहीं और नया शुरू करना नहीं।' इसी सूत्र द्वारा युगानुयुग निपटारे करने के कारण पुराना अधिकाधिक बाधक बनता गया, सड़ता गया और यह चल रहा है आज तक। फिर भी आज स्पर्शबंदी, रोटीबंदी, समुद्रबंदी आदि जिन सामाजिक रूढ़ियों ने हिंदू समाज को नष्टप्राय कर दिया, उन रूढ़ियों को समाप्त करने की बात निकलते ही फिर अपने को सनातनी ही नहीं अपितु सुधारक कहनेवाले भी इस रूढ़ि को या उसके उन्मूलन को शास्त्राधार है क्या—इस एक समस्या से व्याकुल होकर ग्रंथ-पर-ग्रंथ लिख रहे हैं। शास्त्रार्थ की गुड़ की भट्ठियाँ विद्वत् परिषदों से चला रहे हैं। मनु राजर्षि का तो 'एष धर्मः सनातनः' शाहू राजर्षि का वह 'पुराना तोड़ना नहीं, नया करना नहीं' और आज के ब्रह्मर्षि का 'इसे शास्त्राधार है क्या? ये तीनों व्यक्ति जिस एक ही पुरुष के मानो औरस पुत्र हैं वह पुरुष यानी 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' ही है। सही माने में हमारी हिंदू संस्कृति की पूर्वापर विशेष प्रवृत्ति कौन सी, लक्षण कौन सा, महासूत्र कौन से यह बात एक शब्द में अपवाद छोड़कर व्यक्त करनी हो तो वह शब्द है, 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त'। आज की यूरोपीय संस्कृति का जो प्रमुख लक्षण, अधुनातन है उसके एकदम विपरीत। वे पूजक हैं 'आज' के और हम पूजक हैं 'कल' के। वे नए के पूजक तो हम पुराने के। वे 'ताजा' के, भोक्ता हम 'बासी' के भोक्ता। कुल मिलाकर देखें तो उनकी संस्कृति 'अधुनातन' और हमारी 'पुरातन'।

इस 'अधुनातन' और 'पुरातन' संस्कृति के आज के स्पष्ट उदाहरणस्वरूप यद्यपि हमने यूरोपीय तथा भारतीय जनपदों का ही उल्लेख किया है तो भी वास्तविक रूप से यह अद्यावतता या पुरातनता किसी एक जनपद का या जाति का अपरिहार्य गुणधर्म न होकर वह प्रमुख रूप से एक तत्त्व का गुण है। अपरिवर्तनीय शब्दनिष्ठ

धर्म और प्रत्यक्षनिष्ठ, प्रयोगक्षम और प्रयोगसिद्ध विज्ञान की भिन्न प्रवृत्ति के ये भिन्न नाम हैं। जो-जो धर्मग्रंथ अपौरुषेय समझा गया उसमें समाविष्ट संस्कृति भी सहज ही अपरिवर्तनीय समझी जाती है। जो लोग इन धर्मग्रंथों की सत्ता अपने पर चलने देते हैं वे 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' के या पुरातन मत के पक्के दास हो बैठते हैं। इन धर्मग्रंथों की लीक के बाहर वे कदम भी नहीं रख सकते। इन धर्मग्रंथों की जब प्रथम रचना की जाती है तो वे प्रथम किसी एक सुधार का समर्थन करने हेतु ही लिखे गए होते हैं और अपने व्यक्तित्व को ईश्वरीय शक्ति से जोड़कर अपनी रचना को अपरिवर्तनीय स्वरूप का मानने लगते हैं। अतएव वे सुधार के शीघ्र ही कटु विरोधी बन जाते हैं। इन ग्रंथों के दो पृष्ठों के अंदर यद्यपि वे समस्त विश्व और समस्त काल को बंद करके रखना चाहते हैं और मूर्खतापूर्ण हठ करते हैं तो भी सदैव चंचल, सदा नई, अदम्य और अमोघ निसर्गशक्ति और कालगति इन धर्मग्रंथों के दो पृष्ठों में निरंतर बंद थोड़ा ही रह सकती है? ईश-प्रेषितों का या प्रत्यक्ष ईश्वर का मनगढ़ंत हस्ताक्षर कर यद्यपि ये धर्मग्रंथ प्रकाशित किए जाते हैं तो भी भूकंप, ज्वालामुखी, जलप्रलय, वज्राघात आदि को इन पोथियों के ताड़पत्रों में लपेटकर रखने का उनका प्रयास व्यर्थ जाता है। एरवाद भूकंप भी उनके भूगोल को सहज ही नष्ट कर देता है। उनकी पवित्र नदी को ज्वालामुखी एक घूँट में ही पी जाता है। उनके लिए अज्ञात खंड प्रदेशों का उन्हें पता लगता है परंतु ज्ञात खंड प्रदेश नष्ट हो जाते हैं। ईश्वर के नाम से यद्यपि वे ग्रंथ अवतीर्ण हुए होते हैं, परंतु इन शब्दों की साख कायम रखने की ईश्वर को थोड़ी भी आवश्यकता एवं रुचि होने की बात इस ईश्वरी उत्पात के कारण नहीं दिखाई देती। उनके भूगोल की जो स्थिति होती है वही उनके इतिहास की भी। वेदों का दाशराज्ञ युद्ध यानी पंजाब जैसे राज्य के एक जिले के दस राज्यों की तनातनी। उसे उस समय के आर्य राष्ट्र के बाल्यकाल में इतना महत्त्व मिला कि अग्नि, सोम, वरुण की प्रार्थनाएँ, करुणा की प्रार्थना और सहायता के लिए सूक्तों की रचना की गई। और देवताओं को भी पक्ष-विपक्ष में बाँटना पड़ा।

यही बात क्रिश्चियन, यहूदी, पारसी, मुसलमान आदि के अपौरुषेय ग्रंथों की और उनके समय के इतिहास की। उन ग्रंथों के रचना काल में उनकी जातियों के लिए यह सब प्रसंग अत्यंत महत्त्वपूर्ण लगना स्वाभाविक था, फिर भी आज के त्रिखंड में मोरचे बाँधकर चिल्लानेवाले लाखों सैनिकों के प्रचंड महायुद्धों के मान के समक्ष उन मुट्‌ठी भर लोगों का संघर्ष कुछ भी नहीं है। आज के जगत्‌व्यापी साम्राज्यों की तुलना में उनके वे क्षुद्र राज्य और राजधानियाँ तुच्छ ठहरती हैं। ग्रंथों में इनका इतना गौरव किया है कि इन ग्रंथों को ईश्वरप्रणीत, त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ

और त्रिकालाबाधित समझना हास्यास्पद लगता है। उन धर्मग्रंथों के वर्णनानुसार उन देव-देवताओं को वे राजा, उनकी राजधानियाँ, वे राष्ट्र इतने रक्षणीय लगते थे कि उनकी सुरक्षा के लिए उन्होंने ईश्वरीय सूक्त, आयनी और देवदूतों की सेनाएँ भेजी थीं, तो फिर उनके बिना भी दुनिया चल सकती है ऐसा उसी ईश्वर को बाद में क्यों लगा। आज वह बैबीलोन के जार की राजधानी कहाँ है? वह इजराइल का स्वर्ण मंदिर, वे असीरियन, वे खाल्डियन, वे पारसी, वे क्रोधी मोलाक देवता के मंदिर, वे सब गए कहाँ? 'रघुपतेः क्व गतोत्तर कोसला? यदुपतेः क्व गता मथुरा पुरी?'

प्रकृति और काल स्वयं को अपरिवर्तनीय और त्रिकालाबाधित समझनेवाले धर्मग्रंथों के ताड़पत्रों का चूर्ण करके सतत स्वच्छंद धींगामुश्ती करते हैं। फिर भी इन ग्रंथों से आगे कदम रखना ही नहीं है, ऐसी मूर्खता करनेवाले लोगों की संस्कृति उन धर्मग्रंथों की प्राचीन संस्कृति की अपेक्षा कभी भी अधिक विकसित नहीं हो सकती, यह क्या बताना होगा?

जब तक बाइबिल को अपरिवर्तनीय और अपौरुषेय मानते थे तब तक यूरोप भी ऐसा ही श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त पुरातन प्रवृत्ति के कुएँ का मेढक बनकर पड़ा हुआ था। पृथ्वी गोल है यह नया सत्य आविर्भूत होते ही, वह वैसी है या नहीं यह तय करने के लिए बुद्धिगम्य और प्रयोगक्षम ऐसे किसी भी कारण के संबंध में अधिक पूछताछ न करते हुए इसी यूरोप ने एक बार इतना ही पूछा था कि 'बाइबिल में वैसा लिखा है क्या?' पृथ्वी गोल है यह बात श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है क्या? यदि बाइबिल में पृथ्वी सपाट मैदान के समान है, ऐसा लिखा है तो पृथ्वी को वैसा ही होना चाहिए। कोलंबस ने अमेरिका भूखंड ढूँढ़ लिया। उसे देखकर लौटने के बाद भी ऐसे किसी भूखंड का, ईश्वर प्रदत्त सर्वज्ञ, त्रिकालाबाधित बाइबिल में उल्लेख नहीं है। अतः वह हो नहीं सकता—ऐसी धर्माज्ञा इसी यूरोप ने की थी। कितना ही भोलाभाला पोप हो वह अस्खलनीय ही होना चाहिए, इसी यूरोप की कभी इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा थी। पोप कितना ही पापी हो उसकी सिफारिश की चिट्ठी मृत व्यक्ति के हाथ में देकर जमीन में गाड़ने पर उसके लिए स्वर्ग के द्वार अवश्य खुलते हैं। इस प्रकार की श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त निष्ठा से लाखों प्रेतों के हाथों में वैसी लाखों चिट्ठियाँ होने पर इसी यूरोप के कबरीस्थान में खोदकर देखने पर लाखों चिट्ठियाँ लेकर पड़े हुए प्रेत वहाँ ही दिखाई देंगे, स्वर्ग में नहीं। जो बात यूरोप के क्रिश्चियन लोगों की वही बात मुसलिम जगत् की। यूरोप ने पुरातन वृत्ति को नकारा और कड़े संघर्ष के बाद आज वह वैज्ञानिक अधुनातन प्रवृत्ति का समर्थक हुआ है। परंतु कमाल पाशा का तुर्किस्थान छोड़ दिया तो, शेष मुसलिम जगत्, हिंदू जगत् के समान, आज भी इस 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' का ही बंदा गुलाम हुआ है। इसलिए

हिंदू के समान मुसलमान भी यूरोप के उस वैज्ञानिक, अद्यावत् संस्कृति के सम्मुख लगातार निराश और हतप्रभ हो रहा है। यही स्थिति पारसी तथा ज्यू लोगों की है। इस लेख में प्रमुख रूप से अपने हिंदू राष्ट्र के संबंध में ही कहना है। अतः उपर्युक्त धार्मिक और वैज्ञानिक जो दो प्रवृत्तियाँ बताईं—पुरातन और अधुनातन, उनकी सामान्य चर्चा यहीं त्यागकर हमारे लिए हम इतना ही कहना चाहते हैं कि पहले प्रकार की प्रवृत्ति श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त के पिंजड़े में हमारे समान गलती करनेवाले फँसते आए हैं। यह ऊपर दरशाया है फिर भी हमें उसी पिंजड़े में आगे भी रहना क्षम्य है, सहज है—ऐसा मात्र नहीं समझना चाहिए। हम जिसे अपौरुषेय और त्रिकालाबाधित मानते आए हैं वह धर्मग्रंथ आज के समस्त उपलब्ध धर्मग्रंथों में पुरातन पाँच हजार वर्ष पूर्व के मान लें तो भी पाँच हजार वर्ष पिछड़ा है। दुनिया पाँच हजार वर्ष आगे बढ़ गई है। परंतु अभी भी इन ग्रंथों की होशियारी से अधिक होशियार होना नहीं—ऐसा मानो हमारा कृतसंकल्प है, अतः पाँच हजार वर्ष के पिछड़ेपन को लेकर आज भी जन्मतिथि से लेकर मृत्युतिथि तक किस प्रकार चिपककर बैठे हैं यह स्पष्ट करने के लिए इस धार्मिक-पुरातन प्रवृत्ति की अंधपरंपरा के दो-चार उदाहरण मार्गदर्शन हेतु विचार में ले लें।

प्रथम अपनी यज्ञ संस्था को ही देखें। अत्यंत शीत प्रदेश में अग्नि का साहचर्य सुखकारक होता है। ऐसे किसी शीत प्रदेश में और शीत काल में, यज्ञ संस्था ने जन्म लिया। उस काल में घर-घर में अखंड अग्निहोत्र और समय-समय पर प्रज्वलित होनेवाले बड़े-बड़े यज्ञ आरोग्यप्रद और सुखप्रद होते होंगे। परंतु आजकल के भारत की असह्य उष्णता में इस अग्निपूजा से किसी भी प्रकार का भौतिक हित पूरा नहीं होता। इस प्रकार की आग घर-घर और गाँव-गाँव में जलाकर रखना दुःखदायी ही होता है। पूर्व में अग्नि जलाने के साधन भी सुलभ नहीं थे। वनों में पेड़-पर-पेड़ घिसकर अग्नि प्रज्वलित होती हुई देखकर प्राचीन मानव को कृत्रिम अग्नि उत्पन्न करने की विद्या ज्ञात हुई और सिद्ध हो गई। उसका उपयोग उस काल में यज्ञ संस्था में सहजता से किया गया। परंतु बाद में उसपर धार्मिक छाप पड़ने के कारण, अब अग्नि माचिस की लकड़ी के गुल में भी सँभालकर रखी जा सकती है फिर भी यज्ञ की पवित्र अग्नि कहते ही अत्यंत प्राचीन और अत्यंत अज्ञानी पद्धति से ही, मंत्रपूर्वक लकड़ी पर लकड़ी घिसकर 'अग्नि प्रदीप्त हो' ऐसी हृदयद्रावक प्रार्थनाओं से जलाना पड़ता है। लकड़ी और चकमक इन अज्ञानी साधनों के पार अग्नि प्रज्वलित करने का साधन गत पाँच हजार वर्षों में हम ढूँढ़ नहीं पाए। यूरोप ने माचिस की खोज की, बिजली निकाली, 'दीपज्योतिः नमोस्तुते' आदि करुणापूर्ण प्रार्थना न करते हुए बूटों से भी बटन दबाए

तो भी तुरंत तेजस्वी प्रकाश करने के लिए बिजली को दासी के समान कार्य करना पड़ रहा है। परंतु यहाँ अभी भी श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त पवित्र अग्नि यानी लकड़ी पर लकड़ी घिसकर जलाई जाती है। पिछड़े हुए ग्रंथ को त्रिकालाबाधित मानने के कारण उसके समान पिछड़ा ही रहना पड़ता है। अग्नि देवता है। 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' ऐसी प्राचीनों की भावना थी। इसलिए वे अग्नि में मनों घी डालते थे यह बात तो समझ में आती है। फिर भी अब हजारों वर्षों के बाद अनुभव से यह निश्चित हुआ है कि अग्नि का नैसर्गिक गुण क्रोध करने पर न बढ़ता है, उसे प्रसन्न करने पर न शांत होता है। घृत की सतत धार पकड़कर 'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् देव वसुनानि विद्वान्' ऐसी प्रार्थना करनेवाले यजमान के घर वही यज्ञ की अग्नि समय मिलते ही घर भस्म करने से नहीं चूकती। इस प्रकार यज्ञ की अग्नि हमेशा प्रज्वलित रहनेवाले भारत देश में, दस वर्ष में जितने अकाल हुए उतने पैसे की माचिस में अग्नि को बंद करनेवाले यूरोप में सौ वर्षों में भी नहीं हुए। यज्ञमंत्र और पर्जन्यसूक्त गा-गाकर भारतवासियों का गला सूख गया तो भी इस धार्मिक विचार को पर्जन्य भीख नहीं डालता। किंतु रूस में देखें, उन्होंने पर्जन्य का वैज्ञानिक सूक्त ढूँढ़ निकाला और अब कोई भी, वर्षा ऋतु न होते हुए भी 'पर्जन्य' को बुलाए, पर्जन्य जरूर उनके चरणों में गिर पड़ता है। विमान दूर की नदी पर से घुमाकर लाते समय वह नदी का जल खींच लेता है और फिर चाहे जिस खेत पर, किसी जल से भरे हुए बादल के समान वर्षा करता है। ऐसे अनुभव के उपरांत अब उस यज्ञ संस्था का हमें विसर्जन नहीं करना चाहिए क्या? यदि थोड़ा दूध उफनता है या घी की कटोरी तिरछी हो गई तो बहू को सास दोष देती है, ऐसी स्थिति में मनों घी हम लोग समारोहपूर्वक अग्नि को घंटों अर्पित करते रहते हैं। कारण? कारण इतना ही है कि वैसा करना श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है। उस यज्ञ संस्था का राष्ट्रीय केंद्र होने से इस आर्यावर्त पर जो प्राचीन काल में अनंत उपकार हुए, उसके संबंध में कृतज्ञता व्यक्त करके अब इसके आगे उस अग्नि में घी का एक भी बूँद न डालते हुए बुद्ध के समान वह सारी यज्ञ सामग्री और वह यज्ञकुंड गंगा में विसर्जन करना उचित है। 'यज्ञात्भवति पर्जन्यः' यह सूत्र छोड़कर अब 'विज्ञानदेव पर्जन्यः' यह सूत्र नई स्मृति में लिखना चाहिए।

वैसे ही शंकराचार्य की पालकी और बैलगाड़ी इन वैदिक काल के वाहनों के बाद गत पाँच हजार वर्षों में हम नया वाहन निर्मित नहीं कर पाए। विज्ञाननिष्ठ यूरोप ने तीन शतकों में अब तक तीन सौ प्रकार वाहन ढूँढ़ निकाले। दुचाकी, मोटर, रेलगाड़ी, विमान और अब हेलीकॉप्टर जिससे हर व्यक्ति स्वयं आकाश में उड़ने की स्थिति में है। परंतु हमारे शंकराचार्य चार व्यक्तियों के कंधे पर बैठकर ही

शोभा-यात्रा निकालते हैं। ग्राम तक यात्रा मोटर से होगी, परंतु गाँव में पाद्यपूजा हेतु निकलते ही मोटर पाखंड मानी जाती है। उस श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त पालकी में बैठकर दिन में ही 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' मशाल जलाते हुए जाएँगे। प्रकृत जनों को रात को दिखता नहीं, मशाल लगती है। परंतु सकलशास्त्र पारंगत लोगों को दिन में भी मशाल के बिना नहीं दिखता। और मशाल भी वही धुएँवाली होनी चाहिए। उससे अधिक तेजस्वी बिना धुएँ की बिजली पर चलनेवाली नहीं चलेगी। क्योंकि वह श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त मशाल से अधिक अच्छी है, अत: त्याज्य है।

जो मशाल की बात वही उस नंदादीप समई की। पूर्व में मंदिर के गर्भगृह में अँधेरा होता था और समई के अतिरिक्त किसी अन्य दीप की जानकारी नहीं थी। तब समई का नंदादीप ठीक ही था। परंतु अब गोलाबत्ती (बल्ब) के द्वारा गर्भगृह दिन के समान प्रकाशित होने पर भी उन्हें नंदादीप की उपाधि या प्राचीनता प्राप्त नहीं होगी। जो गोलाबत्ती की ओर देखकर स्वयं ही शरमाती हो ऐसी समई जलाएँ तो ही भगवान् के सम्मुख दीप जलाने का पुण्य प्राप्त होगा। अधिक प्रकाशना मानो दीप का दीपपन नहीं है तो श्रुतिस्मृति काल की मंद जलनेवाली ज्योति जितना ही प्रकाशन सही धार्मिक दीयापन है। इसलिए बिजली के दीप को कोई भी, 'दीप ज्योतिर्नमोस्तुते' कहकर नमस्कार नहीं करता। वह सम्मान तो उस मंद-मंद जलनेवाली सनातन समई को ही मिलना चाहिए।

गत पाँच हजार वर्षों में नरकुल की लेखनी से अधिक अच्छे लेखन के साधन की कल्पना भी हम लिखने के लिए नहीं कर सके। विज्ञान-संस्कृति के अधुनातन प्रवृत्ति के यूरोप ने मुद्रण कला को उठाया, टंक लेखक (टाइप राइटर) एकटंक (मोनो टाइप), पंक्ति टंकक (लिनोटाइप) एक के बाद एक खोज निकाले। और अब बोलनेवाले की ध्वनि के साथ अपने-आप लेख टंकित करनेवाला स्वयं टंक ही निकल रहा है। शिवाजी महाराज के पूर्व से ही पुर्तगीजों ने हिंदुस्थान में छापाखाना लगाया था, परंतु हम बोरू की कलम से लंबे-लंबे कागजों पर कल-परसों तक अपनी पोथियाँ लिखते रहे। क्योंकि उस प्रकार के नरकुल से न लिखी हुई पोथी को पोथी कैसे कहेंगे? जिल्द लगाई हुई, छपी हुई पुस्तक को धार्मिक होने पर भी रेशम का पीतांबर पहनकर नहीं पढ़ा जाता है। पुरानी पोथियाँ ही भाविक, पंत, पंडित और भट भिक्षुकों द्वारा पीतांबर पहनकर पढ़ी जाती हैं।

हम जन्म लेते हैं वह भी केवल श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त में। उत्कृष्ट प्रकाश, वायुशल्यौषधियों से युक्त किसी आधुनिक प्रसूति-गृह में जाना यूरोप में स्त्रियों का कर्तव्य समझा जाता है। वही शिष्टाचार! परंतु हमारे यहाँ इसे शिष्टाचार का भंग माना जाता है। सभी सुविधाएँ उपलब्ध होने पर भी ऐसे प्रसूति-गृह में प्रसूति हेतु

जाना कोई बुरा कृत्य है ऐसा स्त्रियाँ ही समझती हैं। परंतु यही संकोच उन्हें श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त अंधकार से भरपूर और गोबर से लिपे हुए कमरे में प्रसूत होने में नहीं लगता। प्रकाश, वायु, शल्यौषधि इनकी आधुनिक सुविधाएँ हैं या नहीं यह देखने की अपेक्षा पंचमी और षष्ठी को देवी-डाइन पूजा यथाशास्त्र हो गई या नहीं इसकी चिंता अधिक होती है। नाल काटने की कैंची भी देवी के समान पीढ़े पर रखकर पूजी जाती है; डाइन कमरे में न आए इसलिए विशेष नरबेला की डालियाँ या पत्तियाँ देहरी पर आड़ी-तिरछी डालते हैं, भाई-बहन को भी नूतन बालक को स्पर्श करना मना होता है। डॉक्टर को भी स्नान करना पड़ता है, बच्चे को पहले दिन से ही सूप में सुलाकर अपने पास रखना, सूप की चावल और सुपाड़ी रखकर पूजा करनी होती है। दस दिन तक इसी प्रकार बालक को सूप में ही सुलाना। देवी-डाइन का चक्कर रात बारह के बाद होता है, अत: रात भर जागरण करना। सर्वप्रथम बट्टे को बच्चे के कपड़े पहनाकर झूले में सुलाना और बाद में उसके पास बच्चे को सुलाना, शाम को शांतिपाठ कराना। झूले को प्रथम धक्का उसकी माँ की पीठ द्वारा देना। इन सभी संस्कारों में अल्प भी अंतर नहीं पड़ना चाहिए, नहीं तो बच्चा और माँ पर डाइन हमला करेगी। परंतु देवी-डाइन की इतनी सेवा करनेवाले इस हिंदुस्थान देश में ही बालमृत्यु भयंकर है। इस देवी को कभी धूप जलाकर सुगंध न देनेवाले, शांतिपाठ कभी न करनेवाले और प्रकाश, वायु की चिंता न करनेवाले उस यूरोप के जच्चे-बच्चे को परेशान करने की देवी के बाप की भी हिम्मत नहीं होती है। उन देशों में बालमृत्यु की संख्या लगातार घट रही है। लड़के उत्तर-दक्षिण ध्रुवों पर चढ़ाई करनेवाले और लड़कियाँ इंग्लिश चैनल तैरकर पार करनेवाली और अटलांटिक महासागर विमान की उड़ान में पार करनेवाली हैं। विज्ञान की, आधुनिक संस्कृति की पूजा करनेवाले देशों के प्रसूति-गृहों में पैदा हुई ये संतानें देखें और हँसियाँ-कैंची, डाइन सबकी पूजा करनेवालों की हमारे श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रसूति-गृह की हमारी संतानें देखें।

जो बात जन्मतिथि की वही मृत्युतिथि की। पक्की, बंद पेटी में प्रेत को ढककर ले जाना अधिक सुविधाजनक होता है। परंतु बाँस की कमचियों को गठाने मारकर बनाई गई अरथी उठाना वेदकाल से चलता आ रहा है। वह अरथी भार के कारण कभी बीच में भी टूट सकती है। पाँच हजार वर्ष पुरानी अरथी पर, विद्रूप मुख खुला रखकर, यह सहन नहीं हो रहा ऐसा मानो उसकी गरदन हिल-हिलकर कह रही है। घर में उपले का टुकड़ा जलाकर एक मिट्टी के मटके में रखकर साथ में ले जाते हैं। खुले मस्तक से रिश्तेदार तथा मित्रमंडली श्मशान भूमि तक उसे ले जा रही है। यह प्रेत-यात्रा कितनी भी कष्टदायक हो तो भी पुण्यकार्य है। कारण

स्पष्ट है, क्योंकि वह श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है। भाग्य से हमारे प्रेत को दाह-संस्कार देने की हमारी पद्धति अच्छी है। वह अच्छी है इसलिए चालू है ऐसा नहीं, अपितु वह सनातन है इसलिए अभी तक चल रही है। कुछ हिंदू जातियों में प्रेत गाड़ने की भी पद्धति है। वे भी उसे सनातन समझते हैं। प्रेत जलानेवाले उसे नए विद्युत्गृह में जलाने को मान्यता नहीं देंगे। जब बिजली का पता नहीं था, माचिस की खोज नहीं हुई थी तब से चल रही इस अज्ञानी पद्धति से आग जलाकर मटके में, भले ही वह अग्नि वर्षा से बुझ जाए, ले जाकर श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त पद्धति से ही चिता जलाई जाती है। यदि हम किसी भावुक प्रकृति के व्यक्ति को कहेंगे कि तेरा प्रेत पेटी में बंद करके ले जाएँगे और विद्युत्गृह में जलाएँगे तो बेचारा उस वार्ता से धक्का लगकर जीते-जी ही मर जाएगा। वह व्यक्ति अपने मृत्युपत्र में लिखकर रखेगा कि मेरे प्रेत की इस प्रकार दुर्दशा नहीं होनी चाहिए। उसे कसकर अरथी को बाँधकर खुले मुँह ले जाकर श्मशान में लकड़ी की चिता पर ही जलाना चाहिए। कारण यह है कि वही श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त पद्धति है और उससे ही सद्गति मिलती है। सत्य है, इन अपरिवर्तनीय शब्दनिष्ठ धर्मग्रंथों ने हजारों वर्ष की इस अज्ञानता को अमर करके रखा है।

इस सामान्य वैयक्तिक प्रकरण के समान रोटीबंदी, समुद्रबंदी, स्पर्शबंदी, शुद्धिबंदी जैसी अपने हिंदू राष्ट्र को अवनति की ओर ले जानेवाली दुष्ट राष्ट्रीय रूढ़ियों को भी ये श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त ग्रंथ आज भी अमर कर रहे हैं। इस कारण राष्ट्र मृत्यु के द्वार पर खड़ा है।

अतएव हिंदू राष्ट्र को इस काल की मार से बचाना हो तो जिन श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त बेड़ियों ने इसके कर्तृत्व के हाथ-पाँव जकड़ लिये हैं, उन्हें तोड़ देना चाहिए। यह भाग्य से हमारी इच्छा पर पूर्ण रूप से निर्भर है। कारण, यह मानसिक है। यूरोप चार शतकों के पूर्व तक धर्म की अपरिवर्तनीय सत्ता का ऐसा ही दास बना हुआ था। उसके कारण वह हमारी जैसी ही दुर्गति को पहुँचा था। परंतु उसके बाइबिल को दूर हटाकर विज्ञान की वकालत करते ही, श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त की बेड़ियाँ तोड़कर आधुनिक बनकर वह आज हमसे चार हजार वर्ष आगे निकल चुका है। त्रिखंड में विजयी हुआ है। भारत राष्ट्र भी इस प्रकार विजयी होना चाहता है तो सनातनी ग्रंथ को समाप्त कर और यह प्राचीन श्रुतिस्मृतिपुराणादि शासन लपेटकर और केवल उन्हें ऐतिहासिक ग्रंथ ही मानकर संग्रहालय में सम्मानपूर्वक रखकर विज्ञानयुग का पृष्ठ पलटना चाहिए। इन ग्रंथों का अधिकार 'कल क्या था' और 'आज क्या उचित है' यह बताने का अधिकार प्रत्यक्षनिष्ठ, प्रयोगक्षम विज्ञान का है। आधुनिकता में गत सभी अनुभवों का उपयुक्त सार सर्वस्व समाया होता है;

परंतु श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त में अद्यावत् ज्ञान का अंश भी नहीं होता। इसलिए अद्यावत् यानी अप-टु-डेट बनना ही उचित है। आगे चलकर कोई भी बात अच्छी या बुरी, सुधार इष्ट या अनिष्ट, इन प्रश्नों का उत्तर 'यह आज उपयुक्त है या नहीं' इस एक ही प्रत्यक्ष कसौटी पर परख लेनी चाहिए। 'यह शास्त्राधार है क्या?' यह प्रश्न अब कभी भी पूछना नहीं चाहिए। विद्वानों की परिषद् में, शास्त्रार्थ के विवादों में, मानो अंडी के कोल्हू में एक क्षण भी व्यतीत नहीं करना चाहिए। कुल मिलाकर 'आज क्या उपयुक्त है' यह देखकर ही फिर उसे करना चाहिए। इस एक वाक्य की चोट के साथ जो प्रश्न हम चार हजार वर्षों में हल नहीं कर पाए वह चार दिन में हल होगा तथा पुरानी बेड़ियाँ टूट जाएँगी।

आज कौन सी बात राष्ट्रोद्धार के लिए आवश्यक है यह बहुधा तुरंत बताई जा सकती है। परंतु कौन सी बात शास्त्रसम्मत है यह तो ब्रह्मदेव भी निर्विवाद रूप से नहीं बता पाएँगे। हम किसी भी ग्रंथ को अपरिवर्तनीय और त्रिकालाबाधित नहीं मानते। श्रुतिस्मृति आदि सभी पुरातन ग्रंथ हम अत्यंत कृतज्ञता से और ममता से सम्मानित करते हैं, परंतु केवल ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में। उन्हें हम अनुल्लंघ्य ग्रंथ नहीं मानते। हम उसका सारा ज्ञान, अज्ञान आज विज्ञान की कसौटी पर कसेंगे, उसके उपरांत 'राष्ट्रधारणा तथा उद्धार हेतु जो आवश्यक होगा' उसको बेझिझक व्यवहार में लाएँगे। इस तरह हम भी अद्यावत् या अप-टु-डेट बनेंगे।

इतना निश्चय होते ही अपनी प्रगति को पाँच हजार वर्षों से लगी पिछड़ी संस्कृति और उसे जकड़नेवाली श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त की मानसिक बेड़ी टूटकर हमारे कर्तृत्व के हाथ मुक्त हो गए समझो। फिर इन मुक्त हाथों से जो बाह्य उपाधि हमारी उन्नति के मार्ग में बाधा बन रही है, उनका सिर कुचलकर अपना मार्ग प्रशस्त करना हमें आज से शतगुना अधिक सुलभ हुए बिना नहीं रहेगा।

□

आज की सामाजिक क्रांति का सूत्र

'किर्लोस्कर' मासिक के विज्ञाननिष्ठ विद्वान् और प्रगतिशील संपादक ने हमारे जो लेख प्रकाशित किए, उनकी मराठी नियतकालिकों के साथ-साथ हिंदी, उर्दू आदि नियतकालिकों में भी विचारकों में बेचैनी उत्पन्न करनेवाली समालोचना हो रही है। यह बात संतोषजनक भी है। उन लेखों पर जो प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ व्यक्त हुईं उनकी छानबीन हम इस लेख में प्रस्तुत कर रहे हैं। परंतु उन लेखों के उत्तर देने की विशेष आवश्यकता नहीं। परंतु प्रतिकूल मत छिपानेवाला पक्षपात सत्य प्रचार के कार्य में जैसा अनुचित, वैसे ही अनुकूल मत छिपानेवाला विनय भी अनुचित होने के कारण उसे एक ओर रखकर इस लेख के मुख्य विषय को कितने बड़े परिणाम में अनुकूलता मिल रही है इसका नमूना प्रस्तुत करने-हेतु उसका उल्लेख मैं प्रारंभ में ही कर रहा हूँ। इनमें से 'सकाल' आदि मराठी समाचारपत्रों के मत पाठकों ने पढ़े होंगे। उत्तर हिंदुस्थान में इन लेखों के अनुवाद तत्परता से हिंदी और उर्दू मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित किए गए हैं। श्रीमान भाई परमानंद द्वारा स्थापित जात-पाँत तोड़क मंडल ने अपने व्यय से उन लेखों के स्वतंत्र परचे छापकर सैकड़ों की संख्या में बाँटे। उधर की अनुकूल समालोचना के एक उदाहरण रूप में पंजाब के प्रसिद्ध 'युगांतर' मासिक के जुलाई माह के अंक में प्रकाशित संपादकीय टिप्पणी के कुछ अंश प्रस्तुत कर रहा हूँ—

''प्रसिद्ध देशभक्त स्वातंत्र्यवीर बैरिस्टर सावरकरजी के पुण्य नाम से कौन भारत संतान अनभिज्ञ होगी। वे गंभीर त्यागी और देशहित के लिए मर मिटनेवाले पतंग हैं। उनके विद्वत्तापूर्ण 'रोटीबंदी की बेड़ी तोड़ दो!' 'सच्चा सनातन धर्म' आदि लेख जो भी पाठक पढ़ेंगे उन्हें उससे भूरि-भूरि लाभ होना निश्चित है। पाठक-पाठिकाओं से अनुरोध है कि उन लेखों को दो-दो बार पढ़ें। उनका 'दो शब्दों में दो संस्कृतियाँ' लेख बड़ा ही करारा है।''

दिल्ली के 'डेली तेज' पत्र के संपादक ने हमारे लेख के संबंध में हमें जो

पत्र भेजा है, उसमें से कुछ अंश हम दे रहे हैं, जो विचारणीय है—

"I am a great admirer of you and your writings. In fact, it is a great pity that the people of this part of the country, amongst whom there are numerous votaries of yours like myself are denied the previlege of inviting you to this part of the country. The only manner in which they can come into contact with you is to seek light from you through the Press. Your recent article published in a Maharashtra paper on religion and science was splashed by 'Tej' with a 5 columns headline and aroused much serious comment..."

अनुकूल समालोचन को स्पर्श करनेवाला उल्लेख करके अब प्रतिकूल चर्चा के आक्षेपों का सविस्तार विचार करेंगे। आक्षेप करनेवालों के दो वर्ग होते हैं, जैसे—

प्रथम वर्ग कट्टर सनातनी

पहला वर्ग कुल मिलाकर मीमांसकों की विचारधारा को मानने तथा व्यवहार में लानेवाला होता है। उनका मुख्य कटाक्ष ऐसा कि कोई भी बात उपयुक्त है या नहीं यह प्रश्न दोयम है। मुख्य प्रश्न यह है कि वह बात श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है या नहीं? यदि है तो वह धर्म, न हो तो अधर्म। उनकी दूसरी धारणा यह है कि आज जिन रूढ़ियों को बहुत समय से धर्म माना है, वे श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त होनी ही चाहिए। क्योंकि जो श्रुति में होगा वही स्मृतिपुराण के शिष्टाचार में होगा। श्रुतिस्मृतिपुराण और शिष्टाचार में संपूर्णत: एकवाक्यता है। प्रत्यक्ष अनुभव में ये रूढ़ियाँ अत्यंत हानिकारक हो रही हैं यह सिद्ध करनेवालों को वे साफ बताते हैं कि फिर भी शास्त्र में ऐसा लिखा है, अत: उस रूढ़ि का पालन करना चाहिए— 'वचनात्प्रवृत्तिः क्ष्चनान्निवृत्ति:' इस लोक में हानिकारक होने पर भी परलोक में सुखदायक होनी चाहिए। यदि आपने कहा कि उसका उल्लेख श्रुति में नहीं है तो वे स्पष्ट रूप से कहेंगे कि जिस कारण स्मृति या पुराण में या कम-से-कम शिष्टाचार में वह रूढ़ि है, धर्म मानकर बहुत समय से व्यवहार में लाई जा रही है, तो निश्चित वह श्रुति में होनी ही चाहिए। उपलब्ध श्रुति में न मिलती हो तो आज लुप्त हुए श्रुतिभाग में वह होनी चाहिए। श्रुति में है माने आज भी वह रूढ़ि धर्म ही है। इतना ही कहकर ये लोग रुकते नहीं अपितु इसके आगे जाकर कहते हैं कि बहुत समय से वह धर्म मानकर व्यवहार में लाई जा रही है, रूढ़ है; अत: वह श्रुति में होनी ही चाहिए। आज उपलब्ध श्रुति में नहीं प्राप्त हो रही है तो आज जो नहीं

है ऐसी श्रुतियों में वह अवश्य होगी। बालविवाह, पुनर्विवाह-निषेध, जन्मजात जातिभेद, जातियों में पोट भेद, अस्पृश्यता, रोटीबंदी, बेटीबंदी, समुद्रबंदी, परदेशगमन निषेध आदि आज अत्यंत हानिकारक होनेवाली रूढ़ियों से जचकी के कमरे में कैंची की पूजा तक और प्रेतयात्रा की अरथी से किराए से लाए जाते छाती पीटनेवाले और रोनेवालों तक, आज धर्म माननेवाले सभी संस्कारों का और रूढ़ियों का यह वर्ग समर्थन करता है। उपयुक्त है या अनुपयुक्त यह प्रश्न प्रमुख रूप से न पूछते हुए ये संस्कार श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त हैं इसलिए धर्म होने ही चाहिए यही उनका एकमेव आधार होता है। इसी को वे 'शास्त्राधार' कहते हैं और इसी को हम हमारे राष्ट्र की 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति' कहते हैं।

'दो शब्दों में दो संस्कृतियाँ' यह हमारा लेख प्रमुख रूप से इसी वर्ग, जिन्हें हम कट्टर सनातनी समझते हैं, को संबोधित था। श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त की संपूर्णतः एकवाक्यता है यह बात हमें बिलकुल मान्य नहीं, यह अब पुनः कहने की आवश्यकता नहीं। हम तो ऐसा ही मानते हैं कि श्रुति परस्पर विरोधी विधि निषेधों से परिपूर्ण हैं। आज जिसे धर्म माना जाता है ऐसी सैकड़ों रूढ़ियों का श्रुति को पता भी नहीं है और सैकड़ों श्रुतियों ने उसका तीव्र निषेध भी किया है। इसलिए लेख में जिन-जिन स्थानों पर उस रूढ़ि को या विचार को 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त', 'सनातन', 'वेदकालीन' आदि विशेषण लगाए गए हैं, उन स्थानों पर बहुधा वे उपरोधात्मक हैं। हम उन्हें श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त मानते हैं यह बात नहीं है। परंतु हमारा कट्टर सनातनी वर्ग जो उसे मानता है, उनके मुख का वह विशेषण यहाँ केवल लिखा गया है। कुछ आक्षेपक इतने अरसिक या जान-बूझकर गलत रास्ते से जानेवाले मिले हैं कि वे संदर्भ से समझनेवाली बात भी नहीं समझ पाए और उन्होंने समझना दरशाया भी नहीं, इसलिए स्पष्टीकरण देना पड़ा।

परंतु मीमांसकों के समय से ही यह वर्ग आज के समाज का पौरोहित्य अपने हाथ में रखे हुए है और आज भी उपरिनिर्दिष्ट रूढ़ियाँ जिन अर्थों में रूढ़ियाँ हैं उन अर्थों में, बहुमत के कारण, इस वर्ग की श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति ही हमारे समाज की जाने-अनजाने नियमन करनेवाली साधारण प्रवृत्ति है यह नकारा नहीं जा सकता। इसलिए हम जो कहते हैं कि यूरोप में कुछ अपवाद छोड़कर, आज की प्रवृत्ति प्रत्यक्षनिष्ठ प्रवृत्ति यानी 'अप-टु-डेट', 'अद्यावत्' प्रवृत्ति है वैसे ही हमारी, अपवाद छोड़कर, जो शब्दनिष्ठ सर्वसाधारण प्रवृत्ति है वह श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है, यह हमारा कथन भी नकारा नहीं जा सकता। हमारा कट्टर सनातनी बंधु वर्ग भी इसे नहीं नकारेगा। इतना ही नहीं अपितु हमारे इस कथन का समर्थन ही करेगा, क्योंकि हमारा जो श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तता का आक्षेप है उसका यही आदर्श है।

दूसरा वर्ग अर्ध सनातनी

प्रत्यक्षनिष्ठ, विज्ञाननिष्ठ और अद्यावत् सुधारकों पर आक्षेप करनेवालों का दूसरा वर्ग अर्ध धर्मसनातनियों का है। आज की प्रगतिशील दुनिया से संघर्ष करते हुए अपने हिंदू राष्ट्र को जीवित रखना हो तो धर्म के नाम पर चल रही उपर्युक्त हानिकारक रूढ़ियाँ नष्ट करनी चाहिए यह बात इस वर्ग के लोगों को अच्छी तरह से ज्ञात हो चुकी हैं। आज हो रही वैज्ञानिक प्रगति के बारे में उन्हें काफी ज्ञान भी होता है। आज के नवीनतम शस्त्रों से अपना राष्ट्र सुसज्जित होना चाहिए ऐसी उनकी उत्कट इच्छा भी होती है। परंतु उनकी दृष्टि से यह सब होना चाहिए शब्दनिष्ठ श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति का संपूर्ण त्याग किए बिना। अद्यावत् वैज्ञानिक प्रवृत्ति को आत्मसात् कर व्यवहार में लाए बिना राष्ट्र को सुसज्ज बनाना असंभव है यह कहने का साहस या समझने का विवेक इनमें पूर्णतः नहीं दिखाई देता। बुद्धि और श्रद्धा, रूढ़िप्रियता और सुधार, पुराने संस्कार और नए संस्कार इनका सुसंगत समन्वय उनके मन में दृढ़ न होने के कारण वे न तो अद्यावत् प्रवृत्ति के बन पाते हैं और न तो श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति के। श्रुति से लेकर शनि-माहात्म्य तक के सारे ग्रंथ एक मुख से एक ही धर्म बताते हैं या सारे ग्रंथ मान्यता प्राप्त हैं यह समझना भी केवल गलतफहमी है—यह कहने की उनकी बुद्धि जाग्रत् अवश्य हुई होती है। परंतु किसी ग्रंथ को अनुल्लंघ्य धर्मग्रंथ, शास्त्र मानने के बिना, किसी शास्त्र का आधार लिये बिना, उनकी बुद्धि में केवल अपने बल पर उस रूढ़ि को नकारने की हिम्मत ही नहीं होती है। उदाहरणार्थ, अस्पृश्यता आज उपयुक्त नहीं यह बात उन्हें मान्य होने पर भी इस कारण से वे उसपर हथियार नहीं चलाएँगे। यह बात श्रुतिस्मृति धर्मग्रंथों में बताई नहीं गई, उसे शास्त्राधार नहीं, ऐसा निराधार समर्थन भी वे करेंगे। कुछ लोग अपनी मूर्खता न दिखने पाए ऐसा समझकर पुराणों को अप्रामाणिक मानेंगे, परंतु श्रुति को मात्र अनुल्लंघ्य प्रमाण मान लेंगे। फिर जो-कुछ नया या उपयुक्त होगा वह सब हमारी श्रुति में है ऐसा कहना नहीं भूलेंगे। कट्टर सनातनियों के समान, इन अर्ध सनातनियों की इस प्रकार की गतिविधियों से बेचारी श्रुति-स्मृति के अर्थ की, इतिहास की और सही योग्यता की खींचातानी होती रहती है। इधर रेलगाड़ी की खोज हो गई तो इन्हें वेदों में रेलगाड़ी के संबंध में जानकारी है ऐसा आभास होने लगता है। इधर विमान की खोज की गई तो वेदकाल में विमान थे यह कहने को संपादकीय लिख दिया ऐसा समझ लीजिए। और क्या बताएँ, इधर सत्याग्रह शुरू होते ही एक व्यक्ति ने 'वेदों में सत्याग्रह' इस नाम से एक अध्याय ही छाप दिया है यह पाठकों के ध्यान में होगा। अब शिरोडा में जो नमक की लूट की जा रही है, वह भी श्रुति में है ऐसा अथर्वण के कुछ मंत्रों के आधार पर सिद्ध

करनेवाला कोई महापंडित उनमें शीघ्र ही निकल आएगा ऐसी धारणा करना गलत नहीं होगा।

यथार्थ दृष्टि से देखें तो इस दूसरे वर्ग के लिए हमारा लेख नहीं लिखा गया था। क्योंकि यह वर्ग अभी भी 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' प्रवृत्ति के नियंत्रण से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हुआ है, तो भी आवश्यक सुधार करने के लिए किसी प्रकार तैयार हो जाता है। कट्टर सनातनी कहते हैं कि 'हिंदू अस्पृश्य, म्लेच्छ अहिंदुओं से हमारे लिए दूर के हैं, क्योंकि 'म्लेच्छ' जन्म से स्पृश्य है, परंतु हिंदू अस्पृश्य अस्पृश्य ही है ऐसा शास्त्र बताता है।' हिंदुत्व को कलंक लगानेवाले और हिंदू संगठनों की गरदन काटने का कृत्य करनेवाले ऐसे स्पष्ट निर्णय दूसरे वर्ग के लोग दें इतने शास्त्रभ्रमिष्त वे नहीं हैं। इसलिए शुद्ध सुधारकों का द्वेष जितना कट्टर सनातनी करते हैं उतना ही वे इन अर्ध सनातनी लोगों का उन्हें पाखंडी कहकर करते हैं। फिर भी हमारे लेख पर आक्षेप लेने में इस दूसरे वर्ग के भी लोग होने के कारण उन सबको हम एक साथ उत्तर देने का प्रयास कर रहे हैं। अधिकांश आक्षेप पंडित सातवलेकरजी के लेख में हैं, अत: उनके लेख का विचार करने से सबका ही निदान हो जाएगा, इसलिए हम पंडितजी का लेख ही प्रत्युत्तरार्थ चुन रहे हैं।

पंडित सातवलेकर के आक्षेप

हमारे लेख का समतोल बुद्धि से प्रत्युत्तर देने का पंडित सातवलेकरजी का मूल हेतु था यह बात उनके प्रारंभ के एक-दो परिच्छेदों से स्पष्ट होती है। उनकी इस सदिच्छा के लिए हम उनके आभारी हैं। यद्यपि उनके लेख में आगे चलकर क्वचित् उनके स्वयं के व्यंग्यात्मक टीका की दुर्बलता का अभाव मिटाने हेतु अन्य मार्ग न मिलने से, लेख में काफी हद तक चिड़चिड़ापन लेख में आ गया है। 'मरो, जलो' ऐसे बालिश गाली-गलौज देने तक बारी आ गई है। यद्यपि उन्होंने 'थोड़ी अच्छाई सीखो, श्रुति-स्मृति पढ़ो' इस प्रकार हमें मार्गदर्शन कर छोटे मुँह बड़ी बात की है फिर भी, उनकी मूल सदिच्छा का स्मरण करके हम उनके तात्कालिक चिड़चिड़ेपन की ओर दुर्लक्ष करते हुए विषय के संबंध में उनके द्वारा किए हुए आक्षेपों की ही चर्चा करेंगे।

पंडितजी दूसरे अर्ध सनातनी लोगों के वर्ग के हैं यह बात उनके प्रथम वाक्य से ही स्पष्ट होती है। विषय के आरंभ में ही वे कहते हैं, ''आज जो उपयोगी है वही करना चाहिए ऐसे कथन का हम कभी विरोध नहीं करेंगे।'' ठीक है, तो फिर आपने प्रथम झटके में ही हमारी सब बातें मान ली हैं, इसलिए आपका और हमारा महत्त्वपूर्ण मतभेद रहा ही नहीं। जो उपयुक्त है वही करना चाहिए—यही

हमारा कहना है। फिर वाद आप और हममें न रहकर उपर्युक्त वर्णित प्रथम वर्ग से ही आपको वाद करना चाहिए था। क्योंकि पुराणोक्त है क्या, यह प्रश्न ही व्यवहार में धर्माधर्म निर्णय में मुख्य। ऐसा वे कहते हैं, हम नहीं।

परंतु इस प्रकार का मतभेद मुख्य विषय में न होते हुए भी हमारे लेख का पंडितजी ने जो विरोध किया है उसका सही कारण उनके आगे के वाक्य में ही झलक रहा है। राष्ट्र को जो उपयुक्त है वही करना चाहिए। क्योंकि यह नियम अपने आपमें सही है। अर्थात् धारणक्षम धर्म है ऐसा हम कहते हैं; परंतु पंडितजी तुरंत कह देते हैं कि हमारे हिंदूशास्त्र यही बात कहते हैं। ठीक कट्टर सनातनी के समान वे एक अनुष्टुप श्लोक का 'शास्त्राधार' भी दे बैठते हैं। वह श्लोक इस प्रकार है—'श्रुतिस्मृति'''स्वस्यचप्रियमात्मनः' उपयुक्त वही करना चाहिए—क्योंकि शास्त्रों में भी यही कहा गया है। परंतु शास्त्रों के उस प्रकार के वाक्यों का अर्थ वैसा नहीं होता। आज धर्म मानकर पालन की जानेवाली रूढ़ियाँ, किसी को अनुपयुक्त लगीं तो भी मनुष्य ही नहीं भगवान् भी नहीं बदल सकेगा। 'यह धर्म भी अपरिवर्तनीय है' ऐसा स्पष्ट कहनेवाले जो शास्त्री हैं उनका क्या होगा? शास्त्र का आप एक अर्थ करते हैं, मीमांसक दूसरा और रूढ़िवादी तीसरा। इसलिए हम कहते हैं कि यह शास्त्राधार की बात बंद करनी चाहिए। आज का नया ज्ञान-विज्ञान प्रयोग सिद्ध होने पर भी केवल शास्त्रों के काल में ज्ञात नहीं था इसलिए नकारा जाना चाहिए क्या? इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर देने में पंडितजी सहमते हैं। अतएव हमारे राष्ट्र की समूची प्रवृत्ति श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त की बेड़ियाँ डालकर पंगु बनाई हुई जैसी हैं ऐसा जो हमने उस लेख में कहा, पंडितजी अपनी प्रवृत्ति से वही बात कह रहे हैं। वे कहते हैं, ''हिंदू धर्मशास्त्र भी आज 'उपयुक्त क्या है' इस बात को टालता नहीं। किंतु श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त की बात भी उसके पीछे जोड़ देता है। 'हमने भी यही कहा है। मानो यह 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' की बात उस 'उपयुक्त' के पीछे हाथ धोकर पड़ी है। इसलिए प्रत्यक्ष जो उपयुक्त वही बेखटके करनेवालों को भी, बदलती परिस्थिति का सामना करते हुए तुरंत-फुरंत आचार बदलनेवालों को 'अद्यावत्' यूरोपीय संस्कृति के सम्मुख हम शक्तिहीन, बलहीन होकर 'शास्त्राधार' के चक्कर में फँसे हैं ऐसा ही मानना चाहिए।

केवल कपट (आरोप)

तदनंतर प्रश्न उपस्थित कर पंडितजी कहते हैं कि 'किसी नई बात को स्वीकार करने के पूर्व यदि यह देखा जाए कि पुराने शास्त्रकार इस संबंध में क्या कहते हैं? फिर नई बात की उपयुक्तता तय की तो क्या बिगड़ता है? परंतु हमारे

विद्वान् देशभक्त बैरिस्टर सावरकर के अनुसार अब पुराना आधार देखने की आवश्यकता नहीं है।' इस प्रकार जो हमारी कही बात है ही नहीं, वह हमने कही है ऐसा कहते हुए पंडितजी किस तरफ भटक गए यह कहना भी कठिन है। ''शास्त्र जलाएँ, इतिहास जलाएँ, विश्वकोश जलाएँ, फिर बैरिस्टर सावरकर के ग्रंथ भी जलाने चाहिए क्या?'' यह वह हमसे पूछते हैं। हमारा उत्तर यही है कि जलाना ही है तो पंडितजी का यह व्यर्थ कपटी आरोप छोड़ कुछ जलाना आवश्यक नहीं। इसके विपरीत हमने अपने लेख में स्पष्टता से लिखा है कि 'प्राचीन श्रुतिस्मृतिपुराणादि शास्त्र, ऐतिहासिक ग्रंथ आदि किसी संग्रहालय में सम्मानपूर्वक रखने चाहिए और अब विज्ञानयुग का पृष्ठ पलटना चाहिए। उस ग्रंथ का अधिकार कल क्या हुआ यह बताने का है। परंतु आज क्या उचित है यह बताने का अधिकार प्रत्यक्षनिष्ठ विज्ञान का। अद्यावतता में गत सभी अनुभवों का सार समाविष्ट हुआ होता है' उसके बाद भी उपसंहार में उस लेख में हमने लिखा है, ''श्रुतिस्मृतिपुराणादि सभी स्मृतिग्रंथों का हम कृतज्ञता से और ममता से सम्मान करते हैं, पर केवल ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में। अनुल्लंघ्य धर्मग्रंथ के रूप में नहीं। हम उनका सारा ज्ञान और अज्ञान आज के विज्ञान की कसौटी पर कसेंगे और तदनंतर राष्ट्रधारणा के लिए उदाहरणार्थ, जो अनिवार्य लगेगा वह बिना हिचक व्यवहार में लाएँगे। इस प्रकार हम अद्यावत् बनेंगे, अप-टु-डेट बनेंगे।''

हमारे लेख के उपर्युक्त वाक्य उद्धृत करने के बाद पंडितजी लिखते हैं, ''पुराने ग्रंथों को देखना ही नहीं चाहिए उन्हें जला देना चाहिए ऐसा हमने कहा है।'' यह उनका कहना स्पष्ट रूप से कपटपूर्ण और झूठ है। यह अब फिर से कहने की आवश्यकता ही नहीं। कल तक के ज्ञान की कसौटी लेकर और कल के क्षितिज के रंग-रूप देखकर, फिर जो आज के राष्ट्रहित में उपयुक्त होगा वह एक बार तय करने पर, उन पुराने शास्त्रों का आधार न हो तो भी उसे व्यवहार में लाना चाहिए ऐसा हमारा स्पष्ट मत है। गुणों से ब्राह्मण न हो तो भी अमुक जाति का है इसलिए उसे ब्राह्मण के अधिकार नहीं मिलने चाहिए, वैसे ही आज प्रयोगांत में उपयुक्त या सत्य सिद्ध है, पुरानी पोथी में मिलता नहीं या निषिद्ध है अतः त्याज्य। इस अर्थ में जिसे शास्त्राधार कहते हैं ऐसा शास्त्राधार हमें नहीं चाहिए। परंतु इसका यह निष्कर्ष कि शास्त्राधार ही नहीं चाहिए—ऐसा करना केवल कपटपूर्ण आरोप है।

अंत में अरथी का आधार

हमारे लेख का प्रत्युत्तर देने की तीव्र इच्छा पंडितजी की थी, परंतु उलट उत्तर देने के लिए किस बात का सहारा लिया जाए यह न सूझने के कारण इस प्रकार

की अशरण स्थिति में जैसे कोई भी 'डूबते तिनके का सहारा' लेता है उसी प्रकार पंडितजी ने अपने समर्थन में अंत में अरथी का सहारा लिया है। आज की हमारी अरथी पर प्रेत ले जाने की प्रथा कितनी ही असुविधाजनक हो हम उसे छोड़ेंगे नहीं, सुधरेंगे भी नहीं, क्योंकि यही श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त हमारा धर्म है। हमने अपने उस लेख में जो पच्चीस-पचास अज्ञानी धर्म मान्यताओं के उदाहरण दिए हैं उनमें अरथी का भी एक उदाहरण दिया है। उसका उत्तर देने के लिए पंडितजी कहते हैं कि अथर्ववेद के समय भी, श्रुतिकाल में गाड़ी से प्रेत ले जाने की प्रथा थी इसलिए यह अरथी श्रुतिमान्य नहीं। यह उनका उत्तर उचित माना जाए तो भी यह उत्तर हमें न देते हुए कट्टर सनातनियों को देना चाहिए था, क्योंकि अरथी को या प्रस्तुत प्रेतयात्रा की अज्ञानी रूढ़ि को श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त कहकर हम उसका गौरव नहीं कर रहे हैं, वे कट्टर सनातनी इस प्रथा का गौरव करते हैं और हमने तो उलट उनकी वह टीका-टिप्पणी कितनी उपहासात्मक है यह दरशाने के लिए उनके 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' की रट उनके शब्दों में दोहराई है। दूसरी बात यह है कि पंडितजी ने वह मंत्र श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त माननेवाले हमारे इन कट्टर सनातनी बंधुओं को पढ़कर दिखाया, फिर भी वे उसकी टोका-टोकी करने के लिए नहीं चूकेंगे और कहेंगे कि आपका उत्तर बिलकुल उचित नहीं है, क्योंकि उस मंत्र में इतना ही कहा है कि अथर्व-काल में गाड़ी से भी प्रेत ले जाए जाते थे, अरथी पर नहीं ले जाते थे या नहीं लेकर जाना चाहिए ऐसा वह मंत्र नहीं बतलाता है। गाड़ी या अरथी ऐसा विकल्प है और इसलिए आज की रूढ़ि भी वैसा ही वैकल्पिक है। इसके आगे जाकर यदि आपने ऐसा वेद मंत्र ढूँढ़ लिया कि प्रेत अरथी पर लेकर जाना ही नहीं, तो भी यह सनातनी धर्म, पंडित सातवलेकरजी की बोलती बंद करने के लिए कहेगा कि उपलब्ध श्रुति में यदि स्पष्ट निषेध होगा तो भी लुप्त श्रुति में, 'अरथी पर ले जाओ' ऐसा विधि में ही लिखा है—होना ही चाहिए। और 'तुल्यबल विरोधे विकल्पः।' इसलिए विकल्प से आज की अरथी की प्रेतयात्रा श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है। वही सनातन धर्म है। धर्म या सनातन कहकर जिन रूढ़ियों का आज पालन हो रहा है उनका श्रुति के मंत्र भी विरोध नहीं कर सकेंगे। शास्त्राधारों के चर्वितचर्वण से यह प्रश्न कभी हल नहीं होने वाला, ऐसा जो हम कहते हैं वह इसी बात के लिए। उपलब्ध श्रुतियों में आधार नहीं होगा तो अनुपलब्ध श्रुतियों में होना ही चाहिए ऐसा वे मानकर ही चलते हैं। यह मत किन्हीं साधारण व्यक्तियों का नहीं होता है अपितु प्रत्यक्ष प्राचीन मीमांसाचार्य का। अब व्यक्ति जिस रूढ़ि को चाहे वह श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त, अतएव सनातन धर्म की है ऐसा निश्चित कर देगा इसलिए हम इस शास्त्राधार की चर्चा को व्यर्थ मानते हैं। और अरथी श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त हो, चाहे न हो तो भी उसकी चिंता न करते हुए

आज की प्रेतयात्रा की पद्धति असुविधाजनक है इसलिए उसे सुधारना चाहिए ऐसा हम मानते हैं।

केवल अरथी को ही नहीं अपितु पंडितजी बड़े गौरव से जिस अथर्व-काल की शवयात्रा का उल्लेख करते हैं उसे भी सुधारना चाहिए, क्योंकि उन श्रुतिमंत्रों में उल्लेखित बैलगाड़ी भी आज की मोटर कार के सामने टिकनेवाली नहीं। श्रुति में बैलगाड़ी से शव ले जाने की बात है फिर भी जिसे संभव हो उसे शव को मोटर से ले जाना चाहिए। श्रुति के पिछड़े काल में लकड़ियों की चिता ही सुविधाजनक होगी, पर अब बिजली से जलाई गई भट्ठी की अच्छी सुविधा निकली है। शव जलाने की यह नई पद्धति अद्यावत् है इसलिए सबको स्वीकारनी चाहिए।

परंतु मुंबई जैसे नगरों में विद्युत् भट्ठी में शव जलाने की जानकारी मिलते ही 'सनातन धर्म पर हमला! हमारी अरथी और चिता यही धर्म है।' इसलिए श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति ने इतनी गहरी चोट की है कि उसकी याद अभी ताजा है। बहुजन समाज की ओर से किस प्रकार 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' को समझ लिया जाता है उसका यह सबूत हमारे लेख के उन विधानों को मजबूती ही प्रदान करता है। वह उपयुक्त है क्या? यह प्रश्न नहीं, वह श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है क्या यह प्रश्न मुख्य है? यह जो हमारी परंपरागत अज्ञानी प्रवृत्ति है उसे छोड़कर जो उपयुक्त है उसे व्यवहार में लाने की अद्यावत् प्रवृत्ति हमें स्वीकारनी चाहिए। यह हमारे लेख का मुख्य विषय है और अरथी स्रोत है या नहीं, उससे हमारे विषय को कोई बाधा नहीं आती।

किंतु यह बकरा किसलिए?

अरथी के आधार में प्रस्तुत उनकी दलीलों की जो दुर्दशा हुई वही हमारे द्वारा यज्ञ संस्था के वैज्ञानिक युग की दृष्टि से की हुई छान-बीन के विरुद्ध जो आक्षेप उन्होंने किए थे उसकी भी हो गई। यज्ञ क्यों करना चाहिए? तो 'यज्ञात् भवति पर्जन्यः' यह पुरातन मान्यता अब अनावश्यक हो गई है यह हमारा कथन गलत साबित न कर सकने के कारण उसके संबंध में मौन धारण कर पंडितजी यज्ञ के समर्थन में दूसरे व्यापक लाभ की बात करते हुए कहते हैं कि 'यज्ञ में घी जलाने से रोग निवारण होता है।' साक्ष्य! पंडितजी पक्का निर्विवाद साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, श्रुतियों में ऐसा कहा है—यज्ञ से रोग निवारण होता है यह सिद्ध करने, आज तक का अनुभव, वैद्यकीय या वैज्ञानिक प्रयोग इनका प्रत्यक्षनिष्ठ आधार मिलता है या नहीं, यह बिलकुल न देखते हुए 'इति श्रुतिः' यह सबूत उन्हें पर्याप्त लगता है। यही हमारे लोगों की शब्दनिष्ठ 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' प्रवृत्ति! पंडितजी 'इति श्रुतिः' कहकर हमारे जिस लेख का विरोध करने निकले उसके ही एक

विधान को उसी वाक्य के साथ समर्थन दे चुके हैं। अस्तु! घी जलाने से वातावरण नीरोगी होता है यह यदि यज्ञ का मुख्य समर्थन है तो भी इस प्रकार की सरल बातों के लिए इस यज्ञीय कर्मकांड का यह भव्य और क्लिष्ट कर्म किसलिए चाहिए? इस यज्ञकुंड का आकार इतना चौड़ा होना चाहिए, उसके इतने कोण, दर्श इतना, समिधाओं की लंबाई अंगुलियों के बराबर, कब बैठकर घी डालना, कब खड़े होकर डालना। इस प्रकार यज्ञ के लिए लाखों रुपयों का व्यय करने के बाद भी उसकी विधि में अल्प गलती होने पर भी गोबर और गोमूत्र सेवन करना या उससे भी अधिक कठिन प्रायश्चित्त करना आदि यह सारे कष्ट क्या केवल आग में घी जलाने से वातावरण की शुद्धि होती है इतने छोटे और संदेहास्पद लाभ के लिए? उतना ही हेतु हो तो चूल्हे जलते ही हैं। उन्हीं में थोड़ा सा घी डालने से गृहशुद्धि हो जानी चाहिए और म्युनिसिपल झाड़ूवाले जब डांगर आदि चौक-चौक में जलाते हैं उसी में यदि पर्याप्त घी जला दिया जाए तो नगर की शुद्धि अपने आप होती रहेगी। घर-घर में धूप जलाने के लिए बरतन होता है वैसा ही एक बरतन घी जलाने के लिए रखना चाहिए। घी जलाने से यदि रोग हटते हैं तो वह सामर्थ्य घी जलाने की है, यज्ञ के भव्य कर्मकांड की नहीं।

परंतु वातावरण शुद्ध करने हेतु बरतन के बाद बरतन भर-भरकर यज्ञकुंड में घी डालते समय फिर ये बकरों के झुंड किसलिए यज्ञ की ओर ले जाए जा रहे हैं? बकरों की बलि देकर उनका खून बहाना, उनका शिर, मज्जा, हृदय, जिह्वा, वसा, नसा, मंत्रपूर्वक खींचकर जलती हुई आग में डालना और शेष पेट की खाई में डालना इसका क्या प्रयोजन है? इस मांस की बदबू से भी क्या वातावरण शुद्धि होकर राष्ट्र निरोगी होगा? और थोड़ा अप्रत्यक्षता से वैदिक और याज्ञिक ऐसा कहने से भी नहीं चूकते! क्योंकि यज्ञ का शेष मांस खानेवाले ऋत्विज लोग जिस प्रकार स्वर्ग को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार मांस की पूर्ति हेतु यज्ञ के लिए काटकर हुतात्मा बनाए गए बकरों के झुंड भी स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। साधे देहरोग से ही नहीं तो भवरोग से भी मुक्त होते हैं ऐसा 'शास्त्र' प्रतिज्ञा करके बताते हैं। इसलिए चार्वाक भी जोरदार प्रश्न करते हैं कि 'पशुश्चे न्निहितः स्वर्गं ज्योतिष्टोमेग मिश्यति। स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते?'

जिस हिंदुस्थान में सहस्राधिक यज्ञों में और अग्निहोत्रों में प्रतिदिन मनों घी जलाया जाता रहा है और काफी कुछ आज भी जल रहा है, उस यज्ञीय आर्यभूमि में शीत, ज्वर, महामारी, प्लेग, माता आदि सभी बीमारियों का प्रत्यक्ष अध्ययन करने के लिए इसे दुनिया का प्रथम स्तर का संग्रहालय बना दिया गया है और यज्ञ में एक चम्मच भर भी घी गत हजारों वर्षों में भी न जलानेवाले उन यज्ञ द्वेष्टा अनार्य

यूरोप, अमेरिका आदि राष्ट्रों में आरोग्य और आयुर्मान वृद्धिगत हो रहा है। इससे क्या यह सिद्ध हो जाता है कि यज्ञ में घी जलाना आरोग्य का अति उत्कृष्ट, अपरिहार्य और दिव्य साधन है? बहिरोबा के सम्मुख बकरा मारने पर प्लेग हटता है, बाइयों को नचाने से देवी हटती है, फटाफट चावल के बली, मातंगी की पूजा करके उसे नचाते हुए शोभायात्रा निकालने से महामारी हटती है और इस जटिल यज्ञकांड की रामकहानी में घी चढ़ाने से राष्ट्र नीरोगी बनता है, मुक्त होता है यह कथन वैदिक होते हुए भी वैज्ञानिक दृष्टि से आज बिलकुल हास्यास्पद माना जाएगा। 'प्लवाहयेते अदृढा अज्ञ रूपा!' ऐसा ऋषि भी कहने ही लगे थे।

परंतु यज्ञ से वर्षा होती है, घी जलाने से रोग हटते हैं आदि कल्पनाएँ आज यद्यपि हास्यास्पद लगती हैं तब भी उनपर लोगों की निष्ठा थी, अत: वैदिक या प्राचीन काल को हँसने की आवश्यकता नहीं। उस समय के मानवी ज्ञान और अनुभव के मान से यज्ञ-श्राद्ध-वर्ण आदि साधनों से मोक्ष मिलता है, देवी-देवता अपनी प्रार्थनाएँ प्रत्यक्ष सुनते हैं आदि विचार उन्हें भाते थे इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। हमारे प्राचीन पूर्वजों ने उस समय की दुनिया में अग्रस्थान प्राप्त किया था, इतना गौरव ही उनका महत्त्व दरशाने के लिए पर्याप्त है। इस यज्ञ संस्था ने भी उक्त काल में हमारे राष्ट्र की एकता और केंद्रीकरण के लिए जो प्रत्यक्ष सहायता दी उस संबंध में हमारे पूर्व के लेख में अपने कथनानुसार हम कृतज्ञता से उसे शतवार प्रणाम करते हैं। साथ ही अपने सनातन बंधुओं से प्रार्थना करते हैं कि वे आज भी उन संस्थाओं का वैज्ञानिक दृष्टि से समर्थन करने के बालिश प्रयास छोड़ दें। क्योंकि ऐसे प्रयासों से इस विज्ञान युग में उनका समर्थन नहीं होता, इसके विपरीत वे अकारण हँसी के पात्र होते हैं। वैदिक युग में घी जलाने से रोग हटते हैं यह विश्वास होना क्षम्य था। परंतु आज वही मनों घी और वे चावल के ढेर, वह मोहनभोग यज्ञ की आग में न जलाते हुए, भूख से पीड़ित अपने लाखों धर्मबंधुओं की पेट की आग में डालने से ही इस राष्ट्र के नीरोगी होने की थोड़ी-बहुत संभावना है।

श्रुति और श्रौतधर्म, उनके समय में जगत् में उनके अज्ञानी शत्रुओं से लड़ते समय दिग्विजय प्राप्त कर सके थे, अत: आज के विज्ञान युग में भी उसी प्रकार टिक सकेंगे ऐसी आशा करना व्यर्थ है। इंद्र दौड़ो, सोम दौड़ो, अग्नि देवता हमारे शत्रुओं को नष्ट करो, इस प्रकार की वैदिक प्रार्थनाओं से देव सहायता के लिए नहीं आते, वैज्ञानिक सूक्तों द्वारा ही उनसे दास के समान काम लिया जा सकता है। यह बात बहुतांश में अनुभवसिद्ध भी है। महाभारत का गांडीव धनुष खंडित हो गया। अब मशीनगन से लड़ना होता है। यह कहने से यदि स्वयं की अनावश्यक प्रशंसा करनेवाले हमारे शब्दनिष्ठ 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' प्रवृत्ति की हिम्मत यदि समाप्त

होती है, उसका तेजोभंग होता है तो उसमें राष्ट्र का हित ही है। अपने पर आक्रमण करनेवाली 'कल्पातसिंधु' सी कुरुशक्ति कितनी बलवान् है, उनके शस्त्र कितने जुझारू, यह स्पष्ट बताकर ही विराट् के अंत:पुर में झूठी प्रशंसा करनेवाले राजकुमार उत्तर के बालिश प्रताप मिटाने से, उसका तेजोभंग करने से ही उसका सही हित होने वाला था। उसे चने के पेड़ पर चढ़ानेवाले ही उसके वास्तविक शत्रु थे। तेजोभंग करने के लिए शल्य ने कर्ण को बार-बार फटकारा, परंतु कर्ण का प्रतिरथी, पार्थ उसे भी उसके सारथि ने वैसा ही फटकारा था। उन दोनों के हेतु में और परिणाम में जो अंतर है वही अंतर पार्टियों की टीका में तथा जिन्होंने इस हिंदू राष्ट्र के लिए मृत्यु को भी रोकने में कम नहीं किया उनकी टीका का हेतु और परिणाम इसमें अंतर होना ही चाहिए। इस बात का विवेक भी जिनको नहीं उन्हें पंडित कैसे कहें ?

उस पार्थसारथी के शब्दों में वे अद्यावत् प्रवृत्ति के समर्थक अपनी कूपमंडूकता की बेहोशी में प्रज्ञाहत हिंदू राष्ट्र को कहेंगे, ''कुतस्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्! अनार्यजुष्टम स्वर्ग्यम कीर्तिकरमर्जुन!'' छोड़ दो स्पर्शबंदी की, सिंधुबंदी की, रोटीबंदी की, पोथीजात जात-पाँत की पाँच हजार वर्ष पूर्व की अंधी भावनाएँ। तोड़ दो अपने कर्तृत्वता के चरणों में पड़ी हुई शब्दनिष्ठ श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति की बेड़ियाँ। और जो हथियार तुझपर आई हुई आज की विपत्ति का उच्छेद करने में समर्थ हो ऐसा हथियार चला। फिर वे शस्त्र तेरे शस्त्रागार में मिलें, चाहे नवीनों के शस्त्रागार से छीने जा सकें।

□

पुरातन या अद्यतन

'केसरी' दिनांक १९.१०.१९३४ के अंक में 'सावरकर और सातवलेकर' शीर्षक से एक लेख आया है। उसमें 'किर्लोस्कर' मासिक में मेरे लिखे हुए एक-दो लेखों की चर्चा है। उसमें ऐसा ही आशय होता कि मेरे द्वारा प्रतिपादित विचार गलत हैं, तो मैं उसको स्पष्ट करने का प्रयास नहीं करता। 'केसरी' के एक लेखक महोदय के विचार मुझसे भिन्न मत के हैं इतना ही मानकर मैं उसे हाथ से झटक देता। परंतु उस लेख में मेरा मत गलत है इतना ही आशय न होकर जिस मत को मैं गलत मानता हूँ वही मेरा मत है ऐसा विपरीत मत व्यक्त किया गया है। इसलिए मुझे स्पष्टीकरण देना आवश्यक लगता है।

'केसरी' में लेख के आरंभ में 'किर्लोस्कर' मासिक नए पंथ का प्रवर्तक है, 'पुरुषार्थ' मासिक पुराने और नए में से जो उत्तम है, लेना चाहिए—ऐसा प्रतिपादन करता है। इस प्रकार का उन मासिकों का जो परिचय पाठकों को करा दिया गया है वही पाठकों का मन पूर्वदूषित करनेवाला है। मानो 'नए पंथ' के लोग पुराने में से उत्तम भी नहीं लेना चाहिए या नए में से बुरा भी लेना चाहिए ऐसा कहते हैं। मैंने 'किर्लोस्कर' मासिक पत्रिका के बहुत से अंक पढ़े हैं। परंतु उसमें 'पुराने का उत्तम भी छोड़ो और नए की बुराई भी लो!' ऐसी घोषणा संपादकों ने की है ऐसा मेरे पढ़ने में कहीं नहीं आया। तथापि उस मासिक पत्रिका के सुविद्य संपादक अपनी नीति का उल्लेख आवश्यकतानुसार करने में समर्थ हैं, इस कारण मैं उस संबंध में अधिक जानकारी देना नहीं चाहता। परंतु इस प्रकार के नए पंथ की ओर से मैंने कलम उठाई है अर्थात् पुराने और नए में से उत्तम को स्वीकारना चाहिए इस मत का मैं विरोधी हूँ और इसलिए वैसा जिसका आदर्श है ऐसा 'पुरुषार्थ' मासिक पत्रिका मेरे विचारों को काट दे रही है। ऐसी जो विचारधारा 'केसरी' के उस लेख में व्यक्त होती है, वह मैं जो कुछ कहता हूँ उसे नकारनेवाली और यथार्थता का विपर्यास करनेवाली होने के कारण मैं अपनी सीमा तक उस

विचारधारा का प्रकट विरोध कर रहा हूँ।

मतभेद जो है वह पुराने या नए में से उत्तम को स्वीकारना चाहिए इस कथ्य से नहीं है, उलट हम भी वही कह रहे हैं। मतभेद जो है वह उत्तम, राष्ट्र के लिए आज उपयुक्त क्या है और उसे किस कसौटी से निश्चित करना है—शब्दनिष्ठ 'शास्त्राधार' से या विज्ञाननिष्ठ प्रत्यक्ष प्रयोग के द्वारा—इस मुद्दे पर है। 'किर्लोस्कर' में प्रकाशित हमारे दो विवादास्पद लेखों में निम्नांकित वाक्य हमारी स्पष्ट भूमिका क्या थी, वे दरशाएँगे। (हिंदी अनुवाद)—"ये प्राचीन श्रुतिस्मृतिपुराणादि शास्त्र ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में संग्रहालय में ससम्मान रखकर अब विज्ञान युग के पृष्ठ खोलने चाहिए। इन ग्रंथों का कल क्या हुआ था यह कहने का ही अधिकार है, आज क्या उचित है यह कहने का अधिकार प्रत्यक्षनिष्ठ अद्यतन विज्ञान का है। इस अद्यावतता में पिछले समस्त अनुभवों का सार समाविष्ट हुआ है। श्रुतिस्मृतिपुराणादि सभी ग्रंथों का हम अत्यंत आदर से सम्मान करते हैं, पर केवल ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में। अनुल्लंघ्य ग्रंथ के रूप में नहीं। उनका सारा ज्ञान और अज्ञान आज की कसौटी पर हम रखेंगे और तदनंतर राष्ट्रधारणा की दृष्टि से, उद्धार की दृष्टि से जो आवश्यक लगेगा उसका निर्भयता से उपयोग करेंगे। इसका अर्थ यह है कि हम अद्यावत् बनेंगे, अप-टु-डेट बनेंगे। कल तक के समस्त ज्ञान की कसौटी लेकर और कल के क्षितिज के दिख सकेंगे उतने रूप-रंग देखकर फिर आज जो राष्ट्रहित के लिए उपयुक्त होगा, उसके लिए पुराने ग्रंथों में शास्त्रार्थ न मिलता हो तो भी, निर्भयता से व्यवहार में लाना चाहिए। प्रयोग करने के बाद यदि जो आज सत्य या उपयुक्त है वह किसी पुराने ग्रंथ में शास्त्राधार नहीं इस कारण त्याज्य नहीं होना चाहिए—ऐसी शर्त जो रखता है ऐसा शास्त्राधार हमें नहीं चाहिए। परंतु इसका अर्थ शास्त्र देखना ही नहीं ऐसा निकालना केवल गलत आरोप है।

अद्यतन प्रवृत्ति

उपर्युक्त 'उद्धरण' से यह स्पष्ट होगा कि कल तक के प्राचीन में से प्रयोग करने के बाद जो आज भी उत्तम है और विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है, वह ज्ञान तो हम छोड़ने के लिए नहीं कहते; परंतु उस पुराने में से जो-जो आज के विज्ञान की कसौटी पर अज्ञान ठहरता है वह भी समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की दृष्टि से हमें त्याज्य नहीं लगता। पुरातन सभी अच्छे-बुरे अनुभवों से, आज के विज्ञान की कसौटी पर जो राष्ट्रधारा को उपयुक्त है उसी को बेधड़क व्यवहार में लाना चाहिए। कल की बदली हुई स्थिति में और विज्ञान के विकास में यदि वह भी

अहितकारक होगा तो हमारा आज का व्यवहार बदलने के लिए 'कल' को भी बंधन होना नहीं चाहिए। इस प्रकार के विज्ञाननिष्ठ विचारों को ही हम अद्यावत् कहते हैं और अद्यतन प्रवृत्ति भी यही है।

सनातनी प्रवृत्ति

इसके विपरीत जो शब्दनिष्ठ, वेद-कुरान-बाइबिल को अपौरुषेय मानती है, उसका ही व्यवहार करना चाहिए फिर वह उपयुक्त हो या न हो—ऐसा कहनेवाली, वचनात्प्रवृत्ति र्वचनात् निवृत्ति ऐसा जिनका आदर्श हो वह सनातन प्रवृत्ति। सनातनी लोग उसके संबंध में स्वयं ही कहते हैं कि 'श्रुति अपौरुषेय होती है।' वेद 'सर्वज्ञानमयो हिस:' होने से त्रिकालाबाधित हैं। उस श्रुति में जो है वही स्मृति-पुराण में है, उनमें परस्पर विरोध बिलकुल नहीं है। आज धर्माचार रूप में पालन की जानेवाली रूढ़ि को, यदि आज की उपलब्ध श्रुतियों में आधार न मिलता हो तो जो श्रुतियाँ अनुपलब्ध हैं उनमें वह होना ही चाहिए। इसी रचना को आज श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तता जिस अर्थ में कहते हैं उस अर्थ में वह तर्क आमूलाग्र असत्य और अहितकारक है ऐसा हमें लगता है, उस अर्थ में और उसके लिए हम यह श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति, हिंदूराष्ट्र की बुद्धि के चरणों में बँधी हुई बेड़िया हैं ऐसा मानते हैं और हम शीघ्र ही उन बेड़ियों को काटने का प्रयास करते हैं।

१. परंतु इसका दोष हम श्रुति-स्मृति पर नहीं लादते। हजारों वर्ष पूर्व की, उनके काल के ज्ञानानुसार, उनकी परिस्थिति में उत्पन्न राष्ट्रीय कठिनाइयों से उबरने के लिए उन्होंने यथासंभव जो आवश्यक लगा वैसा हल किया। दोष तो उनके समय में उपयुक्त व्यवहार को त्रिकालाबाधित माननेवाली आज की शब्दनिष्ठ, पुरातनी, श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति का है। गोवध पोथी में निषिद्ध है, इसके लिए मुसलमानों ने गायों के झुंड सेना के सामने रखकर हिंदुस्थान पर आक्रमण किया। ऐसे समय में गायें मरेंगी इस भय से मुसलमानों से लड़ने की बात जिस प्रवृत्ति ने टाली, दोष उसका है। जन्मजात युगों-युगों से जो लोग हिंदू थे उन्हें धर्मांतरित करने का जोरदार प्रयास मुसलमान और पुर्तगालियों ने किया और घर या कुएँ में डबलरोटी का टुकड़ा गिर गया तो उसको खानेवाले सभी व्यक्ति अहिंदू हो गए—यह जो प्रवृत्ति बताती है उसका दोष है। इतना ही नहीं अपितु आज भी उन्हें पुन: शुद्ध कर हिंदू धर्म में लेना हो तो कितने वर्ष पूर्व के पाँच वर्ष या साढ़े सात वर्ष के लोगों को शुद्ध कर लेना चाहिए इसके लिए भी शास्त्राधार ढूँढ़ने के लिए कितने ही शतकों का समय बिता रहे हैं। जागतिक

व्यापार और आक्रमण से प्रबल राष्ट्र भी प्रबलतर हो रहे हैं ऐसे समय परदेश गमन या समुद्र गमन करना चाहिए या नहीं—इसका शास्त्रार्थ ढूँढ़ने में आज डेढ़ हजार वर्ष से जो प्रवृत्ति पंचगव्य के हौज में डूबी हुई है ऐसी प्रवृत्ति का दोष है। इसी प्रवृत्ति के लोग परधर्म के हरि द्वेष्टा म्लेच्छों को स्पृश्य, परंतु स्वधर्मी हरिभक्त हिंदू महार को अस्पृश्य बताते हुए निर्लज्ज निर्णय देते हैं। इस प्रकार की उपर्युक्त सनातनी प्रवृत्ति के कारण ही हमारे राष्ट्र-शत्रुओं का हमारे बड़े-बड़े विश्व साम्राज्य मिटाना दस गुना सहज हो चुका है। हमें राष्ट्रीय स्वतंत्रता का संरक्षण करना भी कठिन हो रहा है। नए राज्य संपादन करने में तो इसका अड़ियल विरोध बाधा बन ही रहा है। ऐसा हमारा निश्चित मत इतिहास से और अनुभव से हुआ है। इस कारण से सनातनी शास्त्र की निरर्थक बातों और इस वचनात् प्रवृत्तिर्वचनान्निवृत्ति से हमें अत्यंत घृणा हुई है; परंतु श्रुति-स्मृति आदि परमवंदनीय शास्त्रों से नहीं।

२. अरथी की पद्धति वेदकाल में थी हमने ऐसा मत प्रतिपादित नहीं किया है या सातवलेकरजी द्वारा लिखे गए मंत्रों से भी सिद्ध नहीं हो रहा है। फिर भी 'केसरी' के लेख में ऐसा लिखा है कि श्रुति में गाड़ी से शव ले जाने की बात है ऐसा सातवलेकरजी ने साधार दिखा दिया है। इसी प्रकार के अन्य विधान भी स्थालीपुलक न्याय से सावरकरजी के साहित्य में असत्य है। स्थालीपुलक न्याय का यह उदाहरण अजब है। गिबन के इतिहास का एक विधान गलत हो गया तो स्थालीपुलक न्याय से उनका सारा इतिहास भी गलत हो जाएगा? मान लीजिए 'केसरी' में कोई मुद्रिताक्षर उलटा छप गया तो क्या स्थालीपुलक न्याय से संपूर्ण 'केसरी' उलटे अक्षरों में छपा है यह सिद्ध होगा। पंडितजी के सीधे-साधे लेख में ऐसे ढीले-ढाले वाक्य आ गए तो कोई बात नहीं, परंतु केसरी के हिसाबी लेख में ऐसे वाक्य किस प्रकार घुस गए यह बात समझ में नहीं आती। ऐसे स्थान पर स्थाली का न्याय नहीं लगता, रोटी का लगता है। एक रोटी कच्ची हो तो सभी रोटियाँ कच्ची हैं यह समझना उचित है क्या? हमारे लेख का मुख्य विषय प्रगत राष्ट्र के लिए शब्दनिष्ठ पुरातनी प्रवृत्ति हितकर है अथवा अद्यतन विज्ञाननिष्ठ है। फिर अरथी वेदोक्त सिद्ध हुई या नहीं यह निरर्थक बात बाधक नहीं।

३. किसी व्यक्ति का आदर रखने हेतु उसके असत्य विधानों को भी सत्य मानना चाहिए ऐसी प्रार्थना पंडितजी से किसने की थी? मैं वैसा कभी नहीं

करूँगा ऐसा जानकर बीरवृत्ति का आत्म प्रसाद भोगने के लिए स्वयं की समस्याओं से स्वयं जूझ रहे हैं। जो सत्य किसी एक अ, ब, स के मानने पर अस्तित्व में रहता है उसे हम तुच्छ मानते हैं।

४. अब शेष है 'केसरी' के लेख का तेजोभंग का आक्षेप। उसके संबंध में तथा विषय के समारोप के लिए हमें जो कहना है वह मूल लेख के उपसंहार में इस प्रकार लिखा है—

अनुवाद : श्रुति और श्रौत उस काल के अंत में अपने शत्रुओं से लड़ते समय दिग्विजय प्राप्त कर सके इसलिए विज्ञान युग में भी वे टिक जाएँगे, यह आशा व्यर्थ है। इंद्र दौड़ो, चंद्रमा, अग्नि! हमारे शत्रुओं को मारो—इस प्रकार की वैदिक प्रार्थनाओं से देव सहायता नहीं करते, परंतु वैज्ञानिक सूक्तों से उनसे काम लिया जा सकता है यह बहुतांश में अनुभव-सिद्ध हुआ है। महाभारत का गांडीव धनुष खंडित हुआ है। मशीनगन से भिड़ना है। इसका प्रतिपादन करने से यदि स्वयं की प्रशंसा करनेवाली, व्यर्थ बकवास करनेवाली, हमारी 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' प्रवृत्ति का साहस समाप्त हुआ तो हमारे राष्ट्र का निश्चित हित ही है। जैसे अपने राज्य पर आक्रमण करनेवाले वे कल्पांत-सिंधु समान कुरुसेना कितनी बलवान् है, उनके शस्त्र-अस्त्र भी बड़े जुझारू हैं आदि स्पष्टता से बताकर विराट् राजा के अंत:पुर में प्रशंसा करनेवाले युवराज उत्तर के बालिश प्रलाप काटकर और उसका तेजोभंग करने में ही, उनका सही हित साध्य होनेवाला था, ऐसे समय में उन्हें चने के पेड़ पर बैठानेवाले (अनावश्यक प्रशंसा करनेवाले) उनके सही शत्रु थे। एक उदाहरण यह भी दिया जा सकता है कि महाभारत के समय तेजोभंग करने के लिए शल्य को कर्ण ने बार-बार फटकारा था और कर्ण के प्रतिस्पर्धी अर्जुन को उसके सारथि कृष्ण ने भी इसी प्रकार फटकारा था। उन दोनों के उद्देश्य और परिणाम में जो अंतर पादरी लोगों की टीका में और जिन्होंने हिंदू राष्ट्र के हितार्थ मृत्यु को भी टोकने के लिए नहीं छोड़ा, उनके उद्देश्य और परिणाम में अंतर होना ही चाहिए। यह विवेक जिसे नहीं रहता उसे पंडित कैसे कहेंगे?

६. उस पार्थसारथी के शब्दों में ही वे अद्यावत् प्रवृत्ति के समर्थक इस कूपमंडूकता की बेहोशी में हतप्रभ हुए हिंदू राष्ट्र को बताएँगे कि 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्। अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम कीर्तिकरमर्जुन!' छोड़ दो स्पर्शबंदी की व्यर्थ भावनाएँ जो पोथीजात जाति-पाँति की पाँच हजार

वर्ष पुरानी हैं। तोड़ दो अपने कर्तव्य के पैरों में पड़ी हुई शब्दनिष्ठ श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति की बेड़ियाँ। और जो हथियार तुमपर आई हुई आपत्ति के उच्छेद हेतु आज समर्थ है—चला दो वह हथियार। फिर वह तुम्हारे पुराने शास्त्रागार में मिले या इन नए अद्यावत् प्रवृत्ति के शस्त्रागार से छीना जाए।

□

यंत्र

अपना देश आज जिस युग में प्रवेश कर रहा है, वह युग यूरोप में दो सौ वर्ष पूर्व ही शुरू हो गया था। अर्थात् हम यूरोप से दो सौ वर्ष पीछे रह गए हैं। इस युग का अर्थशास्त्रीय नाम है यंत्रयुग। यूरोप में यह यंत्रयुग दो सौ वर्ष पूर्व जब वाष्प शक्ति आदि खोजों के कारण आया तब इस यंत्र प्रभाव के धक्के ने उधर भी उस समय के रूढ़ विचारों को और आचारों को झकझोर दिया था। मनुष्यजाति पर यह यंत्रयुग का भयंकर संकट आया है। इसलिए मानव मानवता से वंचित हुए बिना नहीं रहेगा। धर्म का नाश होगा। मनुष्य का जीवन यंत्र के समान हृदयशून्य, कृत्रिम और कलाहीन होकर उसका शरीर भी दुर्बल तथा परतंत्र होगा। इतना ही नहीं अपितु जिस आर्थिक संपन्नता की और सुख-सुविधा की लालसा से मनुष्य यंत्र के पीछे लगा है, वह आर्थिक लालसा भी यंत्र के पहियों में फँसकर नष्ट होगी। इस यंत्र के कारण मानव पेट भर न खाता-पीता तो भीख माँगने लगेगा। इस प्रकार का शोर उस समय की पुराणप्रिय स्थिति में और धर्म-भोले लोगों ने समस्त यूरोप में शुरू की थी। Back to nature यह उनका सूत्र था। 'यंत्र के कारण बेकारी बढ़ती है और मनुष्य भीख माँगने लगता है' ऐसा वयस्क अर्थशास्त्री कहने लगे। 'यंत्र शैतान की युक्ति है। भगवान् की महानता को नीचा दिखानेवाली रावणी इच्छा।' धर्मशास्त्री चिल्लाने लगे।

न्यूनाधिक दो सौ वर्ष पूर्व जब यंत्र शक्ति का जोरदार आगमन यूरोप में हुआ तब उसका सर्वत्र विरोध हुआ। उसकी पुनरावृत्ति आज हमारे देश में हो रही है। दो सौ साल बाद हम उस प्रगति के बिंदु पर आ पहुँचे हैं। 'यंत्र मानव को मिला वरदान नहीं शाप है' ऐसी चिल्ल-पों करने में कितना तथ्य या अतथ्य है यह विवेचन करने के कार्य में हमारे द्वारा उपयोग में लानेवाले तर्क और देनेवाले प्रमाण यूरोप की जनता के लिए एकदम बासी और खराब लगेंगे, क्योंकि वे आक्षेप-प्रत्याक्षेप, वाद-विवाद उनके यहाँ समाप्त हुए सौ-डेढ़ सौ वर्ष बीत चुके हैं। परंतु यूरोप की ओर

आज बिलकुल बासी, अज्ञानी, पागलपन माने जानेवाले उन्हीं आक्षेपों को हमारे यहाँ एकदम नया आक्षेप समझकर अनेक अज्ञानी संप्रदाय प्रचार कर रहे हैं इस कारण यंत्र शक्ति पर के वे आक्षेप काटकर यंत्रनिष्ठ प्रगति को पूर्व में दिए गए उन उत्तरों की पुनरुक्ति करना आवश्यक हो जाता है।

देवभीरुपन जितना घटे, यंत्रशीलता उतनी बढ़े

अपने समाज में यंत्रशीलता की कमी का प्रमुख कारण देवभीरुता की अधिकता है। दो सौ वर्ष पूर्व यूरोप भी क्रिश्चियन धर्मानुसार देवभीरु था। तब वहाँ भी यंत्रशीलता नहीं थी। लिस्बन का बड़ा भूकंप अठारहवें शतक में आया। तब उसका कारण, रोमन कैथॉलिक धर्म मत के विरुद्ध प्रोटेस्टेंट लोगों द्वारा चलाया हुआ व्यर्थ का वाद था। ऐसा यूरोप के बड़े-बड़े धर्मगुरुओं ने और सामान्य जनता ने भी माना। प्रोटेस्टेंट लोगों में भिक्षुणियों की शादियाँ भी हुईं, पादरी लोग भी शादी करने लगे। पोप का शब्द अस्खलनीय (infallible) और शिरसावंद्य नहीं मानते, इस पाप के कारण भूकंप हुआ था ऐसा निर्णय करके धर्मभीरु लोगों ने उसका उपाय ढूँढ़ा कि प्रोटेस्टेंटों को ही नष्ट कर देना चाहिए। ऐसी भोली वृत्ति को भूकंप के सही भौतिक कारण खोजने की बुद्धि होना ही कठिन, फिर भूकंप के नियम समझकर उसके झटके कब और कहाँ बैठेंगे इसकी आगामी सूचना देनेवाले भूकंपसूचक यंत्र को बनाने का कार्य जन्म-जन्मांतरण में ध्यान में आना संभव नहीं। यूरोप में इस प्रकार की दैववादी वृत्ति को गिरानेवाली विज्ञानवृत्ति जब उत्पन्न हुई तभी उस विज्ञान के नियमों पर अधिष्ठित यंत्रशीलता यूरोप में उन्नति कर सकी। परंतु हिंदुस्थान में आज भी राष्ट्र का 'सर्वाधिकारी' के रूप में प्रसिद्ध गांधी सरीखे अनेक नेता भी बिहार के भूकंप का कारण अस्पृश्यता का 'पाप' है यह 'आत्मा की दैवी आवाज' की शपथ लेकर बता रहे हैं। फिर क्वेटा के भूकंप का कारण मनुष्यजाति का कौन सा पाप होना चाहिए इसके संबंध में 'आत्मा की आवाज' की मान्यता लेने की कोशिश कर रहे हैं। उधर शंकराचार्यादि धर्म के सर्वाधिकारी, वे भूकंप अस्पृश्यतानिर्मूलन के पाप के कारण होते हैं ऐसा शास्त्रों की शपथ लेकर बता रहे हैं। जिस राष्ट्र के सर्वाधिकारी इतने भोले-भाले हों उस राष्ट्र की सामान्य जनता की भोली प्रवृत्ति का क्या वर्णन करें? यूरोप में आज १९३६वाँ सन् चल रहा है तो हमारे देश की प्रगति का सन् १७३६ चल रहा है।

देवभीरुपन यानी प्रत्येक घटना का कारण देव की इच्छा, क्रोध या लोभ और उन घटनाओं में से संकट की घटनाओं को टालने का उपाय यानी भगवान् को प्रसन्न करना। अर्थात् उनका यंत्र यानी प्रार्थना, पूजा, सत्यनारायण, जप-जाप्य, छा-

छू आदि। वर्षा नहीं हो रही? 'ऋग्वेद' का मंडूकसूत्र पढ़कर मेढक देवता की आराधना करना। नौका डूब रही है? वरुणसूक्त बोलकर समुद्र को नारियल अर्पित करो। प्लेग हो गया? बहिरोबा के लिए बकरा काटो? नहीं तो 'ईद को' गाय की कुरबानी करो, खुदा भले करेगा।

किंतु यंत्रशीलता इस सृष्टि के भौतिक व्यापार का निश्चित सृष्टि नियम का फल है और यदि हम उन नियमों के अनुसार उन घटकों को इकट्ठा कर सके तो वह कार्य फलित होना ही चाहिए। इस निष्ठा पर ही यंत्रशीलता का अधिष्ठान होगा। अमुक अंश तक पानी की गरमी बढ़ाई तो उसकी भाप होनी ही चाहिए, फिर उस समय वह यांत्रिक नमाज पढ़ने को भूल गया इस कारण उसका अल्लाह क्रोधित हुआ हो अथवा संध्या करना टालने के कारण देव गुस्से में हो, पानी की निश्चित मात्रा को निश्चित उष्णता का स्पर्श होते ही निश्चित पानी की भाप होनी ही चाहिए। चाहे भगवान् ने किए कहिए परंतु जो सृष्टि नियम एक बार बना दिए उसे प्रत्यक्ष भगवान् भी बदल नहीं सकता। आम के चार पिटारे भेंटस्वरूप भेजने पर अपनी ओर से निर्णय देनेवाले सामान्य कलेक्टर को हम अन्यायी और रिश्वतखोर कहते हैं, परंतु चार बकरों की बलि न देने पर समस्त गाँव को उसमें रहनेवाले बच्चों सहित प्लेग से मारने की भयंकर रिश्वतखोरी भगवान् पर आरोपित करना जो नहीं छोड़ता वह धर्मभीरुता, देव के देवत्व को कालिमा लगानेवाली है। निश्चित सृष्टि नियम भगवान् कभी नहीं बदलता। यह यथार्थनिष्ठा जितनी सही, उतनी ही धर्म्य है। ऐसी विज्ञानजन्य निश्चित सही यंत्रशीलता की जननी है। इसके कारण ही लोगों में देवभीरुता जिस मात्रा में घटेगी उस मात्रा में विज्ञाननिष्ठ यंत्रशीलता उनमें बढ़ेगी।

नाना फड़नवीस की एक कहानी

उपर्युक्त उल्लिखित तत्त्व के उदाहरणस्वरूप पेशवाई की एक छोटी बात कहने योग्य है। जिसके अतुल बुद्धि-बल से हिंदू पदपादशाही के सूत्र जिसके हाथों थे तब तक तो 'जलचर हैदर निजाम इंग्रज रण करितां थकले। ज्यांनी पुण्याकडे विलोकिले से संपत्तीला मुकले' (अर्थात् जलचर, हैदर, निजाम, अंग्रेज जिन्होंने भी पूना की ओर वक्र दृष्टि डाली, वे सब लड़ते-लड़ते थक गए तथा अपनी संपत्ति से भी हाथ धो बैठे।) इस प्रकार अपना दबदबा मराठों ने समस्त अहिंदुओं पर बैठाया था। उस नाना फड़नवीस की एक कहानी ऐतहासिक दस्तावेजों में मिली है, वह इस प्रकार है—नाना ने एक बार काशी में कुछ पुण्य कर्म करने हेतु कर्मनाशिनी नाम की नदी पर एक पुल बनाने का काम शुरू किया। परंतु प्रारंभ में रेत और पानी के कारण

नींव टिक नहीं पा रही थी। जिनके ऊपर इस बाँध की जिम्मेदारी सौंपी थी उन्होंने, काशी के हस्तकों ने, गंगा माई को प्रसन्न करने हेतु व पुल बनाने के लिए और उसकी अनुमति प्राप्त करने के लिए उस रुष्ट गंगा माई को तैयार करने का उनका जो परंपरागत उपाय था वह किया। ब्राह्मणों के द्वारा दिनांक ६.९.१७९५ के दिन से अनुष्ठान आरंभ किया। हवन में आहुतियाँ देकर अंत में ब्राह्मण थक गए, परंतु पुल का आधार स्थिर नहीं हो रहा था। बेचारे ब्राह्मण तो भयभीत हुए, परंतु आधार के नीचे पानी कम नहीं हो रहा था। जब यह समाचार पूना में नाना को ज्ञात हुआ तब उन्होंने इस अनुष्ठान को बंद करवाया और एक अंग्रेज इंजीनियर बेकर को वहाँ भेजा। उसने आधुनिक उपकरण कलकत्ता से मँगाए और देखते-देखते उस यंत्र की सहायता से पानी और रेत को हटाकर पक्का पुल बना दिया। जलदेवता की नाड़ी उचित स्थान पर दबाते ही वह होश में आया। धर्मभीरुता के अनुष्ठान से भौतिक सृष्टि नियमों में कुछ भी अंतर नहीं आता है। परंतु उन नियमों की खास युक्ति जानते ही उनसे चाहे वैसा काम कराया जा सकता है। परंतु भगवान् की इच्छा का वैज्ञानिक यंत्रशास्त्र में कोई स्थान नहीं होता।

उपर्युक्त छोटी बात में देवभीरुता जैसे-जैसे कम होती जाएगी वैसे-वैसे यंत्रशीलता बढ़ती जाएगी, यह बात स्पष्ट हो जाती है। उस पुराने समय में नाना को यह यंत्र की बात ध्यान में आई यह उनके एक अकेले तेज बुद्धि होने का प्रतीक है। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि पानी खींचने के पीपे जैसी सधी हुई वस्तु भी मराठी साम्राज्य में उपलब्ध न होते हुए उसे वह कलकत्ता के एक अंग्रेज के पास से मँगानी पड़ी और अंग्रेज की मदद से उस यंत्र को चलाना पड़ा। यह बात अपने राष्ट्र के उस समय की सामूहिक अज्ञानता और भोली वृत्ति का प्रमाण नहीं है क्या?

वास्तविक रूप से देखें तो यंत्रशास्त्र का यह मूल सिद्धांत है कि उसके सूत्र में ईश्वर की इच्छा का, धर्मशास्त्रीय पाप-पुण्य का या ज्योतिष के शकुन का कोई महत्त्व नहीं है। इतना ऑक्सीजन, इतना हाइड्रोजन, इतना प्राणवायु, इतना उदजन मिलाया कि बन गया पानी। फिर वह संयोग शुभ मुहूर्त पर हुआ हो या न हुआ हो, बकरा न मिलने पर बहिरोबा या ईद को गाय के कारण खुदा, उस समय क्रोध में हो चाहे न हो, वह रसायन सूअर को खानेवाला ख्रिस्त बनाए या मुसलमान, सिद्ध होगा ही। यंत्रशास्त्र का सिद्धांत ही इस प्रकार के देवभोले धर्मशास्त्र के सीधे विरोध में है। परंतु आश्चर्य यह है कि हमें जो कुछ पुराने यंत्रों की जानकारी है, जो कुछ पुराना यंत्रशास्त्र है उसे ही हम देवभोले लोगों ने धर्मशास्त्र की गोद में दत्तक देना नहीं छोड़ा।

यंत्रशास्त्र की अजस्र और मजबूत फौलादी प्रतिमा धर्मशास्त्र के कच्चे

आधार पर खड़ी करने का हमारा प्रयास कितना हास्यास्पद है! मकान की छत यदि मजबूत बनाई तो फिर वह शकुन देखकर बनाई हो या न हो, उसकी पूजा की हो या नहीं, वह छत की शिल्पशास्त्रीय मजबूती से अधिक या कम होना संभव नहीं। परंतु छत बनाते समय उसकी समंत्रक पूजा किए बिना वह घर मजबूत बना ऐसा हमारे मन को नहीं लगेगा। फिर कई माह तक हम उस घर में रहने के लिए नहीं जाएँगे। क्योंकि उस घर की वास्तुशांति नहीं हुई। हमारा मन इस डर के मारे चिंतित रहेगा। परंतु हमारे ध्यान में यह बात नहीं आएगी कि मुहूर्त न देखते हुए, वास्तुशांति न करते हुए हिंदुस्थान में बने अंग्रेजों के महल, राज्य कार्यालय, प्रवासी बँगले, ग्राम की चौकियाँ भी हमारे निर्माण से कम मजबूत हैं क्या? परंतु शुभ मुहूर्त देखकर बनाए गए और वास्तुशांति का शास्त्रोक्त विधि किए हुए हमारे वाडे, शनिवारवाडा भी भूमिसात् हो गए हैं, जबकि विनाशकुन, विना वास्तुशांति के बनाए गए अंग्रेजों के 'गवर्नर हाऊस' आज भी सही-सलामत हैं। उनका एक अंश भी नहीं गिरा है। हिंदू पदपादशाही के श्रीमंत प्रधानमंत्री के या महाराजाओं के वाड़े सुरक्षित रखने के लिए याचना करने हेतु उन्हीं अंग्रेजों के बनाए वस्तुओं के सामने खड़े होकर प्रार्थना करनी पड़ती है कि उन महलों को समाप्त होने से बचाइए और कम-से-कम उनपर स्मृति-पट लगाइए।

हमने सिंहगढ़, सिंधुगढ़, रायगढ़ ऐसे सैकड़ों विशाल दुर्ग और मुसलमानों ने उनके दीवानेआम और दीवानेखास हिंदू तथा मुसलिम शास्त्रोनुसार बनवाए। उनकी दीवारों पर वेदों के सूक्त तथा कुरान की आयतें लिखवाईं और धर्मशास्त्र की दृष्टि से उन्हें मजबूत बनाया; परंतु आज उनकी स्थिति क्या है? वे नष्ट हो चुके हैं। परंतु शकुन, रमल, वेद, कुरान, भगवान् किसी को न माननेवाले नास्तिक रूप के विशाल दुर्ग, विमान आदि आकाश में भी उड़ रहे हैं। चट्टानों पर बनाए गए हमारे विशाल गढ़ की अपेक्षा उनके हवा पर बनाए गए ये विशाल गढ़ आज अधिक मजबूत हैं।

इससे ज्ञात होता है कि इस जगत् की भौतिक संपत्ति और सामर्थ्य यदि भौतिक सृष्टि विज्ञान के अटल आधार पर खड़े हों तो टिकते हैं। धर्मशास्त्रीय देवभोलेपन का आँकी और मंदिर का विज्ञान एक ठोकर के साथ नष्ट हुए बिना नहीं रहता यह स्पष्ट नहीं हो रहा है क्या?

और विज्ञान की व्यष्टि यानी यंत्र

रेलगाड़ी का इंजन यानी क्या? इस प्रकरण में यह कहा जा सकता है कि जो वाष्पगति-स्थिति-विज्ञान के निश्चित सृष्टि नियम वैचारिक क्षेत्र में थे उनकी

वह घनत्व प्राप्त मूर्ति ही व्यवहार में अवतरित हुई है। जब तक उन निश्चित नियमानुसार वह यंत्र बनाया गया और चलाया गया है तब तक हमारी इच्छा के बाहर उस यंत्र की स्वतंत्र इच्छा ही नहीं है। भगवान् ने यदि मनुष्य की रचना की है तो इस अर्थ में मनुष्य को यंत्र का देव कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। परंतु हमारे देवभोलेपन की मूर्खता का अतिरेक इस स्तर को पहुँचा है कि जिसका मनुष्य सही उपर्युक्त देव है उस यंत्र को भी हम अपना ही एक देव मानने लगे। आज भी हमारे लाखों लोगों में यंत्रों की तथा औजारों की पूजा हो रही है।

जितने यंत्र उतनी देवियाँ, जितने औजार उतने देव

बढ़ई रंधे की, मिस्तरी कन्नी की, सैनिक अपने भाले-बरछे की, ग्वाल बालाएँ मथनी की, गृहिणी अपने ओखली-मूसल की घर-घर पूजा करती है। जचकी के कमरे में सटवाई की पूजा के साथ नाल काटने की कैंची की भी पूजा की जाती है। मानो उस कैंची की भी अपनी कोई इच्छा होती है। क्रोध-लोभ मानापमान वह समझती है। यदि उसे (कैंची को) संतुष्ट न करेंगे तो वह बालक की नाल न काटते हुए कहीं उसका गला ही न काट दे। आजकल सटवाई से एक नया करार हो गया ऐसा लगता है। वह यह कि घर में प्रसूति हुई तो सटवाई का राज्य। वहाँ प्रसूति हुई तो कैंची की पूजा आदि पुरानी मानस पूजाएँ करनी पड़ती हैं किंतु सार्वजनिक प्रसूतिगृह में प्रसूति होने पर वहाँ उन सब बातों की सटवाई छूट देगी। प्रसूतिगृह की कैंची की पूजा न भी हुई तो भी वह हूँ या चूँ नहीं करेगी। प्रसूतिगृह में चमकनेवाली छुरी, चाकू आदि शस्त्र देखते ही सटवाई लगता है, डर जाती है। समस्त मान-अपमान, प्रतिष्ठा ठुकरानेवाले प्रसूतिगृह से प्रसूता की ओर देखने भी वह डरती है। वहाँ का जच्चा और उसकी माँ से सटवाई का कोई संबंध नहीं। न रिश्तेदारी, न कैंची की पूजा, न शांतिपाठ। फिर भी अस्पताल में दोनों माँ-बेटे को सताने की सटवाई की हिम्मत नहीं? उसकी स्मृति भी डॉक्टरी प्रसूतिगृह की देहरी पार कर अंदर नहीं आती।

यूरोप के अजय पद यंत्रबल के कारण

जब तक यूरोप हमारे जैसा भाविक था तब तक, आज जैसे हम दुर्बल हैं वैसा ही वह भी था। दो सौ वर्षों के आगे-पीछे उसकी भाविकता हटती गई और उसका बल, संपत्ति, साम्राज्य समृद्ध हुआ। परंतु हिंदुस्थान ही नहीं अपितु समस्त एशिया खंड उसी भोलेपन की बेहोशी में डूब गया था इसलिए विज्ञान मार्ग इसे

मिला ही नहीं। यूरोपवासी सृष्टि-शक्तियों को अपनी प्रगति के रथ में घोड़े के समान जोतकर दिग्विजय कर रहे थे, एशिया उन सृष्टि-शक्तियों को पूजता ही रहा। इसलिए एशिया में यंत्रशीलता आई ही नहीं। देखें, गत एक हजार वर्ष में हिंदू या मुसलमानों ने कोई नई वैज्ञानिक खोज नहीं की। नया यंत्र हो, औजार हो—उस अवधि में कोई नई युक्ति नहीं ढूँढ़ पाए। दियासलाई, साइकिल, सादी घड़ी, शिलाछापा, छायाचित्र आदि यूरोप ने खोजा तब हमें ज्ञात हुआ। हिंदू धार्मिक भोलेपन की और मुसलमान धर्म कट्टरता का नशा पीकर पड़ा हुआ था। मुसलिम बादशाह को अंग्रेज शस्त्रवैद्य दिल्ली बुलाना पड़ा। और एक पुल के नीचे पानी खींचने के लिए एक हिंदूपति के फड़नवीस को एक इंजीनियर अंग्रेजों से माँगना पड़ा। मुसलमानों के सब अल्लाह यथा पीर, मुल्ला, हकीम के गंडा-ताबीज से जो व्याधियाँ ठीक नहीं हो सकीं वे उस अंग्रेज शस्त्रवैद्य ने ठीक कर दीं। अनुष्ठान जप-तपों से जो पुल का आधार हिंदू नहीं बना पाए, उसे अंग्रेज इंजीनियर ने बनाकर दिखाया। परंतु यंत्रशीलता का उनका विज्ञान कैसा विकसित ही हो रहा है! उनकी एक-एक तांत्रिक युक्ति उन्हें दुर्जय बना रही है तो हमें दुर्बल बना रही है। यह बात उस समय भी किसी के ध्यान में नहीं आई। यंत्र विद्या का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई भी यूरोप नहीं गया। क्योंकि समुद्र पार करने से जाति भ्रष्ट होती है।

परंतु हमारे पास पूर्व में सामर्थ्य होते हुए भी हमने दुनिया पर हमला नहीं किया इसका प्रायश्चित्त हमें देने के लिए दुनिया ने हमपर हमला किया। यूरोप के प्रचंड यंत्रबल की कैंची में फँसकर हमारे राष्ट्र का, सत्त्व का एक बात छोड़कर चक्का चूर हो गया। एक बात जो हमारी अपनी टिकी हुई है, उसे यूरोप का यंत्रबल भी नहीं कुचल सका। वह बात है हमारी धर्म-भाविकता। भौतिक संकट निवारण करने के लिए, सृष्टि-शक्तियों को काम में लगाने का, भौतिक सामर्थ्य प्राप्त करने का विज्ञान और साधन यानी यंत्र, ये अभी भी हम नहीं जानते। भूकंप पर अस्पृश्यता निवारण का उपाय, सर्वराष्ट्रीय अरिष्टों पर अनुष्ठान का उपाय, कोई कमला नेहरू अस्वस्थ तो उनकी क्षय बीमारी के लिए ईश प्रार्थना उपाय, मशीनगन का प्रहार रोकना हो तो उसके आगे उसके गोलों की मार की सीमा में शांति से बैठकर मर जाओ, और उस मृत्यु से मशीनगन में दया भाव उत्पन्न करने का उपाय, बीमारी को हटाना हो तो बकरा काटने या बलि देने का उपाय। अभी भी हमारे राष्ट्र की भाविकता छूटी नहीं है और इसलिए इस नए यंत्र युग का निर्भयता से स्वागत करके यूरोप के सामर्थ्य की वह कुंजी युक्ति की प्रयुक्ति से प्राप्त करने का प्रयास छोड़कर ये लोग उस यंत्र युग से ही किसी संकट के समान डरकर भूतकाल की गुफा में

अधिक गहराई में जाकर छिप रहे हैं। यंत्र से मनुष्य अति दुर्बल हो रहा है, यंत्र से मनुष्य भूखा मर रहा है ऐसी इन देवभीरु लोगों की चिल्लाहट चल रही है मानो जिनके जूतों के नीचे हम पिस रहे हैं वे यंत्रबल में अग्रसर यूरोप से भीख माँगने पर मजबूर हैं और हमारी पापी संतान सबल है। भूखे, निर्वस्त्र, अकाल-पीड़ित और रोगग्रस्त लोगों का हमारा राष्ट्र यंत्र युग के सौ-दो सौ वर्ष पीछे चल रहा है। इसलिए क्या यह राष्ट्र बलिष्ठ, सुखी और संपन्न है ?

इस लेख के प्रारंभ के परिच्छेद में ही हमने यंत्रों के विरोध में भोलेपन से किए गए आक्षेपों का उल्लेख किया है। उनका यथाशीघ्र प्रतिकार करना आवश्यक है। समाजीकरण में विज्ञान का सर्वस्व स्थापित होना चाहिए। इसी प्रकार, अपने राष्ट्र के अर्थकरण में भी उसी विज्ञान की मूर्त्ति के रूप में यंत्र प्रभाव बढ़ाना चाहिए।

कपड़ा मिल नामक संयंत्र आया है, अत: मिल के कपड़े का उपयोग न करें ऐसी चिल्लाहट गली-गली में होती थी और हो रही है। तकली चलानेवाली सेनाएँ अपने आत्मबल से 'तकली' के प्रभाव से जापान का समस्त यंत्रबल तुच्छ बनाने पर तुली हैं। केवल चरखे की प्रतियोगिता से लंकाशायर की मिलों और दुनिया की अन्य मिलों को ताले लगाए जाएँगे ऐसी प्रतिज्ञाएँ करनेवाले सेनानियों का समूह, राष्ट्र सभा के उच्चासन पर चरखा चलाते हुए बैठा है। और अब उनका साथ देने के लिए पीसने-कूटने के यंत्रों के संकट से देश की रक्षा करने कमर बाँधकर आए नए सेनानियों का समूह उसी राष्ट्रीय सभा के उच्चासन पर कोई हाथ की चक्की से अनाज पीसते हुए और ओखली में हाथ से चावल कूटते हुए दिखना भी संभव है। अर्थकरण में इन व्यक्तियों की पुकार है 'अब हमें यंत्र नहीं चाहिए।'

धर्मशास्त्र के भोलेपन के समान इस अर्थशास्त्र के भोलेपन को भी आज के विश्व में, इस यंत्र युग में जीवित रहना हो तो, अपने राष्ट्र को उसे ठुकराना चाहिए। राष्ट्रीय प्रचार के सूत्र इस देव भोलेपन के, धार्मिक या आर्थिक श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त के या पुरातनों के हाथों से छीनकर विज्ञान के अद्यतन हाथों में देना चाहिए। यंत्र युग के विरुद्ध चल रही उनकी भोली चिल्लाहट की छाप को मिटाने के लिए जिस कारण कोई राष्ट्र विज्ञाननिष्ठ होगा, यंत्रशील होगा, वह प्रचार ताकत से, नि:स्पृहता से और अनिवार्य रूप से शुरू करना चाहिए।

यंत्र शाप है या वरदान

यंत्र का साधन मनुष्य के हाथों में आ जाने के कारण मनुष्य की हानि ही हो रही है, वह दुर्बल और दु:खी बन रहा है, दरिद्र बन रहा है, यंत्र मानवजाति के लिए

शाप है। इस प्रकार यंत्र के विरुद्ध जो चिल्लाते हैं उन्हें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यंत्र, औजार, कल वास्तव में सौ गुना अधिक कार्यक्षम हुआ मनुष्य का एक-एक इंद्रिय ही है। यह कल या यंत्र यानी इंद्रियों की विकसित कार्यक्षमता। औजार यानी हाथ से भी बढ़कर दस गुना शक्तिमान अपना एक अतिरिक्त हाथ। यंत्र यानी अपनी मूल शक्ति की अपेक्षा लाखों गुना शक्तिमान अपनी बहिर्गत इंद्रिय। यदि औजार, कल, यंत्र आदि न होते तो मनुष्य सृष्टि-शक्ति पर आज जैसी सत्ता चला रहा है वैसी सत्ता नहीं होती। इतना कहना यंत्रशक्ति की उपयुक्तता का अल्प वर्णन है। यंत्र के बिना, कुंजी के बिना मनुष्य अपने इस जीवन संग्राम में जीवित ही नहीं रह सकता था। लोमड़ी, कुत्ता भी उसे भारी होता। वे उसे फाड़कर खा जाते। मनुष्य को यह जो यंत्रबल की सहायता मिली है उसके संबंध में ऐसा कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि शरीर से देखा जाए तो मनुष्य अति दुर्बल, परंतु यंत्र सही और प्रबलतम हुआ है।

किसी उन्मत्त पशु के सामने जंगल में मनुष्य को खड़ा कर दिया जाए तो वह अपने शरीर बल से कितना टिक सकेगा—इसकी कल्पना बार-बार कीजिए। उसे सिंह के समान नाखून नहीं, दाढ़ें नहीं, दाँत नहीं और गर्जना करके संपूर्ण वन को जाग्रत् कर देने योग्य ऐसी भीषण आवाज भी नहीं। एक शेर को एक मामूली भैंसे के बछड़े को मारने के लिए जितना श्रम करना पड़ता है उतना भी कष्ट उसे मनुष्य की गरदन मरोड़ने में नहीं होता। हमारे सामने जैसी मुलायम ककड़ी वैसा आदमी शेर के सामने! उसके मन में आते ही वह मनुष्य को कच्चा खा सकता है। मनुष्य अपनी देह के समान केवल दुर्बल होता है। वह शेर का प्रतिकार कर सके ऐसा कोई अंग उसमें नहीं है। हाथी के सामने तो मानव एक चींटी के समान है। अपने पैर के नीचे प्रचंड दबाव से वह उसे कुचल सकता है या अपने अजस्र सूँढ़ में उसे पकड़कर पत्थर पर नारियल के समान फोड़ सकता है। तड़स, भेड़िया, वनसूअर के सम्मुख खड़ा रहने की भी आदमी की हिम्मत नहीं होती है। वनसूअर के दाँतों का प्रतिकार कर सके ऐसा एक भी अंग उसमें नहीं है। बड़े शिकारी कुत्ते का डर भी उसे शेर के समान होता है। मनुष्य ने काटा या खरोंचा तो भी शिकारी कुत्ता उसे एक झटके में फाड़कर खाने से नहीं रहे। इतना ही नहीं अपितु दुर्बल, दीन, निरुपद्रवी जो गाय, उससे यदि मनुष्य का संघर्ष हुआ तो देखते-ही-देखते वह अपने सींगों से मनुष्य का पेट फाड़ सकती है। वनभैंसे, वनबैलों की उन्मत्त आवाज सुनते ही मानव को जान बचाने के लिए भागने के सिवाय कोई मार्ग नहीं। मधुमक्खी छोटी, परंतु बहुत सी मधुमक्खियाँ एक बार मनुष्य पर टूट पड़ीं तो उनके दंश और वेदनाओं से व्याकुल होकर मरने के सिवाय कोई मार्ग नहीं, परंतु वह उनको न डस सकता है

और न उन्हें लील सकता है। उनके पीछे उड़ भी नहीं सकता। कौआ भी मनुष्य के रक्त-सने घाव पर या सिर पर, जैसे किसी पशु पर चोंच मारता है वैसी चोंच मारकर उड़ जाता है और मानव को उलटा खिजाता है। अजगर तो उसे अपनी देह से लपेटकर गन्ने के समान निचोड़ सकता है। छोटा साँप, उसके पैर को कब और कैसे काटेगा और उसको क्षणार्ध में कब मार डालेगा इसका कोई पता नहीं। समुद्र, सरिताओं में तो मानव की दुर्दशा का ठिकाना नहीं होता। यदि पैर फिसल गया तो मानव मगर या मांसाहारी मछलियों का आहार बन जाता है। मनुष्य को निसर्गदत्त तीक्ष्ण दाँत नहीं हैं। पेट काट सके ऐसे सींग नहीं हैं। मुरगी, घास, पत्तियाँ, खून, हड्डियाँ पचानेवाला पेट भी उसके पास नहीं, शीत निवारणार्थ ऊन की शॉल भी उसके बदन पर नहीं। चील के समान दृष्टि नहीं, मच्छर के समान पंख भी नहीं, गरुड़ के समान अति तीक्ष्ण चोंच नहीं या कंठच्छेदक नाखून, रक्तपिपासु पंजे भी नहीं। विषैले दाँत नहीं, दंश नहीं, डंक नहीं। भारतीय लोगों को अंग्रेजों ने निःशस्त्र किया था। उससे कितने ही युग पूर्व में मनुष्य को सृष्टि ने ही निःशस्त्र बना दिया है। केवल वरिष्ठ श्वापदों से ही नहीं अपितु पक्षी, मत्स्य, मक्खियों से भी मानव मूल रूप से, शारीरिक दृष्टि से अत्यंत दुर्बल है। वास्तविक रूप में गाय से भी गया-बीता है।

किंतु वह आज भी इस भूतल पर समस्त प्राणियों का राजा, शासक, जेता होकर घूमता है। सृष्टि-शक्ति से ही मल्लयुद्ध करने के लिए खड़ा है। वाष्प, चुंबक, विद्युत्, रेडियम आदि को बहुत कुछ अपने काबू में उनके अजस्र बल से समुद्र, पृथ्वी और आकाश या मानवी जगत् के तीनों खंडों में दिग्विजय करता हुआ बढ़ा जा रहा है। किसके बल पर यह दुर्बल मानव इतना प्रबल हुआ है? कली के, कुंजी के, हथियार के बल से या यंत्र के बल से?

उसके निसर्गदत्त मुक्के से कुत्ता भी नहीं डरता था, परंतु किसी दिन एक बंदर मानव ने पहला पत्थर उठाकर फेंका तो उस दिन से मानो मानव को नया मुक्का प्राप्त हुआ। पत्थर दूर से फेंकने की युक्ति, हथियार जैसी, कृतांत की मुट्ठी जैसी असह्य बनकर, विशेष बनकर खड़ी हो गई। हाथ से उठाकर फेंकी हुई या ढकेली हुई शिला यानी 'कृतान्तस्य मुष्टिः पृथविक स्थिता।' बंदर मानव पेड़ों की शाखाएँ तोड़कर उससे पशुओं के समूहों को पीटते थे। साँप, नाग, बिच्छुओं को मारते थे। उनके विष से बाधित न होनेवाले नए हाथ—शाखाएँ, लकड़ियाँ आदि उसे प्राप्त हो गए थे। मनुष्य को जंगली सूअर के जैसे लंबे दाँत नहीं थे। उसका अभाव भाला-बरछी से समाप्त हुआ। भैंसे के समान टक्कर-मार सिर नहीं था, उसकी जगह गदा ने ली जिससे टकराकर वे परास्त होते हैं। सिंह, बाघ उसे यदा-

कदा नखाग्रों से डराते थे, परंतु मनुष्य को बरछी, खंजीर, कटार, खड्ग, कृपाण जैसे भयंकर नख प्राप्त होते ही शेर, सिंह आदि काँपने लगे। क्योंकि खड्ग अपना एक बढ़ा हुआ नाखून ही तो है। फिर मनुष्य के हाथ में बाण और पीठ पर धनुष प्रकट हुआ। सिंह की छलाँग, बाघ का झपट्टा, गिद्ध-गरुड़ों के प्रहार भी और ऊँचे उड़नेवाले पंख, समस्त प्राणी सृष्टि, मनुष्य के हाथ आए धनुष की टंकार के साथ ही चीं-चीं करते हुए तो कोई पूँछ दबाकर डरकर जंगलों में भाग गई। क्योंकि पास आने पर वे आक्रमण करें। परंतु यह धनुर्धारी तो पशु हमला बोले उसके पहले ही उनका कंठच्छेद करते हैं। मनुष्य की दुर्भेद्य त्वचा ही कवच है। दूरबीन तो शतगुना दर्शनक्षम, सूर्य को भी देख सके ऐसी आँख है। दूरध्वनि यंत्र शतगुना अधिक श्रवणक्षम हुआ और मुंबई की दीवार से लगा हुआ कान कलकत्ता या लंदन के मित्रों की बात सुन सकता है। आरू-दारू, विस्फोटक पदार्थ, गोलियाँ, बंदूक, तोप, विषैला धुआँ आदि जलकर भड़का हुआ मनुष्य का क्रोध है। यह चूल्हा, वैद्यकी भट्ठी या स्टोव मनुष्य के पेट की जठराग्नि की एक-एक शाखा है। एक बड़ा पेट जो सबको पचाता है वह आवेल। खल-ऊखली उसकी नीचे की नई दाढ़, वे दोनों अब प्रचंड आकार धारण कर वाष्प की शताश्व शक्ति से पूर्व में जैसा एक कोर वह मनुष्य चबाता था वैसे सहज रूप से अनाज के बोरे-के-बोरे वह एक-साथ निगल जाता है। उसकी पुरानी इंद्रिय ही इस प्रकार सहस्रगुना कल-हथियार-यंत्रबल में अधिक कार्यक्षम हुई ऐसा नहीं अपितु मनुष्य को स्वाभाविक रूप से जो प्राप्त नहीं होती ऐसी अद्‌भुत इंद्रिय-यंत्रबल से उसे प्राप्त हुई है।

छोटे से कुएँ में मेढ़क रहता है। उस जितना भी मनुष्य का अंग मूल रूप में जलस्तंभक नहीं। परंतु विज्ञान ने उसे अकस्मात् एक वरदान दे दिया है और कछुओं से कड़ी, देवमछली से बड़ी, सहस्र मगर जिसके एक धक्के से नष्ट होते हैं ऐसा एक प्रचंड जलदेह मनुष्य को दीया है—वेडर, पनडुब्बी, विनाशिका, प्रचंड वनिक नौकाएँ, आगबोट, वीजबोट। एक मशक के समान भी मनुष्य उड़ नहीं सकता है, परंतु विज्ञान की आराधना करते ही उसे ऐसा वरदान मिला जो उसे बड़े-बड़े ऋषि, पीर, पैगंबर भी नहीं दे सके और प्रत्यक्ष गरुड़ ने भी कभी देखे नहीं होंगे, ऐसे प्रबल पंख मनुष्य को मिले—विमान, हवाई जहाज।

जैसे सिद्धियाँ, बड़े-बड़े जप-तप कर करके अंधभक्ति को प्राप्त नहीं हुईं और किसी को मिलने का भास हुआ तो वह एक अत्यद्‌भुत, प्रत्यक्ष ईश्वरीय और विशेष कृपा-प्रसादी मंत्रबल की देन लगती थीं उनसे भी शतगुना अत्यद्‌भुत सिद्धियाँ आज के बाजार में पैसों से प्राप्त हो रही हैं, यंत्रबल लुटा रहा है। अतिदर्शन, अतिश्रवण, ध्वनिलेख, दूरध्वनि द्वारा अतिस्मरण, महासमुद्र के तल के नीचे अवगाहन,

विरल स्तर के भी ऊपर आकाश में उड़ान।

और यह अद्भुत प्राबल्य खुदा, जेहोवा या देव को बिना धूप जलाए प्राप्त होता है। यंत्र से मनुष्य दुर्बल नहीं हुआ बल्कि मानव जो एक प्राणी या जीव था वह आज पृथ्वी पर, आकाश में, महासागर के प्राणियों में प्रबलतम हुआ। इसका कारण हथियार यंत्र है। मंत्रबल से नहीं अपितु यंत्रबल से। शाप नहीं, अपितु यंत्र मनुष्य को अतिमानुष बनानेवाला विज्ञान का वरदान है।

□

यंत्र से क्या बेकारी बढ़ती है?

यंत्र मनुष्य के लिए शाप न होकर वरदान है। मंत्रबल से सृष्टिशक्ति मनुष्य पर प्रसन्न नहीं होती, परंतु यंत्रबल से ही प्राप्त होती है। उससे काम लेना आना चाहिए। प्राणी सृष्टि में सबसे अधिक दुर्बल और अक्षरश: गाय से भी गरीब मनुष्य प्राणी आज तो सर्वप्राणी सृष्टि का शास्ता और सभी प्राणियों में सबल हो चुका है। उसका कारण औजार-कल-यंत्र का प्रादुर्भाव है, इसलिए हम भारतीयों को अब इस यंत्र युग का मन से स्वागत करना चाहिए। इस प्रकार के हमारे प्रतिपादन के संबंध में अपनी शंकाएँ पूछने के लिए एक प्रामाणिक परंतु अपक्व विचार के एक 'ग्रामसेवक' हमसे मिलकर गए। उनकी शंकाएँ वैसे तो आज के 'ग्रामोद्धार' के उपयुक्त काम में लगे हुए कुछ लोग, अपने भाषणों में और लेखों में प्रकट करते ही हैं और यंत्र के पीछे लगेंगे तो दुर्बल होंगे, बेकार होंगे, वह पाश्चात्य राक्षसी हस्तक अपनी सात्त्विक पौर्वात्य संस्कृति के सादेपन का नाश करेगी आदि विधान-सिद्धांत करके गाँव-गाँव में फैलाते रहते हैं। हमसे मिले हुए इस गृहस्थ की शंकाएँ इसी प्रकार की थीं। वे गृहस्थ 'डबल ग्रेज्युएट' थे। अर्थात् उनकी शंकाएँ मूलत: कितनी भी अतथ्य हों तो भी विद्वानों को भी सहज मोह डालनेवाली आकर्षक थीं यह स्पष्ट है। यूरोप में यंत्रयुग के आरंभ में इसी प्रकार की शंकाओं और आक्षेपों से तीखा विरोध किया गया था। आज भी बीच-बीच में उनके भूत यत्र-तत्र खड़े होते हुए यूरोप में भी दिखते हैं। फिर आज भी समाज में लाखों लोग आक्षेपों को बलि चढ़ते हों तो इसमें क्या आश्चर्य है? परंतु उन आक्षेपों की ओर ध्यान न देना ठीक नहीं। वे चाहे कितने भी मूलत: विसंगत हों परंतु उनकी वह विसंगति खोलकर दिखाना तुच्छता का कार्य नहीं समझना चाहिए। क्योंकि उनका उत्तर दिया नहीं जाता इसलिए वे आक्षेप अकाट्य हैं ऐसा सामान्य जनता को लगता है और यंत्रविरोधी जनमत वृद्धिंगत होता है।

ये उपर्युक्त सहज सूझनेवाले आक्षेप वास्तविक रूप से कितने भोलेपन के

होते हैं यह दरशाने के लिए उपर्युक्त गृहस्थ ने अनेक बार जिसका समर्थन किया ऐसा एक आक्षेप देखें।

उन्होंने कहा, ''आप कहते हैं कि यंत्र मनुष्य की सौ गुना स्वकार्यक्षम बहिश्चर इंद्रिय है। यही सही मानें तो भी मनुष्य की मूल इंद्रिय और उनकी अंगभूत कष्ट सहिष्णुता यंत्र के उपयोग का सहारा लेते रहने के कारण पंगु होती जाती है यह बात स्वयंसिद्ध नहीं है क्या? उपनेत्र या ऐनक (spectacles) लगाने से आँखें कमजोर होती हैं, मोटर, रेलगाड़ियाँ आदि वाहनों की संख्या में बहुत ज्यादा वृद्धि होने के कारण अपने पैरों पर लंबी दूरी तक चलने की शक्ति मनुष्य ने खो दी है। बार-बार गाड़ी का उपयोग करने पर मनुष्य के चलने की शक्ति भी नष्ट होगी ऐसा डर लगता है। यंत्र से घन मारने का कार्य होने लगा है इसके कारण लुहार के कठिन दंड भी नाजुक बनेंगे, और यांत्रिक आरा, यांत्रिक सिलाई मशीन, यांत्रिक बुनाई इनके कारण हस्तबल, हस्तकला और आनुवंशिक हस्तकुशलता नष्ट होगी। यांत्रिक खेती के कारण हाथों से हल चलाना, बखर चलाना, कटाई करना, बीनना आदि की आदत नष्ट होगी। टंकण-मुद्रण के कारण अक्षर बिछड़ गया है, हाथ से कलात्मक पोथी-पुस्तकें लिखने की कला नामशेष हो गई, इस प्रकार इंद्रिय तथा अंग स्वयं अक्षम, निष्क्रिय और यंत्रनिर्भर होने के कारण यदि पुनः मनुष्य को यंत्र से रहित जीवन बिताना पड़ा तो उस विकसित मानव के इंद्रिय और अंगमूल यंत्रहीन जंगली मानव की तुलना में काफी कमजोर दिखेंगे। कहाँ वह पहाड़ों पर दोपहर की धूप में चढ़कर जानेवाला फौलादी देहधारी जंगली भील और कहाँ मोटर में बैठे-बैठे ही थकनेवाले ये मुरदा लोग।''

यंत्र के नित्य उपयोग के कारण मनुष्य की अंग मजबूती और इंद्रिय शक्ति की पंगुता, इस आक्षेप का उपर्युक्त स्पष्टीकरण ऊपरी तौर से सुननेवालों को जितना मार्मिक लगता है उतना ही इसकी मार्मिकता से छानबीन करने पर भोलापन ठहरता है। आँख अच्छी होने पर उसे जहाँ तक ठीक दिखता है उस अंतर के लिए चश्मा लगाना मूर्खता ही होगी। ऐसे व्यक्ति की दृष्टि अनुचित ऐनक के कारण अधिक मंद होती है या चलनेवाला कुबड़ी की आदत लगाए तो उसकी गति भी मंद होगी। यह उस कुबड़ी का या ऐनक का दोष नहीं, परंतु उस साधन का दुरुपयोग करनेवाले भोले अज्ञान का है। नेत्रों की मूल दृष्टि को सहायता देंगे वही उपनेत्र, वैसे ही जो दूर का आँखों से नहीं दिखता वह लाखों मील दूरी पर का दृश्य दिखानेवाला वह दूरबीन। आवश्यकतानुसार उनका उपयोग करें। अन्य समय में आँखों की मूल दृष्टि अक्षुण्ण रखकर उसे अधिक तेजस्वी बनाने के लिए जो नए व्यायाम आवश्यक हों उन्हें करना चाहिए। केवल आँख से पढ़ें, उपनेत्र इसके लिए आपको मना नहीं

करेंगे। दूरबीन एक बार लगाने पर, आँखों की पलकों के समान हमेशा चिपककर नहीं रहती। वही स्थिति मोटर तथा रेलगाड़ियों की। पूर्व के सहस्राधिक संत-महंत ऋद्धि-सिद्धि के बल से हरिद्वार को जितनी शीघ्रता से सदेह कभी जा नहीं सके, उतनी शीघ्रता से चार पुण्यवान रुपए फेंककर साधारण मनुष्य भी, वह पापी है या पुण्यवान यह भी भगवान् को न पूछते हुए यह मोटर, रेलगाड़ी उसे हरिद्वार पहुँचा देती है। ऐसे प्रकरण में उसका उचित उपयोग कर लेना चाहिए। मोटर कोई लौहचुंबक तो नहीं और आप कोई लोहे का टुकड़ा भी नहीं हैं कि एक बार मोटर में बैठने पर पुनः वहाँ से आपको उठना संभव न हो। फिर आप उसका उचित उपयोग समाप्त होते ही पाँवों की मूल गति कायम रखने हेतु और मजबूती बढ़ाने के लिए प्रतिदिन पदयात्रा क्यों नहीं करते? पर्वत तथा खाइयों के उतार-चढ़ाव पर पैदल नहीं चलना है ऐसी शपथ क्या आपको मोटर या रेलगाड़ी चलाते वक्त लेनी पड़ती है? कहते हैं, मुद्रण से हाथ से पोथी लिखने की शक्ति नष्ट हो गई। परंतु पोथी छापने पर भी हाथ से प्रतियाँ बनाना कोई दंडनीय अपराध नहीं होता है। व्यासजी बोले और गणेशजी ने महाभारत की एक प्रति लिखी। वह कृत्य दैवी हुआ। परंतु इस मुद्रण की सिद्धि के कारण कोई भी मुट्ठी भर सादा छापाखानेवाले प्रतिदिन प्रातःकाल में एक-एक समाचारपत्र की लाख-लाख प्रतियाँ छापकर निकाल रहे हैं। ऐसी यह सवाई दैवी सिद्धि प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त होने पर किसी को वह बोरू की कलम से जुन्नरी कागज पर या काँच की नली, सूई लेकर ताड़पत्रों पर हाथ से समाचारपत्र लिखकर प्रकाशित करने की इच्छा हुई अथवा जितने समय में वाष्प मुद्रण में महाभारत की एक टाकी एक लाख सुंदर प्रतियाँ छाप सकते हैं, उतने ही समय में महाभारत की एक-आधी प्रति हाथ से लिखने की इच्छा किसी को हुई तो कोई उसका हाथ पकड़कर नहीं रखेगा। अपनी पसंद से उसे हाथ से आराम से पोथियाँ लिखनी चाहिए। कड़ी धूप तथा वर्षा से सुरक्षित रहने हेतु मनुष्य बड़े-बड़े बाड़े (मकान) बनाता है। यदि किसी ने कहा कि 'धूप-हवा-पानी सहने की शक्ति गृहहीन भ्रमण करनेवाले अंदमान आदि की जंगली जातियों में गृहवासी लोगों की तुलना में अधिक होती है, इसलिए बड़े मकान, बँगले आदि गिरा देने चाहिए, यह सब शाप है, वरदान नहीं।' तो उसका कहना जितना मूर्खतापूर्ण का है उतना ही यंत्रों पर किया हुआ आक्षेप मूर्खतापूर्ण है।

The machine rides man! ऐसा कहकर जो यंत्र की हिटलरशाही बता सकते हैं उनके ध्यान में यह बात नहीं आती कि उस आक्षेप से यंत्र की हिटलरशाही व्यक्त न होते हुए मनुष्य का अज्ञान ही दिखाई पड़ता है। कल कोई रोती सूरत का व्यक्ति यदि किसी को कहने लगे कि ''घोड़ा पशु एकदम निरुपयोगी है, उसे कोई

न पाले। क्योंकि मैं उसपर सवार होने गया तो घोड़ा ही मुझपर चढ़ बैठा' तो उस रोती सूरत के व्यक्ति को लोग एक अज्ञानी, डरपोक और घोड़े पर सवारी करने में कच्चा मानेंगे, परंतु घोड़े को वे निरुपयोगी नहीं कहेंगे। यही बात ये अर्थशास्त्रीय रोती सूरतवाले अज्ञ लोगों की है। मनुष्य की इच्छा के परे यंत्र की स्वतंत्र इच्छाशक्ति होती है क्या? वह मनुष्य की इच्छा के विरुद्ध विद्रोह कर सकता है क्या? कभी घोड़ा आवेश में आकर मनुष्य को लताड़ सकता है, परंतु बेचारा यंत्र! मनुष्य की इच्छा ही उसकी इच्छा होती है। मनुष्य करेगा वह प्रमाण होगा और उसे चलाएगा वैसा चलेगा। यदि यंत्र कभी मनुष्य पर सवार होता हो, यदि सचमुच कहीं the machine rides mam का उत्पात हो और कोई यंत्र मनुष्य के शरीर पर खुद होकर बैठता हो ऐसी बात नहीं। वह तो मनुष्य ही है जो उसे कभी-कभी अपने सिर पर बैठा लेता है। रेलगाड़ी में बैठने की बजाय कोई मनुष्य उसके आग जलनेवाले बंबे में जाकर बैठा और जल गया तो क्या रेलगाड़ी का उसमें दोष हुआ? यंत्रों पर किए गए सारे आक्षेप मनुष्य द्वारा यंत्रों के किए गए दुरुपयोग पर होते हैं। चूल्हे में ठीक जलाई हुई अग्नि रसोइया के समान अपने भी काबू में रहती है। परंतु यदि कोई मूर्ख उसे अपने घर पर रख दे तो उसका घर तो जलेगा ही। यह अग्नि का दोष नहीं बल्कि इन योजकों का है। बड़े-बड़े पर्वत काटकर अपने लिए मार्ग खुला करनेवाली सुरंग बनाने का, खदानों की सुरंगों में छिपे हुए रत्नों के भंडार और रत्नों की राशि पास लाकर देने का कार्य, वे वृतासुर से छिपाए गए जल के भंडार खोजकर चट्टानों के भू-प्रदेश में पानी के मीठे प्रवाह अपने कुओं में, हौदों में लबालब भर देने का अत्यंत उपयुक्त कार्य करनेवाली बारूदी सुरंगों की मालाएँ यदि किसी ने अपने पैरों तले गाड़कर जला दीं तो उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने का दोष उस सुरंग की विद्या पर नहीं लादा जा सकता। वही बात यंत्रों की है।

हमसे चर्चा करनेवाले सज्जन ने प्रत्युत्तर किया—"आपकी बात हम अधिकांश में यथार्थ समझते हैं। परंतु यंत्र से मनुष्य मात्र की सही हानि तब होगी जब मनुष्य मात्र द्वारा यंत्रों का सदुपयोग किया जाएगा। तभी वह हानि अत्यंत तीव्रता से महसूस होगी। यंत्रों का सदुपयोग होने लगा, ये यंत्र अपना काम राक्षसी प्रमाण पर यथाशीघ्र करने लगे और मनुष्य के श्रम से जितना काम होता है उसके शतगुना काम अधिक होने लगा, मनुष्य अपने श्रम से जितने पदार्थ निर्माण कर सकता है उसके शतगुना पदार्थ यंत्र पैदा करने लगे। परिणामस्वरूप इन पदार्थों का निर्माण करनेवाले हस्तोद्योग निरुपयोगी होने लगेंगे और इन व्यवसायों के श्रमिक बेकार हो जाएँगे। रेलगाड़ियों ने जैसे बैलगाड़ियों को समाप्त किया और बैलगाड़ीवाले बेकार हो गए। कपड़ा मिलों ने एक-एक दिन में इतना कपड़ा बुनना शुरू किया कि चरखा-माँग पर उसे

बुनने के लिए पूरा एक साल लग जाएगा। फलस्वरूप उसपर निर्भर लाखों लोग पेट-पानी के धंधे को खो बैठेंगे और बेकार हो जाएँगे। वैसी ही स्थिति समस्त धंधों की होकर समस्त मानवजाति कार्य और श्रम करने के लिए क्षेत्र न बचने के कारण बेकार होगी। किसानों की बात लीजिए, आज करोड़ों लोग गाँव-गाँव से अपने-अपने हल-बैल लेकर संपूर्ण वर्ष भर खेत में मेहनत कर रहे हैं, पेट के लिए कुछ प्राप्त कर बेकारी के भूत से स्वयं को किसी प्रकार बचाते हैं। परंतु समझ लीजिए, कल प्रचंड यांत्रिक हल और सामुदायिक खेती देश भर में शुरू हुई, आपके उस यंत्र का एकदम शास्त्रीय सदुपयोग करना मनुष्य ने सीख लिया और उस यंत्र की सहायता से उसने सामुदायिक खेती में एक गाँव में एक दिन में हल चलाया, बखर चलाया, बीज बोया। जितना काम इस प्रकार एक दिन में हुआ उतना करने के लिए दो-दो माह का समय लगता था तथा सैकड़ों किसान पूर्व में श्रम करते थे वे अब बेकार होकर हाथ हिलाते नहीं बैठेंगे क्या?

बेकारी के कारण उनका जीवन बेकार, निष्क्रिय एवं नीरस होगा। पेट के लिए अन्न और शरीर पर पहनने के लिए कपड़ा प्राप्त करने के लिए श्रम करने में लक्षाधिक किसान अपने क्षेत्र में मधुमक्खी के समान जीवन-संगीत गुनगुनाते हुए वर्ष भर व्यस्त रहते हैं। उनका यह भरा-पूरा जीवन इन यंत्रों के दाँतों के नीचे पिसकर बेकारी का वह एक-एक दिन उन्हें एक-एक वर्ष के समान भारी नहीं जाएगा क्या? यंत्र जिन पूँजीपतियों के होंगे उनके हाथ में संपूर्ण उत्पादन जाकर ये किसान, बुनकर, सुनार, लुहार, दरजी, नाई, बैलगाड़ीवाले, घोड़ेवाले, धोबी, मजदूर, बढ़ई आदि जिन-जिन व्यवसायों को यांत्रिक शक्ति और यांत्रिक युक्ति बड़े पैमाने पर उत्पादन करने लगेंगी, उपर्युक्त समस्त लोगों का व्यवसाय ठप होने के कारण वे बेकार और भूखे, श्रमहीन, आलसी स्थिति में पड़े रहेंगे! 'यंत्रयुग-यंत्रयुग' करके आप जिसका इतना महत्त्व बढ़ा रहे हैं, वह यदि आपकी अपेक्षानुसार सही माने में स्थापित हो गया तो वह एक बेकारी का युग होगा।

काम, परिश्रम और बेकारी का सही अर्थ

यंत्रों का विकास यानी बेकारी की वृद्धि। इस आक्षेप की उपर्युक्त चिल्लाहट कितनी निरर्थक है यह दरशाने के लिए हम प्रथम कार्य, श्रम और बेकारी इन तीन महत्त्वपूर्ण शब्दों पर विचार करें, क्योंकि यंत्र-विरोधी लोग बार-बार उनका प्रयोग करते हैं और उनके उलटे-सीधे अर्थ लगाकर उपयोग में लाते हैं। उनकी यह उलझन हटाकर इन तीन शब्दों के तीन अर्थ अपने इस लेख के लिए हम प्रथमतः तय कर लेंगे जिससे हमारा यह अर्थ एक-दूसरे को पूर्णतः मान्य नहीं हुआ तो भी

कदाचित् परस्पर समझ में तो आएगा। काम (कार्य) अपने लिए जो इष्ट वह प्रिय उद्योग। परिश्रम का अर्थ होगा, जो परिश्रम हम अपने प्रिय उद्योग में अपनी रुचि के कारण करते हैं वे नहीं, अपितु हमारी इच्छा के विरुद्ध निरुपाय अपने चरितार्थ या अन्य कारणों से अनिवार्य रूप से करने पड़ते हैं वे श्रम और बेकारी यानी चरितार्थ या अन्य कारणों से आवश्यक प्राप्ति करने का अवसर प्राप्त न होना। अतिश्रम करने नहीं पड़े इसलिए मनुष्य बेकार हुआ ऐसा नहीं, अपितु मनुष्य के लिए आवश्यक चीजें प्राप्त करना असंभव हो गया और उन्हें प्राप्त करने के लिए आवश्यक सफल कष्ट करने का अवसर उसे न मिल पाया तो वह मनुष्य सही अर्थों में बेकार हुआ।

अब उपर्युक्त निश्चित अर्थ में यंत्र से बेकारी बढ़ती है क्या? यह देखना सरल है। यंत्रों के कारण उत्पादन घटता है यह कुछ यंत्र-विरोधियों का आक्षेप नहीं, परंतु उनका आक्षेप यह है कि यंत्र से उत्पादन विशाल पैमाने पर होता है। एक मनुष्य एक वर्ष में जितना धागा या कपड़ा चरखे की सहायता से बनाता है या बुनता है, उसके सौ गुना बुनाई मिल में एक दिन में होती है। लकड़ी का हाथ से चलनेवाला हल जितने खेत पर एक दिन में चलाया जाता है उसके शतगुना अधिक खेती यांत्रिक हल से होती है। वैज्ञानिक खाद, जलवायु आदि के सहायक यांत्रिक और सामूहिक खेती की फसल सौ गुना अधिक और खेडूत किसान की मामूली फसल ही अपेक्षाकृत सरस और शीघ्र निकाल सकता है। टिड्डी दल के हमले से छोटे खेडुतों की खेती की सुरक्षा नहीं हो सकती; परंतु टिड्डी दल नाशक रसायन विमान से मीलों तक छिड़ककर यांत्रिक कृषि में टिड्डी दल के हमले को असफल बनाया जा सकता है। यांत्रिक परिवहन के बल से अकालग्रस्त प्रांत में जहाँ अधिक फसल हुई हो वहाँ से धान आदि वस्तु पहुँचाई जा सकती है। कुल मिलाकर देखा जाए तो अत्यंत आवश्यक अन्न और वस्त्र तथा अन्य वस्तुएँ बिना यंत्र की पद्धति की अपेक्षा यांत्रिक पद्धति से लाख-लाख गुना अधिक प्रमाण में उत्पन्न की जा सकती हैं। जहाँ आवश्यक हो वहाँ भेजी जा सकती हैं। तब अन्न, वस्त्रादि अत्यावश्यक वस्तुओं का विलासी उपभोग्य पदार्थ की उत्पादन सामर्थ्य यंत्रशक्ति के साथ मनुष्य को मिलने पर पूर्वापेक्षा सहस्र गुना बढ़ती है, कम होना तो संभव ही नहीं। यह बात यंत्र के विरोधी भी स्वीकार करते हैं।

पूर्व की अपेक्षा एकदम कम श्रम में मनुष्य को सहस्र गुना अधिक अन्न, वस्त्रादि आवश्यक वस्तुओं और उपभोगों की पूर्ति जो यंत्र करते हैं, वे मनुष्य की बेकारी बढ़ाते हैं ऐसा कहना कितना विपरीत होगा यह अब सहज रूप से ध्यान में आने योग्य नहीं है क्या?

मान लें, एक परिवार के छह पुरुषों द्वारा हस्तश्रम और खेडूत पद्धति से साल

भर मेहनत करके अल्प अन्न-वस्त्र किसी प्रकार उत्पादित किया जा सकता था। उन्होंने उत्कृष्ट यंत्र लाकर वही खेती नई वैज्ञानिक पद्धति से की। परिणामस्वरूप पूर्वापेक्षा बहुत कम श्रम में दस गुना अन्न और वस्त्र वे पैदा कर सके यानी पूर्वापेक्षा वे लोग श्रीमंत, सुखी और संतुष्ट हो गए सिवाय इसके कि उनका भारी परिश्रम बच गया और इस कारण वे बहुत से दिन सुख से छुट्टियों में बिता सकें तो उनकी इस छुट्टी को 'बेकारी' कह सकते हैं क्या? बेकारी का अर्थ होगा कठिन परिश्रम करके भी पेट के लिए न मिलना, आवश्यक तथा उपभोग्य वस्तुओं का अप्राप्य होना। अन्न, वस्त्रादि सभी पदार्थों की पूर्ति बिना परिश्रम यथेच्छ होती हो और इसलिए श्रम करने की आवश्यकता ही न हो यह 'बेकारी' नहीं। इसके विपरीत उस परिवार को कठिन परिश्रम से मुक्त करानेवाली, सभी उपभोग्य वस्तुओं की पूर्ति अल्प प्रयासों से, न्यूनतम व्यय में, दस गुना अधिक मात्रा में करा देनेवाली और उसके कारण श्रम से मुक्त होकर अधिक समय आनंद से, सुख-चैन से बिताने के प्राप्त करानेवाली यंत्र सहायता से प्राप्त परिस्थिति सही अमीरी है।

अब समझ लें, उस परिवार का धन-धान्य आदि यंत्रबल से इस प्रकार दस गुना बढ़ने पर भी यदि उसका उपभोग उनमें से दो-तीन भाई ही लेने लगे और शेष भाइयों को कुछ नहीं मिला। यंत्र चलाने हेतु आवश्यक श्रम का बोझ इन भाइयों पर डाला गया, इस अन्याय के कारण उन भाइयों को अपनी इच्छा के विरुद्ध अधिक श्रम करना पड़ा और उस मान से भरपूर अन्न, वस्त्र न प्राप्त होकर उनका शोषण और छल होता रहा तो क्या वह दोष यंत्रबल का है? बिलकुल नहीं। वह दोष यंत्र का नहीं, विषम बँटवारे का है। यंत्र के द्वारा उत्पादन अत्यल्प श्रम में, न्यूनतम व्यय में, अत्यधिक प्रमाण में बढ़ गया तब यंत्र का कार्य, दायित्व समाप्त हुआ। इससे पूर्व अत्यधिक या पूर्व से अति सस्ता ऐसे अन्न, वस्त्रादि उत्पादन का उचित हिस्सा योग्य हिस्सेदार को नहीं मिला तो यह दोष यंत्र का नहीं, वितरण का है। ऐसी स्थिति में पीड़ित भाइयों को चाहिए कि अपना शोषण और छल समाप्त कराने के लिए, बँटवारे में सुधार लाने के लिए वे हिस्सेदारों से झगड़ें, यंत्र से झगड़ा निरर्थक है। जो बात इस परिवार की वही बात मानव समाज की।

बेकारी यंत्र से नहीं बढ़ती अपितु विषम वितरण के कारण बढ़ती है और विषम वितरण का दोष यंत्र का नहीं अपितु समाज-रचना का है

यंत्र से बेकारी बढ़ती है ऐसा कहना वर्षा काफी होने से अकाल हो गया या खाने के लिए भरपूर अन्न होने के कारण उपवास करना पड़ा ऐसा कहने के समान

वदतोव्याघात है। पूरी दुनिया में बेकारी है ऐसा कहने का मतलब यह होता है कि मनुष्य मात्र के लिए अन्न, वस्त्रादि आवश्यक वस्तुओं का अभाव है और, कष्ट करके भी वे उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते। परंतु यंत्र के सम्यक् उपयोग से वैज्ञानिक तथा सामुदायिक कृषि करने पर अन्न, वस्त्र का उत्पादन 'राक्षसी' प्रमाण पर बढ़ सकता है यही आक्षेप यंत्र-विरोधी लोगों का मूल रूप से है। अर्थात् यंत्र के कारण मानवजाति को यंत्रहीन स्थिति में जितना प्राप्त होता था उससे कई गुने (राक्षसी) अन्न, वस्त्रादि की पूर्ति मनुष्य को होने लगेगी। अत्यल्प श्रम में उपभोग्य पदार्थ प्राप्त होंगे। इसका अर्थ यह है कि कठिन श्रम की आवश्यकता न रहते हुए यंत्र से बेकारी मात्र नष्ट होगी। अन्न-वस्त्र मिलता नहीं, अतः मनुष्य कठिन श्रम करता है। उसे उसकी चाह होती है ऐसी बात नहीं। यदि आप कहते हैं कि यंत्र के कारण अन्न, वस्त्रादि पदार्थ प्रचंड प्रमाण में और कम कष्टों से उत्पन्न हो सकते हैं तो यंत्र से 'बेकारी' बढ़ती है यह कहना मूलतः असंभव है, ऐसा आपके कहने से ही सिद्ध होता है। यंत्र से सभी कार्य होने लगें तो किसी को नौकरी ही नहीं मिलेगी, करने के लिए काम ही नहीं बचेगा, इस प्रकार का भय आप प्रदर्शित करते हैं मानो मनुष्य केवल कठिन श्रम करने के लिए ही नौकरी ढूँढ़ता है। अन्न, वस्त्रादि उपभोग्य पदार्थ उसे यथेच्छ घर बैठे मिल गए तो भी वह नौकरी ढूँढ़ता फिरेगा, ऐसी कुछ विक्षिप्त समझ आपकी अनजाने में हो जाती है, इसलिए परस्पर विरोधी विधान किए जाते हैं। यंत्र से सभी काम होकर उत्पादन काफी बढ़ गया तो नौकरी नहीं मिलेगी यह सत्य है, परंतु उसका कारण यह है कि मनुष्य को आज की जैसी कष्टपूर्ण नौकरी करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। नौकरी नहीं मिलेगी अर्थात् नौकरी करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। बिना कठिन श्रम आज की अपेक्षा अधिक सुलभता से और सुभीता से चाहे जो उपभोग्य अन्न, वस्त्रादि पदार्थ यंत्रबल से सामाजिक उत्पादन बढ़ने के कारण हरेक को मिलने लगेगा। इच्छित वस्तु बिना परिश्रम मिलने के कारण नौकरी के नहीं मिलने के कारण, कोई भी नौकरी नहीं करेगा तो उस स्थिति को कोई सार्वजनिक 'बेकारी' नहीं कहेंगे।

घर के एक परिवार के समान एक राष्ट्र की स्थिति, उस राष्ट्र में यंत्रहीन स्थिति में, उस देश के सभी लोगों को अन्न, वस्त्र, छाया, घरबार, गाड़ियाँ, शस्त्र आदि सांसारिक अनेक वस्तुओं के लिए दिन में दस-दस घंटे मेहनत करनी पड़ती थी। अब उन वस्तुओं का निर्माण करनेवाले यंत्र आ गए, यहाँ की खेती, मिलों, कारखानों का काम, नई विज्ञान पद्धति से यांत्रिक तरीके से शुरू हो गया अर्थात् उत्पादन भी यांत्रिक अनुपात में बढ़ेगा। अन्न-वस्त्र-बूट-छाता आदि सभी वस्तुएँ पूर्व की अपेक्षा दस गुना अधिक मिलने लगेंगी, दस गुना कम चिंता से और श्रम से,

अपने उत्पादन का बड़ा हिस्सा अपने किसी लाड़ले वर्ग को नहीं देता। किसी से
लेता भी नहीं। इसलिए यंत्र से बेकारी बढ़ती है, सादा रहन-सहन बिगड़ता है
श्रीमंत-गरीब की विषमता बढ़ती है, वर्ग-कलह बढ़ता है आदि कहना उचित नहीं

यंत्र-विरोधी ऐसा आक्षेप भी है कि 'सारा काम यंत्र ही करने लग गया तो
मनुष्य खाली रहने से आलसी तथा निकम्मा बनेगा। मनुष्य काम करके पसीना
बहाने पर मिलनेवाली रोटी खाने के आनंद को नहीं पाएगा। वह इंद्रियों से दुर्बल
मन से अनुदार, अंग से वृद्ध बनेगा और यंत्र का गुलाम बन जाएगा।' इस प्रकार की
समस्त चिल्लाहट पूर्णतः अज्ञानपूर्ण और भयग्रस्त है। आज के समाज की विषमता
के ये दोष केवल अज्ञानवश यंत्र पर लादे जाते हैं। घर के आधार जैसे स्तंभ से
अपनी गलती से कोई बालक टकराता है और उसके सिर में चोट आती है तो
उसका दोष वह चिड़चिड़ा बालक खंभे पर लादते हुए उसको ही लकड़ी से पीटने
लगता है। इसी चिड़चिड़े अज्ञान के कारण वह, यंत्र का सदुपयोग करने की बजाय
सामाजिक विषमता के कारण हो रहे अर्थयुद्ध, शोषण, बेकारी आदि मनुष्य के दोष
यंत्र के ऊपर लादता है। उसका हेतु ध्यान में रखकर हमारे राष्ट्र को बिना हिचक इस
यंत्र युग का मन से स्वागत करना चाहिए।

यंत्र से तो लाभ ही होता है। यंत्र के दुरुपयोग को टालकर सामूहिक
सदुपयोग कैसे करना चाहिए इसका सही आर्थिक विचार रूस आज दुनिया को
रहा है। यदि यंत्र से बेकारी बढ़ती होती और मनुष्य दुर्बल हुआ होता तो आ
सामूहिक यंत्र प्रयोग के कारण जिसका प्रचंड राष्ट्रीय बल उत्पन्न हुआ है, जिस
प्रचंड पूँजी लगाई है वह रूस समस्त जगत् का भिखारी, बेकार, दुःखी और दुर्ब
हुआ होता। परंतु आज बीस वर्षों के प्रयोग के उपरांत भी वास्तविक स्थिति इस
विपरीत है। यंत्रशक्ति के कारण ही रूस आज प्रबल, संपन्न, प्रत्येक व्यक्ति
काम, अन्न, वस्त्र, आनंद एवं समता उपलब्ध करानेवाला राष्ट्र माना जा रहा है

[

'न बुद्धिभेदं जनयेद' यानी क्या ?

कुछ दिन पूर्व केड़गाँव में धर्मांधता का जो खराब प्रदर्शन हुआ या सांगली में जो यज्ञ हुआ, इसके समान आज के अपने हिंदू राष्ट्र का उद्धार करने या उसकी धारणा को आवश्यक सहयोग न कर धर्मांधता का रोग फैलाने के कारण 'धर्मकार्य' पूर्वापेक्षा बहुत कम होते हैं—ऐसा सनातनी लोग बार-बार कहते हैं।

उनका वह दुःख सही है। पूर्व में बारह-बारह वर्ष तक चलनेवाले प्रचंड यज्ञ, जप-जाप्य के सतत अनुष्ठान पूरे देश में चलते थे। वैसे 'धर्मकार्य' आज लगभग नामशेष हो रहे हैं यह बात झूठ नहीं है। इस प्रकार के धर्मकार्यों का युग समाप्त हो गया है। किसी स्थिति में उनका भी महत्त्व था। उस परिस्थिति में उनका अस्तित्व और आचरण भी अपरिहार्य था। परंतु अब उनका कोई उपयोग नहीं रहा है। इसके विपरीत अपने हिंदू राष्ट्र की प्रज्ञा धर्मांधता की अफीम की गोली देकर बेहोश करने में ही ये धर्मकार्य जाने-अनजाने कारण बन रहे हैं। इसलिए वे 'धर्मकार्य' कहने योग्य भी नहीं रहे हैं। नवग्रहों के संकट-मुक्ति हेतु लाख-लाख जप, एक लाख अथर्वशीर्ष पाठ, गायत्री मंत्र के करोड़ों आवर्तन, अग्नि होम या हवनकुंडों में घी के हौद जला देना आदि धर्मकार्यों से अपने हिंदू राष्ट्र का कुछ भी ऐहिक हित सधने वाला नहीं। पारलौकिक,हित का प्रश्न विचार में लिया तो भी ऐसे लोगों को प्रज्ञाहत करनेवाले लोगों के ऐहिक उद्धार को और धारणा को कुछ भी सहायता न देते हुए इसके विपरीत उनका प्रत्यक्ष रूप से अहित करनेवाले इन 'धर्ममप्यसुखोदर्क लोकविकृष्टमेवच' को त्यागकर जिससे निःश्रेयस और अभ्युदयःप्रसक्ष रूप से राष्ट्र का हो सके ऐसे जो सात्त्विक धर्म साधन हैं, अब इन तामसिक बातों की अपेक्षा, उन्हें ही अधिक आचरणीय और आदरणीय समझना चाहिए।

इस प्रकार अज्ञानाधिष्ठित प्रचंड कर्मकांड दिन-प्रतिदिन नष्ट हो रहे हैं, इस प्रकार यह लोकविकृष्ट असुखोदर्क और प्रज्ञाघातक धर्मकृत्य लुप्त हो रहे हैं, यह

सनातनी लोगों की शिकायत सही है। परंतु उसके संबंध में उनको जो बुरा लग रहा है वह सर्वथा अकारण है। मनुष्य के मन पर धार्मिक मंतर-जंतर का प्रभाव था वह पूर्वापेक्षा कम होकर हिंदुस्थान में भी विज्ञान युग का प्रभाव अधिकाधिक हो रहा है। बुद्धिवादी पक्ष के इस संबंध में किए जानेवाले प्रयास उस अनुपात में सफल हो रहे हैं, यह बात यह सनातनी दुःख प्रमाण सहित सिद्ध कर रहा है।

इसलिए बुद्धिवाद की बौछार दुगुने उत्साह से कर धर्मभीरुता की उछाल करने की प्रवृत्ति को दबा देना चाहिए। यह बात हमें, घृणा से नहीं, क्रोध से नहीं, मजाक करके नहीं, द्वेष से भी नहीं, बल्कि अपने राष्ट्र को धार्मिक अज्ञान के तमोयुग से निकालकर आधुनिक विकसित विज्ञान युग में उसे लाने का यह अपना अत्यंत पवित्र कर्तव्य है और यही सच्चा धर्म है—इस भावना से करना चाहिए। हमारे देश में पुरातन विचारों की आज भी पूजा करनेवाले सनातनी लोगों को हमें बुद्धिवाद से समझाना होगा कि नवग्रह-शांति आदि भोली धर्म-कल्पनाओं से कुछ भी लाभ नहीं होगा और आज की स्थिति में हिंदू राष्ट्र के लिए उद्धारक, लोक-हितकारक, वैज्ञानिक सत्य पर आधारित और परलोक में भी निःश्रेयस्कर व्यवहार करना ही आज सही धर्माचरण होगा। इतना विचार परिवर्तन करने के लिए हमें निष्ठापूर्वक सनातनी लोगों से चर्चा करनी होगी। अनावश्यक कर्मकांड को पुनः-पुनः धिक्कारना होगा। आज कतिपय प्राचीन धर्म-विधियाँ, समझ, निष्ठा, झूठी और बेकार सिद्ध हुई हैं, उनके ऊपर का मानवजाति का शेष विश्वास भी स्पष्ट रूप से नष्ट करना होगा। तब तक हमें सत्य का प्रचार प्रमाण-शुद्ध प्रयत्नों से करना होगा। केवल हिंदू समाज के लिए यह सीमित कार्य नहीं करना है अपितु इसी प्रकार की प्रवृत्ति से ग्रस्त हुए ईसाई, मुसलमान इत्यादि समाज को भी इस अज्ञान रोग से मुक्त करना होगा तथा उन्हें विज्ञान के शुद्ध वातावरण में लाना बुद्धिवादियों का परम कर्तव्य है। क्योंकि जैसे गाँव में कोई रोग फैल जाए तो उसका प्रभाव समस्त गाँव के लोगों पर होता है, सबका स्वास्थ्य ही संकट में पड़ जाता है।

धर्मांध कर्मकांडियों के तीन वर्ग

जो लोग आज भी अज्ञानवश अंध धर्मविधि का प्रभाव बढ़ाते रहते हैं ऐसे लोगों के तीन वर्ग हैं। प्रथम अटल लुच्चों का। इन लोगों का तो यह व्यवसाय ही बन जाता है—गप्पें लगाकर और फँसानेवाले चमत्कारों की करामत से लोगों में दैवी शक्ति के संबंध में खूब प्रचार करना और लाखों सीधे-सादे लोगों को मनौतियाँ, गंडे-धागे, ताईत-ताबीज आदि पाखंड की बातों में फँसाकर लाखों रुपए कमाना। इस वर्ग के लोग तर्क-वितर्क तथा युक्तिवाद को नहीं मानते। क्योंकि वे

जान-बूझकर ही झूठा प्रचार करते हैं। इस पाखंड या ढकोसले से लाखों लोग जो झुकाए जाते हैं उनका अंधविश्वास समाप्त करना ही इस पाखंडी-व्यवसायियों को ठिकाने पर लाने का सही उपाय अपने हाथ में है।

दूसरा वर्ग उन भोले-भाले ग्राहकों का है जिनका उपर्युक्त धार्मिक ढकोसलों पर विश्वास होता है। परंतु उनमें जाकर यदि हम उन ढकोसलों की सही जानकारी देकर विज्ञान का और बुद्धिवाद का प्रचार करें तो उनमें से अधिकांश लोग जाग्रत् हो सकते हैं।

तीसरा वर्ग है ज्ञानी लोगों का। यह धार्मिक कर्मकांड अज्ञानजन्य है, बेकार है, अबाधित सृष्टि नियम, पूजा-प्रार्थना से टलनेवाला नहीं। समुद्र, सूर्य, ग्रह-नक्षत्र, भूकंप, रोग, आरोग्यादि पदार्थ—सृष्टि-नियमों से बद्ध होते हैं। भौतिक कार्य-कारण भाव के अबाधित सूत्रों से ही उनका नियमन होकर वैदिक ऋचाओं के, कुरानों की आयतों के या बाइबिल के सर्मनों के कितने ही पाठ करके भी उन्हें प्रसन्न नहीं किया जा सकता। खंभे के सामने पढ़ी हुई कविताएँ उनकी समझ में नहीं आतीं, वैसे ही उपर्युक्त पदार्थों को हमारे स्तोत्रों का एक अक्षर भी समझने में नहीं आता। इन बातों को ये ज्ञानी समझते हैं। उनका स्वयं का अंधविश्वास इन भोले अनुष्ठानों की फलश्रुति पर नहीं रहता।

किंतु इस तीसरे वर्ग के लोग ऐसे धर्मांध अनुष्ठानादि आचार या बड़ाई का विरोध नहीं करते। इतना ही नहीं अपितु अज्ञानी लोगों की भावना को ठेस पहुँचाना शिष्टाचार नहीं, ऐसा समझकर उन अज्ञ अनुष्ठानादि को प्रोत्साहन भी देते हैं; क्योंकि वे समझते हैं कि अज्ञानमय क्यों न हो उनकी धर्मबुद्धि तो जाग्रत् रहती ऐसी भोली कल्पना उनकी होती है। और भी एक बात इस प्रकार के दोमुँहे लोगों की होती है कि वे धर्मांध लोगों को खुलेआम दुःखी नहीं करना चाहते और उनके बीच जो इनका दबदबा होता है उसे बिगाड़ना भी नहीं चाहते। वे स्वयं शनिदेव की पूजा नहीं करेंगे, संध्या-पूजा नहीं करेंगे, कोई नगण्य नारायण महाराज स्वयं को 'अनंतकोटी ब्रह्मांड नायक' कहकर भक्तों से चुपचाप कहलाने लगे या शनिस्तोत्र के पारायण करने लगे तो अंतःस्थ संभाषण में उनकी निंदा भी करेंगे। परंतु लोगों के बीच अपना जो सम्मान है उसे भी वे गँवाना नहीं चाहते, इसके लिए केड़गाँव पहुँचकर वहाँ के 'गोविंद' के भजन में भी वे तालियाँ बजाकर साथ देंगे। उसे किसी फर्जी साधु ने चरणतीर्थ पीने के लिए दिया तो मन में गुस्साएँगे, परंतु जाहिर रीति से उसे नकारेंगे नहीं, भले ही नाक पर अँगुली रखकर पीने का बहाना करेंगे। यदि कोई पूछता है कि क्या ढोंग-धतूरे का विरोध करना आपका कर्तव्य नहीं है ? तो वे कहेंगे किसी की भावनाओं को क्यों ठेस पहुँचाएँ? कहा है कि 'न बुद्धिभेदां जनयेद्

अज्ञानां कर्मसंगिनाम्!!'

धार्मिक दृष्टि से भोले-भाले लोगों के ये तीन वर्ग हैं—लुच्चे धंधेबाज, ज्ञात-भोले और ज्ञात-संकोची। इन तीनों के मुख में अपने व्यवहार के समर्थनार्थ एक ही वाक्य प्रमुखता से रहता है कि 'न जनयेद् बुद्धिभेदम्!' किसी भी बुद्धिवादी ने किसी अंधश्रद्धा की रूढ़ि पर या विधि पर टीका की तो उनकी यह चिल्लपों शुरू होती है कि 'आपका कहना सही होगा, परंतु लोगों का बुद्धिभेद क्यों करते हो? उनकी भावनाओं को क्यों ठेस पहुँचाते हो?' 'न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसंगिनाम्। जोषयेत सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्' यह श्लोक हमारे सामने स्वयं की धर्मांधता का या लोकभीरुता के समर्थनार्थ, सुधार के विरोधियों ने या सुधारकों का खुला समर्थन करने में डरनेवाले लोगों ने इतनी बार हमारे सम्मुख रखा है कि उस श्लोक का सही अर्थ एक बार निवेदन करने से सदिच्छा से प्रामाणिकता से जो लोग पूछते हैं कि 'बुद्धिभेद क्यों करते हो? या भावनाओं को क्यों नकारते हो?' आदि प्रश्नों का उत्तर दिया जाएगा। इससे गलत भावनाओं का और रूढ़ियों का विरोध करने के लिए और सुधारों को बढ़ाने के लिए आगे बढ़ने की संभावना है। हमारे लिए तो बुद्धिवाद का समर्थन हमने किया ऐसा होगा।

जिस 'भगवद्गीता' में यह श्लोक है, वह गीता भी 'बुद्धिभेद' करनेवाली नहीं है क्या?

किसी भी अज्ञ मानव के किसी कृत्य या भावना का विरोध नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत विद्वानों को चाहिए कि वे प्रज्ञाहत, भोले, लोकहितघातक कर्म को उन अज्ञानी लोगों के साथ व्यवहार में लाएँ। ऐसा अर्थ यदि गीता का है तो प्रत्यक्ष गीता का मूलाधार ही दोषपूर्ण है ऐसा कहना होगा। क्योंकि उथली भूतदया के झटके से ही अज्ञानी बने अर्जुन को राज्य गया तो भी चिंता नहीं थी, परंतु लड़ेंगे नहीं, ऐसी जो बुद्धि हो गई थी, उसका भेद करके, 'कुतस्त्वां कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्' इस वाक्य की फटकार लगाने के लिए और अर्जुन की कोमल भावनाएँ अत्यंत सत्य-निष्ठुरता से दुखाने के लिए गीता के अठारह अध्याय श्रीकृष्ण ने बताए। अर्जुन की बुद्धि का पूरा भेद किया जिसके परिणामस्वरूप नीचे डाला हुआ धनुष पुनः उठाने के लिए उसे बाध्य किया। अर्जुन आँखों से आँसू बहाकर 'युद्ध नहीं चाहिए' कह रहा है, परंतु बुद्धिवाद से, 'श्रेयो भोक्तु भैक्ष्यमपीह लोके' ऐसा तत्त्वज्ञान भी कह रहा है, तब 'न जनयेद् बुद्धिभेदम्' ऐसे अपने ही उपदेश के अनुसार उसे लड़ने के लिए न कहते हुए रण-मैदान छोड़कर जाने देना था। उस अज्ञानग्रस्त अर्जुन की भावनाओं को छेड़ने की बजाय उसकी भावनाओं का सम्मान करते हुए ऊपर-ऊपर से उसके सभी कर्मों को करने का दिखावा करके अर्जुन द्वारा

राज्य त्यागकर झोली लेकर भिक्षा माँगने हेतु निकलने पर स्वयं कृष्ण को उनके पीछे घूमना चाहिए था। 'जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्।' ऐसा कुछ व्यवहार श्रीकृष्ण ने करके नहीं दिखाया। इसके विपरीत अर्जुन की भैक्ष्य बुद्धि को क्लैब्य करके उसकी भर्त्सना की। उसकी भावनाओं को ठुकराया, उसके पुष्पितावाक् अज्ञान को झाड़कर उसको पानी-पानी कर दिया। और उसके बुझते हुए पराक्रम की अग्नि अपनी उत्तेजक वाणी से—स्फोटक ईंधन से प्रज्वलित करके उस रणकुंड में आक्रामकों की लाखों आहूतियाँ स्वाहा-स्वाहा की गर्जना करते हुए दीं।

ज्ञान का हर उपदेश अज्ञान का 'बुद्धिभेद' करता है। पृथ्वी गोल है ऐसा कहते ही यूरोप के कट्टर धर्मवादी लोगों की भावनाओं को धक्का लगा। उन कट्टर धर्मियों ने इस सत्य वक्ता की हत्या कर दी। पोप की धर्मबुद्धि को अमेरिका ज्ञात नहीं था। कोलंबस ने कहा कि अमेरिका है। पोप की धार्मिक भावनाओं को ऐसी ठेस पहुँची कि उन्होंने कोलंबस को पाखंडी घोषित कर दिया। ऐसे समय में पोप की भावनाएँ ध्यान में रखकर अमेरिका नहीं है ऐसा झूठा कथन कोलंबस को करना चाहिए था क्या? नहीं। सुबह बच्चे की इच्छा पाठशाला जाने की नहीं होती तब उसका बुद्धिभेद करके क्या उसे पाठशाला में नहीं भेजना चाहिए? अज्ञानी व्यक्ति द्यूत खेलना अपने हित का समझता है इसलिए क्या उसे द्यूत-विरोधी उपदेश नहीं करना चाहिए? उसका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए क्या?

भोले-भाले धार्मिक अनुष्ठानों या अस्पृश्यता जैसी दूषित धर्मबुद्धि को, गाय जैसे पशु को स्वर्गदायी देवता मानकर मंदिर में स्थापना कर पूजा करनेवालों के अज्ञान को या भूख से लोग मर रहे हों ऐसे समय में आग में घी डालकर यज्ञ करनेवाले लोगों के अविवेक को दूध देनेवाले पवित्र और उपयुक्त पशु की बलि चढ़ाने से भगवान् प्रसन्न होता है ऐसा माननेवाली मुल्लाशाही को या हजारों वर्षों पूर्व मनुष्य द्वारा लिखित ग्रंथ जैसे वेद, अवेस्ता, कुरान-पुराण, बाइबिल, इंजिल आदि आदरणीय को वैद्य माना है जिनमें विज्ञान की कसौटी पर न ठहरनेवाले और मनुष्य के हित और प्रगति के लिए बाधक गुलामगिरी के समान संस्थाओं को भी वैध माना गया है। उन ग्रंथों को ईश्वरकृत मानकर और उनका एक-एक अक्षर त्रिकालाबाधित सत्य है ऐसा दुनिया को मानना चाहिए, यह प्रचार जबरन करनेवालों के दुराग्रह को हम बुद्धिवादी लोग यदि संर्पक युक्तिवाद से और प्रत्यक्ष सबूत से झूठा सिद्ध करने लगे, उसका विरोध करने लगे तो हमें जो कहते हैं, 'बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए, धार्मिक भावनाओं को ठेस नही पहुँचानी चाहिए,' वे ही लोग भिन्न धार्मिक मतवालों का बुद्धिभेद करने के लिए और उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचाने से नहीं चूकते हैं। यह गीता का श्लोक, उनके द्वारा कथित अर्थ के साथ

स्वंय ही वे किस तरह मानते नहीं, यह देखें—

गोपूजा तथा पंचगव्य की धर्मभीरुता का हम विरोध करने लगे तो बुद्धिभेद करके हमारी धर्मभावनाओं को कष्ट न दीजिए, ऐसा हमसे डाँटकर कहनेवाले चौबे महाराज आदि गोरक्षक यात्रा में भैंसें मारनेवाले सैकड़ों गाँववालों की धार्मिक निष्ठा का निषेध करके उनकी भावनाओं को ठेस लगाने और बुद्धिभेद करने में नहीं चूकते। उन 'अज्ञानी लोगों के सभी कर्मों का समादर कर वे स्वयं भी चार भैंसें जमा कर देवी बहिरोबा के सामने क्यों नहीं मारते? यज्ञ संस्था को केवल पशुवध होता है हम इस कारण नकारते नहीं। 'अग्नि, सूर्य आदि निर्जीव वस्तुएँ, सृष्ट पदार्थ जो सृष्ट भौतिक नियमों से बद्ध होते हैं उन्हें प्रसन्न करने के लिए घी को आग में जलाना, स्तोत्र कहना, यह केवल छोटी बच्चियों के खेल जैसा होता है।' ऐसा उपदेश कर 'यज्ञ संस्था का अब विसर्जन करना चाहिए' ऐसा लिखते ही कुछ प्रमुख शिष्ट लोग हमें रोकते हैं कि 'याज्ञिक लोगों की धार्मिक भावनाओं को क्यों दुखाते हो? परंतु सांगली के यज्ञ में वे ही लोग यज्ञ में 'पशुवध मत करो, वह कृत्य वर्ज्य है,' ऐसा आग्रह खुले रूप से करते हैं। उसपर समाचारपत्रों में लेख भी लिखते हैं। परंतु पशुबलि वैदिक धर्म की याज्ञिक प्रक्रिया का मुख्य अंग है ऐसा माननेवाले मीमांसकों की भावनाओं को दुखाने से पीछे नहीं हटते। बुद्धिभेद करना नहीं छोड़ते। ''वेद मनुष्यकृत हैं, हमारे राष्ट्र को अब आधुनिक होना चाहिए, धार्मिक अज्ञान की अग्नि, सूर्य आदि का पूजा-पाठ छोड़कर हमें विज्ञान का आश्रय लेना चाहिए'' हमारे ऐसा 'किर्लोस्किर' मासिक पत्रिका में लिखते ही पंडित सातवलेकरजी को क्रोध आया और उन्होंने गर्जना की कि 'धार्मिक भावनाओं को मत दुखाओ।' परंतु उन्होंने गणेशांक में, 'श्री गणेश एक शिवाजी के समान राष्ट्रवीर व्यक्ति थे,' ऐसा लिखकर और उस भगवान् का समस्त इतिहास लिखकर श्री गणेश को देवाधिदेव माननेवाले गणपति भक्तों की भावनाओं को पैरों तले कुचला। 'हंस' पत्र में सनातनी लोगों की भावनाएँ सातवलेकर ने गणेशांक द्वारा कैसे दुखाईं और देव को मनुष्य बनाने का पाप किस प्रकार किया है यह बड़े क्रोधित होकर लिखा है।

हमने पाठशालाओं में पूर्वास्पृश्य बच्चों को एक साथ बैठाने का आंदोलन रत्नागिरि जिले में चलाया तब गाँव-गाँव की स्पृश्य जनता क्रोधित हो उठी। हरेक हमें कहने लगा, ''हे भाई, आप हमारी स्पृश्य धर्मभावना को क्यों दुखा रहे हो?'' तब हम उन्हें पूछते थे कि हम क्या करें? आपकी जैसी भावनाएँ अस्पृश्यों की नहीं हैं क्या? आपकी भावना उन्हें कुत्ते से भी दूर रखने की है, उसे न दुखाएँ तो हमारे मानवी बंधुओं को कुत्ते से भी अधिक अस्पृश्य मानने में और जिन पाठशालाओं में कुत्ते बैठते हैं उनमें से अस्पृश्यों को निकालने से उनकी भावनाओं का ठेस पहुँचती

है। ऐसी स्थिति में जिनकी भावनाएँ अन्यायी, लोकहित-विघातक, आततायी हैं, उनकी भावनाओं को दुखाना उचित है। चोर की भावना को दुखाना नहीं चाहिए, अतः मालिक को नहीं जगाएँ? यही न्याय, 'बुद्धिभेद मत करो, भावना को मत दुखाओ' आदि कहनेवालों पर लागू होता है।

बुद्धिभेद नहीं करें, पर दुर्बुद्धि-भेद अवश्य करें; सद्भावनाएँ नहीं दुखाएँ, पर असद्भावनाएँ अवश्य दुखाएँ!

'श्रीमद्भगवद्गीता' के श्लोक का ऐसा ही अर्थ करना होगा। नहीं तो श्लोक स्वयमेव ही एक अनर्थ हो बैठेगा। 'अज्ञान' के बुद्धिभेद के संबंध में ऐसा ही कहना होगा कि जब तक अज्ञान का वह कार्य जनहित में पोषक हो रहा है तब तक उस कार्य का प्रमुख हेतु न समझते हुए भी केवल रूढ़िवश सम्मान्य लोग व्यवहार में लाते होंगे या उसका व्यवहार करते समय उन्हें अल्पप्रमाण में कुछ लालन, मनोरंजनादि उत्तेजन देने पड़ेंगे, या बड़े प्रमाण में लोकहित साध्य होते, अल्प प्रमाद होते हों तो उस ओर ज्ञाताओं को ध्यान नहीं देना चाहिए और महाकृत्य को संपादित होने देना चाहिए। केवल छोटे कारण के लिए उस महाकृत्य को बिगाड़ना नहीं चाहिए। इस प्रकार लोकसंग्रह का, दस लोगों को साथ लेकर चलने का, हर किसी घर-समाज का, विपुल सहनशीलता से पुनः समाज को एकत्रित कर आगे ले जाने का कार्यकर्ता का गुण ही केवल उपर्युक्त श्लोक में सुझाया गया है। परंतु रूढ़ि से समूचा राष्ट्र नष्ट होने का धोखा उत्पन्न हो या धर्मविधि से असत्य का और अधर्म का फैलाव होकर राष्ट्र प्रज्ञाहत होता हो, तो किसी प्रकार लोकहित का सर्वनाश होता हो तो ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश करना ही चाहिए। ऐसा दुर्बुद्धि-भेद बुद्धिमान् व्यक्ति को करना ही चाहिए। लोकहितनाशक असद्भावों को नष्ट कर सद्भावनाओं का पोषण करना चाहिए। दुर्योधन, दुःशासन की भावनाओं को श्रीकृष्ण ने इसलिए ही साँप के समान कुचल डाला। अज्ञ अर्जुन को प्रज्ञ और गतसंदेह किया और 'गीतारहस्य' के लेखक लोकमान्य तिलक ने पंचांग-शुद्धि के समान प्रश्नों में भी लाखों सनातन पंडितों की अज्ञ भावना को दुःख देना गलत नहीं माना। रोटीबंदी के समान राष्ट्रघातक रूढ़ि को समाप्त करने के लिए सहभोज के कार्यक्रमों का आयोजन होने लगा तब सुधारक लोग उपदेश देने लगे कि 'लोकमान्य की ओर देखो, वे लोगों की भावनाओं को ठेस पहुँचाने का अतिरेक नहीं करते हैं।' परंतु इन सुधारकों ने तिलक पंचांग शुद्धि प्रकरण में गणितशास्त्रीय प्रकरण में भी हठवाद करके सत्य के विज्ञान का निमित्त कर समाज में संघर्ष पैदा किया। किसी के घर

उपवास तो किसी के घर हलवा, एक का आषाढ़ तो दूसरे का श्रावण मास ऐसी सदैव समाज-जीवन में फूट डालनेवाले पुरातन पंचांग क्यों प्रचलित रहें? ऐसा सोचकर ही पंचांग शुद्धि के लिए लोकमान्य ने भी हजारों धार्मिक लोगों की भावनाओं को ठेस पहुँचाई और बुद्धिभेद किया। उनमें असद्भावनाएँ और दुर्बुद्धि थी इसलिए ही उन्हें वह करना पड़ा।

जिन लोगों को अपना पेट पालने के लिए और झूठी प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए लोगों के अज्ञान का आधार आवश्यक होता है वे अज्ञान का बुद्धिभेद करना नहीं चाहते। परंतु जिन्हें लोगों के अज्ञान का व्यवसाय नहीं करना है उन्हें यह स्पष्टता से बताना चाहिए कि केड़गाँव में फैली हुए धर्मांधता की महामारी केवल रोग है जिसपर लोगों ने लाखों रुपए खर्च किए। उन्होंने जाने-अनजाने प्रज्ञाहतता का विष लाखों रुपयों से खरीदकर राष्ट्रबुद्धि को वह अमृत मानकर पिलाया। उनका वह अज्ञानतापूर्ण कार्यक्रम किस प्रकार का था? देखिए—

जो सूर्य, शनि, मंगल आदि ग्रह अर्थात् केवल निर्जीव, निर्मानस, निर्बुद्ध तेज गोल है, नगर निगम के लालटेन के समान निश्चित मात्रा में जलनेवाले आकाश के दीप, उनके नामों का करोड़ों बार जप किया। उनकी प्रार्थनाएँ कीं। आज के ज्योतिषीय ज्ञान से जिस मंगल की स्थिति मंगरुल की स्थिति के समान प्रत्यक्ष रूप से देखी जा सकती है और वह एक हमारे उत्तर ध्रुव के समान भूमि का एक टुकड़ा मात्र है—प्रार्थना, पूजा समझनेवाला कोई इच्छावान जीव नहीं। किसी मिट्टी के गोले के समान ये सारे नवग्रह जड़ पदार्थ हैं। इनकी पूजा-प्रार्थना कई शतकों तक करके भी हमारे राष्ट्र ने क्या प्राप्त किया? परतंत्रता, दरिद्रता, दुःख, अपमान, दुर्लक्ष। और इन सारे नवग्रहों के लिए एक दमड़ी भी व्यय न करते हुए और धूप न जलाते हुए प्रगति करनेवाले यूरोप की ओर देखें। उन्हें शनि की पीड़ा नहीं होती, मंगल ग्रह उनके लिए अमंगल नहीं बनता। उनकी समृद्धि हमारे ग्रहपूजकों की छाती पर उनकी सत्ता है। नवग्रहों की पूजा करने की अनुमति देने का अधिकार भी उनका। उनकी इच्छा हो गई तो हमारे ग्रह होम-कुंडों को एक क्षण में वे ध्वस्त कर सकेंगे। इसलिए नवग्रहादि की पूजा और एक सौ आठ-आठ लाख सत्यनारायण कथाएँ भी वैसी ही हैं जैसे बेजान खंभे से राजनीति के संबंध में प्रश्न पूछना निष्फल मूर्खता ही है।

सही धर्मसेवा, ये लाखों रुपए प्रत्यक्ष रूप से हितकारक होंगे इसलिए किसी अनाथाश्रम को या हिंदू जाति को समर्थ बनाने हेतु 'मुंजे' की सैनिक संस्था को दे दिए जाते तो धर्मसेवा हो जाती।

ताँबे के बरतन को भगवान् समझकर उसकी करोड़ों बार पूजा करके लाखों

रुपए खर्च करनेवाला और उसके द्वारा खर्च करानेवाला नारायण असत्यनारायण है, सत्यनारायण नहीं।

हमारे धर्मग्रंथों ने भी घोषणा की है कि नर में ही नारायण की अभिव्यक्ति उत्कटता से होती है। वही तत्त्व स्वीकार कर इस ताँबे के लोटे को सत्यनारायण का प्रतीक मानने की अपेक्षा हरेक हिंदू अनाथ को ही यदि नारायण का प्रतीक मानकर ऐसी एक सौ आठ सत्यनारायण कथाएँ प्रतिघंटा की गई होतीं माने इतने हिंदू अनाथों के लिए उनकी सुरक्षा हेतु धन दिया गया होता तो इस लोक में हिंदू राष्ट्र की प्रत्यक्ष सेवा न हो जाती क्या? वह क्या धर्मकृत्य नहीं होता? इस प्रकार ऐहिक फल प्राप्ति के साथ ही पारलौकिक फल पर भी आपका विश्वास हो तो उन अनाथ लोगों का जीवनदान देने का सत्कृत्य ईश्वरार्पण बुद्धि से किया होता तो ताँबे के भगवान् को हलुवे का प्रसाद चढ़ाने की बजाय नर की उस सेवा से उन भूखों को, धर्मशत्रु जिन्हें भगाकर ले जाते हैं, उन बच्चों को हलुवा खिलाने से वह भगवान् नारायण संतुष्ट नहीं होता क्या?

सही माने में केड़गाँव में जिन दानी पुरुषों ने लाखों रुपए खर्च किए, उतने धन से एक बड़ा भारी अनाथालय बनाया जा सकता था, परधर्मियों के चंगुल से छुड़ाए गए सैकड़ों बच्चों का पालन-पोषण करनेवाली एक जीवित कृषि जैसी चिरंतन संस्था बनाई जा सकती थी। हिंदू युवकों के लिए एक वैमानिक शिक्षा की अच्छी संस्था खोली जा सकती थी। जो हो गया सो हो गया। परंतु हमारे दानी पुरुषों को चाहिए कि भविष्य में हिदू धर्म के लिए धार्मिक दान देना और धर्मकार्य करने के लिए ऐसी किसी गतिविधि का उन्हें चयन करना चाहिए। यही सच्चा धर्मकार्य होगा। सच्ची धर्मसेवा होगी।

□

यदि आज पेशवाई होती!

हमारे हिंदू समाज में स्पर्शबंदी, समुद्रबंदी, शुद्धिबंदी, रोटीबंदी आदि अनेक धार्मिक रूढ़ियाँ हैं जिनके कारण अपने राष्ट्र की बहुत हानि हो रही है। परंतु ये दोष दिखाकर और अन्य विविध प्रकार की धार्मिक छाप की अज्ञानी बातों का उच्चारण करने के लिए जब-जब प्रयास किए जाते हैं तो ऐसा देखा गया कि सनातन मंडली की ओर से सुधारक मंडली पर जो आक्षेप बार-बार लगाए जाते हैं उनमें 'लोगों की धर्मभावना आपके प्रचार के कारण दुखती है इसलिए आपकी सुधारणाएँ ग्राह्य नहीं हैं,' यह आक्षेप हमेशा किया जाता है। परंतु ये सुधार राष्ट्रहित में आवश्यक हैं या नहीं इस संबंध में वे विचार भी नहीं करते। उनके कथनानुसार सुधार कितने भी हितप्रद हों, यदि उनसे बहुजन समाज की धार्मिक रूढ़ियों के संबंध में आदर कम होता हो और उनकी उन रूढ़ियों के संबंध में परंपरागत धर्मबुद्धि नष्ट हो रही हो तो सुधार के प्रचार का कार्य भी उपद्रवी होता है। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्॥
जोषयेत् सर्व कर्माणि विद्वान् युक्त: समाचरन्॥'

इसलिए हमारे सनातन बंधुओं को उनके ही आक्षेपकों का हेतु स्पष्ट करने के लिए और उपर्युक्त गीतावचनों का मर्म यथार्थता से बताने के लिए हमने पहले 'किर्लोस्कर' मासिक में 'बुद्धिभेदं जनयेद' क्या है? और 'हमारी धर्मभावना को मत दुखाओ!' ऐसे दो लेख लिखे हैं। इस प्रस्तुत लेख के अनुसंधानार्थ उनका सारांश पुन: एक बार यहाँ कहना आवश्यक है, वह यों कि 'गीता' के उपर्युक्त अनुष्टुप का अर्थ अज्ञ जनों की बुद्धि को अनुचित मार्ग से ले जाकर उन्हें दुर्बुद्धि न सिखाएँ, इतना ही है। अज्ञानी जनों का बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए अर्थात् उनके अज्ञान का अनुचित लाभ लेकर उनका बुद्धिभ्रंश नहीं करना चाहिए। सनातनी लोगों

के कथनानुसार लोगों का बुद्धिभेद करना नहीं चाहिए यानी उनका दुर्बुद्धिभेद भी नहीं करना चाहिए ऐसा अर्थ किया तो अनर्थ होगा। स्वयं कृष्ण की गीता अर्जुन को हुए व्यामोह की दुर्बुद्धि को भंग करने हेतु ही तो निवेदन करने को रची गई। किसी को भी किसी प्रकार अहितकारी, व्यामोह हुआ तो भी, अपनी लोकप्रियता सँभालने के लिए, उन्हें उस दुर्बुद्धि के मार्ग का ही अनुसरण करने देना चाहिए। इतना ही नहीं अपितु विद्वानों को उनके अनुसार दूषित और अनुचित 'सभी कर्म' स्वयं भी करते रहने चाहिए। 'जोषयेत सर्व कर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्!' ऐसा उपर्युक्त श्लोक का अर्थ करना, उस श्लोक का उपहास करना होगा।

वही बात धर्मभावना की! धर्म होगा तो उस संबंध में सद्भावनाओं को नहीं दुखाना चाहिए यह उचित है। परंतु यदि कोई अधर्म को धर्म समझता हो और यदि उस अधर्म के संबंध में उनकी भावनाएँ इतनी धर्मांध होंगी कि धर्म के सभ्य और सदिच्छ उपदेश से भी वे दुखेंगी तो ऐसे प्रसंग में अधर्म की उन भावनाओं को ठेस पहुँचाना ही सही धर्मकृत्य होगा। धर्मप्रसार के लिए वैसी अधर्म भावनाएँ उस अर्थ में दुखाए बिना गति नहीं। सभ्य व्यक्ति को चोर के नियंत्रण से मुक्त करते समय चोर की भावनाएँ दुखती हैं—सभ्य को मरने दो, ऐसा कहेंगे क्या? अपनी माँ वायु के प्रकोप के झटके में खिड़की से खड्डे में कूदने लगी तो ऐसे प्रसंग में उसकी भावनाओं को कितना ही दुखाया गया तो भी उसे प्राणघातक कूद से रोकना ही मातृभक्ति का कर्तव्य है, सही पुत्रधर्म है। यही बात राष्टभक्ति की और स्वधर्मभक्ति की है। राष्ट्रहित के लिए अत्यंत हानिकारक जो-जो रूढ़ियाँ आपको और हमें लोकविरोधी लगती हैं उनका नाश करने का प्रयास ही आपका और हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है। राष्ट्रधर्म है।

मलाबार के मोपलों का और मध्यप्रांत के 'हलबी' का उदाहरण नमूने हेतु सोचकर देखिए। समुद्रयातुः स्वीकारः कसौ पंच विवर्जयेत्—समुद्रगमन करनेवाले को जातिबहिष्कृत करना चाहिए, यह समुद्रबंदी का धर्मनियम जब शास्त्रों ने बताया तब से हिंदू राष्ट्र का समस्त विदेश—वाणिज्य व्यापार हमने स्वयं ही विदेशी लोगों के हाथ में सौंप दिया। अर्थात् मलाबार के हिंदू राजा भी समुद्र उल्लंघन को महापाप समझने लगे। परंतु अरब लोग मलाबार से जो सामुद्रिक व्यापार करते थे उसके द्वारा अमित संपत्ति प्राप्त करते थे वैसी अमित संपत्ति हमें भी मिले इस भावना से प्रेरित होकर अपने सेवकों द्वारा बड़ी-बड़ी नौकाएँ ले जाकर दुनिया का धन लाकर अपने भंडार में जमा करना चाहिए ऐसा विचार मलाबार के हिंदू राजा को हुआ। तब समुद्रगमन का पाप भी नहीं होना चाहिए और बाहर की संपदा भी प्राप्त होनी चाहिए इस दृष्टि से हिंदू राजाओं ने कौन सी

युक्ति सोची होगी? राजा ने सोचा प्रत्येक हिंदू परिवार का कम-से-कम एक लड़का मुसलमान हो जाए। राजा ने आज्ञा की और इस धार्मिक भावना के कारण सहस्रों परिवार के लड़के मुसलमान बन गए। जैसे खाना बनाने हेतु ईंधन चाहिए तो अपने हाथ-पाँव काटकर ही चूल्हे में डाल दिए गए हों। यह एक ऐतिहासिक घटना है, विडंबना नहीं। ये जो सहस्र हिंदू लड़के, समुद्रबंदी के धर्म की रक्षा करने के लिए मुसलमान बन गए उनके वंशज मोपले मुसलमान हैं। आज वे ही हिंदू समाज पर आत्यंतिक अत्याचार कर तलवार की नोक पर हमें मुसलमान बनाने में लगे हुए हैं।

इसी प्रकार की 'धर्मभावना' का उदाहरण श्रीयुत जगनप्रसाद वर्मा ने 'केसरी' में कुछ दिन पूर्व प्रकाशित किया था। मध्यप्रांत में राजपूत हिंदुओं की एक जाति हलबी है। वे विधवा की अवैध संतति और कुमारियों की अवैध संतति मुसलमानों को दे देना ही धर्म मानते हैं। इस प्रकार की व्यभिचारज और कानीन संतति मुसलमानों को दिए बिना विधवा को या कुमारियों को शुद्ध नहीं माना जाता। उन्हें जाति में नहीं लिया जाता। यह प्रायश्चित्त उन्हें इतना सद्धर्म लगता है कि ऐसी संतति मुसलमानों को न देते हुए हमें दो, हम उन्हें स्वीकारते हैं, ऐसा संगठनपंथी हिंदुओं ने कहा तो भी वे बच्चे कभी हिंदुओं को नहीं दिए जाएँगे। मुसलमानों को बच्चे दे देना ही धर्म! हिंदुओं को देने पर उनकी माताएँ शुद्ध ही नहीं होतीं।

अब यह धर्मभावना—शुद्धि की हत्यारी बेहोबी? वर्माजी कहते हैं, "ऐसे उदाहरण एक-दो होते तो उपेक्षणीय होते, परंतु हलबी लोगों की जनसंख्या लाखों की है और ऐसी घटनाएँ प्रतिवर्ष हजारों में होती हैं। इसी कारण जहाँ मुसलमानों के एक दो घर थे वहाँ सैकड़ों घर हो गए और संख्या बढ़कर हिंदू समाज के लिए घातक हो रही है।

ये प्राणघातक 'धर्मभावना' के उदाहरण कुछ भी नहीं। रोटीबंदी, शुद्धिबंदी, समुद्रबंदी इन सबके कारण ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। घर में कदम रखते ही परिवार भ्रष्ट हो गया, कुएँ में डबल रोटी गिरते ही गाँव-के-गाँव भ्रष्ट हो गए। सच तो यह है कि सैकड़ों अलाउद्दीन-औरंगजेब की तलवारों से जितना हमारे हिंदू राष्ट्र का कत्ल नहीं हुआ उससे कई गुना ज्यादा हमने ही अपनी राष्ट्रीय संतानों का भयंकर कत्ल इस प्रकार की धर्मभावनाओं से किया है। दूसरों को जबरदस्ती पकड़कर, उनका धर्म-परिवर्तन करके अपनी संख्या करोड़ों में बढ़ानेवाले पुर्तगीज, मुसलिम आदि प्रबल धर्मशत्रु जब देश पर आक्रमण करने आए थे, उस समय हम हिंदू अपनी सैकड़ों संतानों को भगवान् को अर्पित करने के समान धर्मशत्रुओं को अर्पित

करना ही स्वधर्म समझ रहे थे। हिंदू हो तो वह अस्पृश्य और हिंदू धर्म छोड़ने पर वह शुद्ध स्पृश्य। एक-दो नहीं, ऐसी कितनी ही प्राणघातक रूढ़ियाँ इस राष्ट्र में जनमीं और इस कारण यह राष्ट्र हतबल क्यों हुआ यह प्रश्न नहीं है, प्रश्न यह है कि अभी तक यह टिक कैसे गया? यही आश्चर्य है। पागलपन में अपनी स्त्री और बच्चों की हत्या करनेवाले, विष पीनेवाले या उस्तरे से केश काटने की बजाय गला काट लेनेवाले पागल यहाँ मिलेंगे। परंतु विष का प्याला 'स्वधर्म' मानकर पीनेवाले, स्वयं की गरदन काटना ही पवित्र धर्मसंस्कार समझनेवाले पागल भी सहजता से नहीं मिलेंगे। इस प्रकार की आत्महत्या के पागलपन को ही जो शास्त्र-व्यवस्था 'धर्म' समझती है वह धर्म-व्यवस्था नहीं, धारण-व्यवस्था भी नहीं अपितु मारण-व्यवस्था ही है।

इस प्रकार की मारण-व्यवस्था को, जो हमारे सामने ही राष्ट्रबल का गला दबा रही है, क्या हम आग न लगाएँ? सद्धर्म के अज्ञान से परिपूर्ण उन अज्ञ लोगों की, वह धर्मभावना मानकर उसे दुखाना नहीं चाहिए? उनके पागलपन में उन हमारे भाई-बहनों को विष पीने दें? राष्ट्र की गरदन काटने दें? यह उनकी धर्मबुद्धि समझकर क्या बुद्धिभेद नहीं करें? तीव्र विरोध नहीं करें? प्रतिकार का तो नाम ही नहीं लेना चाहिए। परंतु उन पागल लोगों के रंजनार्थ उनके ही समान यह अधर्म की अज्ञानी राष्ट्रहत्या ज्ञानी राष्ट्र संघटकों को भी करनी पड़ी? अपनी लाखों संतानें पीर-पादरियों को देना—इसको ही धर्म मानें? अज्ञानी के समान क्या 'जोषयेत सर्वकर्माणि, विद्वान् युक्त: समाचरन्?'

सनातनियों का जो दूसरा आक्षेप कि 'यस्मान्नोद्विजते लोक:' उसका वे जो विकृत अर्थ निकालते हैं उसी अर्थ को सही मानकर क्या हम केवल लोकप्रियता हेतु लोकहित की ही बलि दें? यदि श्रीकृष्ण भगवान् को हम सही अर्थ में समझ लें तो उन्होंने अत्यंत उचित उपर्युक्त सूत्र भगवद्गीता में बताया और बाद में इसके विपरीत आचार किया इसे क्या कहें? आज श्रीकृष्ण राष्ट्र के मेरुमणि माने जाते हैं, परंतु उनकी पीढ़ी में अनेक प्रसंगों में आर्यावर्त का बहुमत उनके अत्यंत विरोध में था ऐसा दिखता है। कृष्णभक्त अल्पसंख्य, कृष्णद्वेष्टा बहुसंख्य थे। भारतीय युद्ध में भी गीताद्रष्टा के साथ सात अक्षौहिणी परंतु उसके शत्रु पक्ष के साथ ग्यारह अक्षौहिणी सेना थी। श्रीकृष्ण का नाम लेते ही सभी कौरवों के मन में उत्साह भरता था और उनका नाम लेते ही भगवान् उत्साहित होते थे। परंतु लोकहितार्थ सत्यप्रतिष्ठापना हेतु लोकप्रीति या लोकोद्वेग को महत्त्व नहीं देना चाहिए ऐसा उपर्युक्त श्लोक का अर्थ नहीं है।

क्या इसलिए कृष्ण ने उन्मार्गगामी कंस, जरासंघ, दुर्योधन आदि का पक्ष

लेनेवाले करोड़ों लोगों से प्राणघाती शत्रुता की? यस्मान्नोद्विजते लोक: का सही अर्थ इतना ही है कि लोगों को स्वार्थ के लिए उपद्रव नहीं करना चाहिए। उनके हित के लिए उनमें गड़बड़ी फैलाई न जाए। इतना ही नहीं अपितु बहुमत की दुर्भावनाओं को भी नहीं दुखाना चाहिए। किसी प्रकार लोकप्रियता प्राप्त करनी चाहिए यह 'गीता' ने नहीं सिखाया है। क्योंकि—

सुधार यानी अल्पमत, रूढ़ि यानी बहुमत!

इसलिए जगत् में जग के हित के लिए या सत्य के प्रकटीकरणार्थ महान् सुधारक, जब-जब प्रचलित असत्य अपधर्मीय और जनघातक रूढ़ियों को हटाकर किसी महान् सुधार हेतु और नव सत्य का प्रतिपादन करने के लिए सामने आया, तब-तब जो प्रथम स्वार्थ-त्याग करना पड़ता था वह इस लोकप्रियता का ही होता था! Ye build sepulchres into those whom your fathers stoned death! ऐसा जीसस ने अपनी पीढ़ी के बहुसंख्य विरोधियों को फटकारा, उसका अर्थ यही है। उसका कारण भी यही। आज जीसस, बुद्ध, मोहम्मद करोड़ों लोगों के देवदूत और देव बन गए हैं। परंतु उन सुधारकों के समय के स्वयं की पीढ़ी के लोगों ने जीसस की हत्या की, बुद्ध पर हत्यारे भेजे, मोहम्मद को भागने के लिए पृथ्वी कम पड़ गई। ये लोग संघर्ष में जख्मी हुए, दाँत गिर गए, पाखंडी कहकर भगा दिए गए। तब आप लोगों में गड़बड़ी फैलाकर अशांति फैलाते हैं, लोगों की अप्रियता का पात्र बनते, समाज को नेस्तानाबूद करते हैं, धर्मभावनाओं को दुखाते हैं, बहुमत को लताड़ते हैं, बुद्धिभेद करते हैं आदि समस्त आक्षेप सुधार के आक्षेप न होते हुए उसके अपरिहार्य परिणाम हैं। प्रत्येक सुधारक को उनका मुकाबला करना पड़ा। क्योंकि वह सुधार यानी किसी दूषित रूढ़ि का नाश! रूढ़ि अर्थात् बहुसंख्य लोगों द्वारा विकट निष्ठा से स्वीकारी हुई पद्धति। इसलिए उसका नाश करने का प्रयास करनेवाले सुधार का प्रतिकार बहुसंख्य लोग करेंगे ही। उसे लोकप्रियता का त्याग करना ही होगा। जिस रूढ़ि को करोड़ों लोग मानते हों उसे तोड़नेवाला सुधारक सबसे अधिक अप्रिय होता है। परंतु वह भय उस व्यक्ति को होगा जो लोगों की हाँजी-हाँजी करके जितना जोड़ सकता है उतना ही करना उचित समझता है। वह डर से काँपते हुए धार्मिक या सामाजिक क्रांति का मार्ग छोड़कर, बहुसंख्यों की अराधना करता है और लोकप्रियता प्राप्त करना ही उसका व्यवसाय बन जाता है। परंतु सच्चा सामाजिक या धार्मिक सुधारक जो हो गया और जिसको होना है उसका लोकहित ही ध्येय था या होना चाहिए। हमारे लिए मन में लोकप्रियता या लोकहित का व्यामोह न रहे इसलिए हमारे एक श्लोक के एक सूत्र से हम अपने मन को

उपदेश देते रहते हैं कि—

'वरं जनहितं ध्येयं केवला न जनस्तुतिः।' जनस्तुति कौन नहीं चाहता? कालिदास ने 'कुमारसंभव' नाटक में वैराग्य मुकुटमणि भगवान् महादेव के संबंध में यही कहा है कि 'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये' जनस्तुति प्रिय है, वांछनीय है। परंतु जनहित की बलि देकर प्राप्त होनेवाली जनस्तुति संपूर्णतः त्याज्य है। उस मोह से सामाजिक या धार्मिक सुधारकों को विशेष रूप से दूर रहना चाहिए, क्योंकि राजनीतिक क्षेत्र में जो लोग जनहित में झगड़ते हैं उन्हें काफी कुछ जनस्तुति सहजता से प्राप्त होती है। बहुजन समाज का उस राजनीतिक क्षेत्र में दूसरों से कुछ लाभांश प्राप्त करना होता है। वह दिलाने के लिए जो कष्ट करता है वह सहजता से प्रिय हो जाता है। यह भी तब तक होता है जब तक बहुजनों की चमड़ी को हानि नहीं पहुँचती है। अन्यथा वैसे जुझारू नेता पर भी दोषारोपण करके उसको भगाने में बहुजन समाज पीछे नहीं रहता। परंतु सामाजिक या धार्मिक सुधार मूल रूप से रूढ़ियों के विरुद्ध अर्थात् बहुजनों के विरुद्ध होने से उन्हें धार्मिक सुधारक शब्द अप्रिय होता है। इसलिए जनहितार्थ संघर्ष करते हुए उसे जनस्तुति प्राप्त नहीं हो सकती। इसके विपरीत कभी-कभी तो लोकप्रियता गँवाकर जिनके हितार्थ वे संघर्ष करते हैं उनके ही छल के लिए उसी अपराध के लिए बलि होना पड़ता है।

लोकमान्य के संबंध में एक भ्रमपूर्ण मान्यता

जिस लोकमान्य संप्रदाय के हम अभिमानी हैं उस संप्रदाय के हमारे अनेक हितचिंतक और पूर्व सहयोगी हमने जब से जातिभेद उन्मूलन का आंदोलन चलाया है तब से कुछ नाराज हैं। ममता से, परंतु क्रोधित होकर हमें उपदेश देते हैं कि ऐसे धार्मिक या सामाजिक सुधार करने हों तो धीरे-धीरे लोगों की धर्म-भावनाओं को न दुखाते हुए ही करने चाहिए। हमारे सनातनी विरोधी हमपर वार करने के लिए जिन वाक्यों का उपयोग करते हैं, तिलक संप्रदायी लोग भी हमें समझाने के लिए उन्हीं वाक्यों का उपयोग करते हैं—''न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगीनाम्!'' और ''यस्मान्नोद्विजते लोकः लोकान्नो द्विजते च यः।'' वे कहते हैं—लोकमान्य को देखो! उन्होंने लोगों को कभी दुखी किया क्या? नहीं! इसलिए वे कितना बड़ा लोकसंग्रह कर पाए। धर्मभावना को धक्का न लगाते हुए, समाज में अंतःकलह न कराते हुए वे समाज को आगे ले गए और लोक मान्यता प्राप्त की। आप तो अपनी पूर्व पुण्याई से प्राप्त लोकप्रियता को बेकार के कामों में गँवा रहे हैं। समाज को अपने प्यार से धीरे-धीरे आगे ले जाना चाहिए। फिर उनकी धार्मिक भावनाओं पर

चाबुक चलाकर उन्हें चिढ़ाना और भड़काना क्या उचित है? गाय की निंदा, चमार, हरिजन के घर जाकर भोजन करने पर जैसा बहुत बड़ा कृत्य किया है इस शान से समाचारपत्रों में नाम छापकर प्रसिद्धि प्राप्त करना ठीक नहीं। लोकमान्य जिस कुशलता से समाज को आगे ले जाते थे वैसी कुशलता न हो तो चुप बैठिए। ये काम आपके वश का नहीं। इस काम के लिए लोकमान्य के समान धैर्यशाली पुरुष चाहिए। 'जाति तोड़ो' ऐसा वे कहते तो लोग एक दिन में जाति तोड़ते। उनका प्रभाव ही ऐसा था। उन्होंने एक बार अस्पृश्यता कैसे समाप्त कर दी, जानते हैं? अस्पृश्यों को गणेश मूर्ति के विसर्जन हेतु कोई साथ नहीं लेता था। उन्होंने अपनी गणेश मूर्ति के पास अस्पृश्यों का गणपति बैठा लिया और उसका बड़ा प्रचार भी नहीं किया। समाज सुधार इस प्रकार लोकमान्य के समान करना चाहिए फिर समाज सुधार भी लोकमान्य होता है।

आज लोकमान्य होते तो उन्होंने अस्पृश्यता निवारण, जातिभेद निर्मूलन जैसी सामाजिक और धार्मिक समस्याएँ किस प्रकार हल की होतीं—इसकी चर्चा पहेली हल करने जैसी विनोदी होगी, परंतु किसी निश्चित सिद्धांत के समान मार्गदर्शक होना संभव नहीं। इतना स्पष्ट है कि यदि ऐसा महापुरुष समाज सुधार का प्रश्न उठाता तो उसे बड़ी कुशलता से हल भी करता। उनमें कुशलता और धीरता थी। परंतु कारण कुछ भी हो, उन्होंने अपने जीवन में, मुख्य रूप से राजनीतिक क्षेत्र में, संघर्ष किया। उन्हें उस स्थिति में जो-जो जनहितकारक लगा वह सब उन्होंने किया और वह भी इतना प्रचंड है कि इस अपने हिंदू राष्ट्र पर उनके जो उपकार हुए उन्हें हम जन्म-जन्म भी लौटा नहीं सकते हैं। परंतु 'मृत भैंस को मन भर दूध' इस कहावत के अनुसार लोकमान्य के प्रकरण में केवल बातें करके लोगों का दिशाभ्रम करने का क्या मतलब है? इस प्रकार की झूठी बातों से राष्ट्रकार्य की दिशाभूल होती है। सामाजिक और धार्मिक सुधार के कार्य में लोकमान्य ने कुछ विशेष कारणों से अपने को समर्पित नहीं किया था। इसलिए ऐसी समस्याओं का हल उन्होंने कैसे निकाला होता, इसपर अपनी बुद्धि को अनुमानित करना व्यर्थ है। परंतु जब-जब लोकमान्य ने सौम्यता से भी समाज की धार्मिक रूढ़ियों को हाथ लगाया तब-तब लोकमान्य को भी हानि उठानी पड़ी। यह नकारा नहीं जा सकता। सामाजिक और धार्मिक सुधार की बात की तो प्रचलित रूढ़ियों की अर्थात् बहुसंख्यकों की धर्मभावना किसी भी प्रकार दुखाई जा सकती है, अतएव सुधारक रूढ़िवादी बहुजनों की लोकप्रियता गँवा बैठेगा ही। यह हमारा कथन तिलकजी के सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों में किस प्रकार अनुभव में आया यह बतलाने के लिए कुछ बातों की याद दिलाना काफी है।

सत्य के प्रचारार्थ और राष्ट्रहित के साधनार्थ लोकमान्य तिलकजी रूढ़ 'धर्मभावना' को दुखाने में पीछे नहीं हटे

उदाहरण हेतु प्रसिद्ध चाय प्रकरण को लीजिए। अंत:स्थ रूप से तिलक ने ईसाइयों की चाय पी थी। परंतु वह प्रकरण बाद में सार्वजनिक हो गया। उसके साथ ही सारा सनातनी समाज क्रोधित हुआ। तिलकजी का बहिष्कार किया गया। उन्हें प्रायश्चित्त करने के लिए कहा गया। ईसाई के साथ चाय पीने के लिए प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नहीं—यह तिलकजी ने कहा और उसे अंत तक नहीं छोड़ा। उन्होंने प्रायश्चित्त नहीं किया। दूसरा अवसर है—वैदिक संशोधन का। 'उत्तर ध्रुव से आर्य आए' और 'वेदकाल' ऐसे दो ग्रंथ उन्होंने लिखे। उन दोनों ग्रंथों में वेदों का ऐतिहासिक दृष्टि से अर्थ लगाया है। मानव ने ही वे सूक्त लिखे हैं। वे देश-काल-परिस्थिति की सीमाओं में बँधे हैं। ये दोनों बातें निर्विवाद सत्य मान करके उनका उन्होंने समर्थन किया है। अर्थात् वेद सनातनी अर्थ में अपौरुषेय नहीं या जगत् के आरंभ में एकाएक ईश्वर उच्छ्वासितों के साथ प्रकट नहीं हुए, इसको सत्य माना गया है। उनके इन विचारों से हजारों सनातनी विद्वानों की धर्म-भावनाओं को ठेस पहुँची। आर्य लोग भारत में ही उत्पन्न हुए, आर्यावर्त ही आर्यों का और वेदों का मूल स्थान है—इस धार्मिक भावना को अज्ञान माना और अज्ञानियों को मनाते रहने के लिए उस अज्ञ भावना का तिलक समर्थन करते रहे। यह भी ध्यान में रखना होगा कि आर्यों का मूल स्थान कौन सा है यह कोई ज्वलंत प्रश्न नहीं था, पर केवल जो सत्य उन्होंने पाया उसे प्रकट करने के लिए ऐसे दूसरे दरजे के प्रश्न पर भी उन्होंने सनातनियों की धार्मिक भावनाओं—अति प्रबल और मूलभूत ऐसा वेदों का अपौरुषेयत्व और आर्यावर्त ही आर्यों का मूल स्थान है—इन दोनों भावनाओं के जड़ पर ही तर्क की कुल्हाड़ी चलाने में वे पीछे नहीं हटे। तीसरी बात पंचांगवाद की। इस प्रश्न में तिलकजी ने लोकमत की और सनातनी संप्रदायियों की धर्म-भावनाएँ तीव्रता से दुखाई हैं और समाज में इतनी गड़बड़ी पैदा की है कि घर-घर में फूट पड़ी है और आज बीस वर्षों के बाद भी वह घाव भरा नहीं है। इसके विपरीत वह घाव बढ़ता ही जा रहा है। क्योंकि 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्' इन वचनों का सनातनी अर्थ तिलक भी नहीं जानते थे। वे भी राष्ट्रहितार्थ या सत्यस्थापनार्थ अज्ञ जनों का 'बुद्धिभेद' करना कर्तव्य समझते थे। स्वयं वे अज्ञों के समान 'सर्वकर्माणि' का आचरण नहीं करते थे यह सिद्ध करने के लिए इनका पंचांग सुधार से अधिक निर्विवाद साक्ष्य देने की आवश्यकता ही शेष नहीं रहती है। पर आश्चर्य यह कि जो

'केसरी' आदि समाचारपत्र तिलक पंचांग का लगातार समर्थन करते हैं और उसी का पालन करते हैं, और इस प्रकार बहुसंख्य सनातनी हिंदू समाज की धर्म-भावनाओं को प्रतिदिन, प्रतिक्षण दुखाते हैं वे करोड़ों लोगों की एकादशी के दिन मुट्ठी भर लोगों की द्वादशी मानकर भरपूर खाते हैं। बहुसंख्य लोगों के पौष मास में विवाह कराते हैं। उनके श्रावण मास में अपना पितृपक्ष घुसेड़ते हैं। इस प्रकार के लोकमान्य-संप्रदायी समाचारपत्रवाले और स्वर्णमध्य साधनेवाले सज्जन, रोटीबंदी के समान अत्यंत हिंदू हितघातक दूषित रूढ़ि को जाति-उच्छेदक पक्ष तोड़ना चाहता है तो उन्हें सलाह देते हैं कि 'क्यों इस झमेले में पड़ते हो? समाज की धर्म-भावनाओं को क्यों दुखाते हो? लोकमान्य ने कभी किसी का बुद्धिभेद किया है क्या? लोकसंग्रही पुरुषों को इन बातों को ध्यान में रखना चाहिए। आप सहभोज में जाकर भरपेट खा आइए, परंतु भोजन किया ऐसा समाचार प्रकाशित करा बहुजन समाज को क्यों दुखाते हो?'

स्थानाभाव के कारण अब लोकमान्य का केवल 'गीता रहस्य' का ही उदाहरण दिया जा सकता है। आद्य शंकराचार्य के गीतार्थ के विरोधी विचार प्रकट करके 'कर्मयोगी विशिष्यते' यह बताने में सत्य और जनहित घातक कर्तव्यनिष्ठा से करने में लोकमान्य नहीं हटे। इस कारण उन्होंने भारत में उपस्थित सभी शंकराचार्य के पीठों की 'धर्म-भावनाएँ' दुखाईं। लाखों ज्ञानमार्गियों से वितंडावाद शुरू किया। करोड़ों शंकर मतानुयायियों का 'बुद्धिभेद' किया। मानो शंकराचार्य से अधिक बुद्धिमान् होने का दावा किया।

यद्यपि लोकमान्य ने कुछ चुने हुए अवसरों पर और बिलकुल दूसरी श्रेणी के सामाजिक या धार्मिक सुधार हाथ में लिये थे फिर भी उन अवसरों से बहुजन समाज में उनकी 'लोकप्रियता' को जबरदस्त धक्का लगा। सुधार यानी अल्पमत, बहुमत का विरोध उसे होगा ही। इस सत्य को उनकी लोकमान्यता भी अपवाद नहीं हुई। रूढ़िप्रिय बहुसंख्यक ने उनके समान अधिकारी पुरुष की आज्ञाओं का भी पालन नहीं किया। आज भी उनका पंचांग बहुसंख्य समाज नहीं मानता—पुरोहित तो उसे लताड़ते हैं। चाय-पान प्रकरण में उन्हें समाज द्वारा बहिष्कार सहना पड़ा। पुणे में उन्हें प्रत्यक्ष बहुजनों के विरोध की बलि होना पड़ा। इस संबंध में जानकारी केलकर कृत तिलक चरित्र में 'तिलक और ग्रामण्य' भाग १३ में दी गई है। उसे जिज्ञासु लोगों को पढ़ना चाहिए। उसमें कुछ वाक्य निम्नानुसार हैं—(कृष्ण पक्ष पर बहिष्कार होने पर उस मुट्ठी भर कृष्ण पक्ष के चाय-पान किए हुए रानडे, तिलक आदि गृहस्थों के उन शुक्ल पक्षियों के सनातनी बहुसंख्य समाज के बिना समय-समय पर अड़ने लगा।) किसी-किसी का तो कुछ भी न होता था। उनके परिवार के

लोगों को विशेष कष्ट सहने पड़े। उनकी महिलाओं को विशेष दंड भुगतना पड़ता था। प्रत्येक त्योहार के समय वे असंतुष्ट होती थीं। आखों में आँसू आ जाते थे। बाहर गाँव में ब्याही उनकी लड़कियाँ दो-दो वर्ष तक मायके नहीं आ सकीं, क्योंकि उनकी ससुराल के सनातनी लोग उन्हें मायके भेजने के लिए तैयार नहीं होते थे। स्वयं तिलकजी को अपने कुछ लोगों के सहवास से, भोज से विमुख होना पड़ा। विशेष कठिनाई उपयन, विवाह में होती थी। उनके ज्येष्ठ पुत्र का व्रतबंध हुआ तो उन्हें ब्राह्मण (उपाध्याय) तक नहीं मिला। किसी प्रकार ब्राह्मण मिल गया तो खाना बनाने के लिए आचारी (रसोइया) मिलना कठिन हो गया था। कभी-कभी तिलक परिवार की महिलाओं को अड़ोस-पड़ोस की महिलाओं से कुछ व्यंजन तैयार करवाने पड़े और एक रईस मित्र ने उन्हें रसोइया दिया। तब जाकर उनके यहाँ उपनयन और विवाह हो सके। बहिष्कार के कारण तिलकजी ने घर की श्रावणी पोथी पढ़कर कर ली। लड़की की शादी के समय अक्षत की दिक्कत आई। कस्बा के गणेश मंदिर में तिलकजी को नहीं आने दिया तो क्या करेंगे? तब उन्होंने उपाध्याय को अकेले जाकर गणेशजी का अक्षत देने के लिए कहा। श्राद्ध पक्षों में अनेक वर्षों तक ब्राह्मण न मिलने के कारण तिलकजी ने स्वयं श्राद्ध करा लिया।

लोकमान्य के संबंध की उपर्युक्त चर्चा का हमारा हेतु उनके द्वारा किए गए सामाजिक और धार्मिक सुधार की समालोचना करना भी नहीं है, फिर आलोचना की बात तो दूर! उस राष्ट्रपुरुष को प्राप्त स्थिति में राष्ट्रहित में जो आवश्यक वह यथामति, यथाशक्ति करने के लिए हम मुक्त हैं। हमारे लोकमान्य-संप्रदायी हितचिंतकों का इस प्रकरण में जो भ्रम है और 'धर्मभावना' को नहीं दुखाते हुए, 'लोकप्रियता' न गँवाते हुए ऐसी सुधारणाओं के प्रकरण में, 'तिलक ऐसा कर लेते, वैसा कर लेते, ऐसा आप करो!' ऐसा जो कहते हैं उनके भ्रम दूर करने के लिए यह चर्चा की गई है।

हम सुधारकों को यह ज्ञात हो चुका है कि हमारे हिंदू राष्ट्र के गले में फाँस बननेवाले इस पंडिताई जातिभेद का नाश किए बिना हिंदू राष्ट्र का अभ्युत्थान होना संभव नहीं। हम बुद्धिनिष्ठ, विज्ञानवादी लोगों ने सभी प्रकार की धर्मांधता और लुच्चेपन से, चाहे वह वैदिक हो बाइबिलीय हो या कुरानीय हो, समाज को मुक्त करना अपना पवित्र धर्मकृत्य माना है। इसमें ही मनुष्य जाति का कल्याण है। इस सत्य का प्रचार करने में और उसे व्यवहार में लाने में हम हिंदू संगठक, सुधारक किसी की धर्म-भावनाएँ नहीं दुखाते हैं। परंतु अपधर्म भावनाओं को ठेस लगती है तो उपाय नहीं। हम किसी का बुद्धिभेद नहीं करते, दुर्बुद्धिभेद करना ही चाहिए। हमारे जो मत आपको गलत लगें उनके विरोध में आप भी प्रचार कर सकते हैं। हम

नहीं कहेंगे कि हमारी धर्म-भावनाएँ मत दुखाओ। इसके विपरीत, हम तो कहते हैं कि सुधारकों को यदि सुधार करने का अधिकार है तो समाज को भी सुधारकों का बहिष्कार करने का अधिकार है। जो सुधारक बहिष्कार को सह लेगा वही सच्चा सुधारक है।

सुधारकों को हाथी के पैरों तले कुचला होता

हमारे कुछ शीघ्रकोपी सनातनी बंधु क्रोध के आवेश में परिषदों में और वैयक्तिक संवाद में भी कहते हैं कि 'परराज्य है, अत: बहिष्कार का कोई महत्त्व नहीं। अपना सनातनी राज नहीं। इसलिए हरिजनों के साथ भोजन करनेवाले जात-पाँत तोड़नेवाले, धर्मनिंदक और पाखंडी लोगों की चल पड़ी है। यदि आज पेशवाई का राज होता तो ऐसे लोगों को हाथी के पैरों से बाँधकर मृत्यु का प्रायश्चित्त दंड दिया होता।' क्षुद्र लोगों की कल्पनाएँ भी क्षुद्र होंगी। जैसे कुम्हार की कल्पना में गधे-ही-गधे होंगे। गधों के मनोराज्य में घूरे-ही-घूरे! इसी प्रकार आज की इस भाग्यहीन पीढ़ी के मनोराज्य में सुधारकों को हाथी के पैरों तले कुचलने के सिवाय और सुंदर दृश्य क्या हो सकता है?

यदि आज पेशवाई होती तो सुधारकों को हाथी के पैरों तले कुचल देने की सुविधा उपलब्ध होती। बुरा सोचने वाले इन लोगों से और क्या अपेक्षा हो सकती है।

परंतु तर्क करना हो तो इस अभागी आशा को जैसा लगता है वैसा पेशवाई पर दूसरे बाजीराव के बाद सब दूसरे बाजीराव ही आते रहे होते ऐसा किस आधार पर माना जाए? और शाहू महाराज के बाद सभी दुर्बल छत्रपति सातारा की गद्दी पर बैठते ऐसा भी मानने का क्या आधार? आज यदि पेशवाई होती तो उसपर नए-नए पहले बाजीराव नहीं आते क्या? रायगढ़ में दूसरा कोई प्रतिशिवाजी का अवतरण नहीं होता क्या? 'यदि पेशवाई होती?' यह वाक्य कहते ही मेरी आँखों के सामने कैसे-कैसे अद्भुत दृश्य आने लगते हैं—कि क्या कहूँ? मैं सोचता हूँ उज्जयिनी अखिल हिंदू साम्राज्य की राजधानी बनाई जाती, उसपर अप्रतिरथ कुंडलिनी-कृपाणांकित हिंदू ध्वज लहरा रहा होता। नए-नए भाऊ साहेब पेशवा, हरिसिंह नलवे, प्रति चंद्रगुप्त, प्रति विक्रमादित्य लाखों सैनिकों के दल लेकर हिंदू राष्ट्र को, जिन्होंने अपमानित किया, छला, उनपर हमला करने निकले हैं। उनको बलहीन करते हुए, बदला लेकर कोई श्मशान पहुँच गया है, कोई लंदन तो कोई पेरिस! सर्वत्र हिंदू खड्ग की ऐसी धाक बैठी है कि हिंदू साम्राज्य की ओर आँख उठाकर देखने की किसी की हिम्मत ही नहीं हो! अद्यावत् यंत्र और आधुनिक तंत्र, हिंदू

विमानों के समूह आकाश में उड़ रहे हैं। हिंदुओं का प्रचंड रणवाद्य पूर्व समुद्र में और पश्चिम समुद्र में (अरबी समुद्र नाम बदलकर) प्रचंड जल तोपों का खड़ा पहरा दे रहे हैं, हिंदू संशोधकों के वैमानिक पथक उत्तर ध्रुव पर तथा दक्षिण ध्रुव पर नए भूभाग खोजकर हिंदू ध्वज फहरा रहे हैं। ज्ञान, कला, वाणिज्य, विज्ञान, वैद्यक आदि हरेक कर्तव्य क्षेत्र में सैकड़ों हिंदू स्पर्धक विश्व उच्चांक प्राप्त कर रहे हैं। लंदन, मास्को, पेरिस, वाशिंगटन आदि राष्ट्रों के राजप्रतिनिधियों की भीड़ हिंदू साम्राज्य की बलशाली राजधानी के, उस उज्जयिनी के महाद्वार के पास, हिंदू छत्रपतियों को अपने-अपने उपहार अर्पित करने हेतु प्रतीक्षा कर रहे हैं। यदि आज पेशवाई होती तो ऐसा होता ही कैसे मान सकते हैं? यदि मनोराज्य ही करना है तो इस प्रकार करें—यदि पेशवाई होती तो कुछ अंशों में लगभग इसी प्रकार के मनोराज्य देखती और पहले बाजीराव की पेशवाई में हम सुधारकों को हाथी के पैरों तले कुचलने की बजाय हाथी की पीठ पर रखी हुई अंबारी में ही बैठाया गया होता।

क्योंकि प्रथम बाजीराव या शिवराय की सहानुभूति की टिप्पणी किसी सामान्य भटजी या चंद्रराव मोरे की टिप्पणी से अधिक हम संगठित सुधारकों की टिप्पणी के अधिक समान होती। ये दोनों अपने समय के महावीर थे और 'सुधारक' थे। कारण, उन दोनों के ही धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों के विरोध में होनेवाले व्यवहार को सनातनियों ने तो बहिष्कार योग्य माना होता। शिवाजी ने स्वतंत्र हिंदुस्थान का स्थापनकर्ता के रूप में क्षत्रियत्व पर अपना अधिकार जताया और वेदोक्त राज्याभिषेक हो इसके लिए 'शास्त्र' के विरोध में हठ किया। इसलिए उनपर मुसलमानी बादशाह को सुबह-शाम कुर्निसात करनेवाले मुरदा मराठे सरदार और पैठण के पक्वान्नपुष्ट ब्राह्मण क्रोधित हुए थे। मुसलमानों द्वारा भ्रष्ट किए गए हिंदुओं को शुद्ध करने का पातक करके शिवाजी ने सनातनी शास्त्र का अपमान किया वह अलग। पहले बाजीराव का पानी तो एकदम बेछूट था। हिंदू कन्याओं को मुसलमानों के घर भेजने का परंपरागत सनातन धर्म छोड़कर उनके द्वारा मुसलमान लड़कियों को हिंदू घरों में लाया गया। हिंदुओं को हिंदू स्त्री से प्राप्त व्यभिचारी संतानें मुसलमानों को दे देने से शुद्ध हो जाती हैं यह सनातन शास्त्र! परंतु बाजीराव ने मुसलमान स्त्री को हिंदू से हुई मस्तानी की चित्तपावन संतान को जनेऊ पहनाकर शुद्ध कर लेने का आग्रह किया तो इस पाप के लिए पेशवाओं के घर पर सनातनियों ने बहिष्कार किया। इस प्रकार की पेशवाई होती तो हाथी के पैरों तले कौन गया होता यह हमारे सनातनी भटजी, शेठजी को स्वयं से पूछना चाहिए? वेदोक्त को अनुकूल करके कुर्तकोटि के ही शंकराचार्य के पद पर बैठने की संभावना अधिक थी। 'किर्लोस्कर' की तोपें, बेडरी आदि शस्त्रास्त्रों के भव्य कारखानों का 'क्रप'

बनाया होता। धर्मभास्कर मसूरकरजी को उनके शुद्धिकार्य के लिए सोने की पालकी में बैठाकर शोभायात्रा निकालकर गोमंतक का धर्मपीठाधीश्वर नियुक्त किया होता। हमें हाथी के पैरों तले न कुचलते हुए किसी और पुण्य के लिए नहीं तो भी भाषा शुद्धि के कार्य हेतु रघुनाथ पंडितजी को सहयोग देने के लिए शिवाजी महाराज ने रख लिया होता।

हमारे सनातन बंधुओं को यह बात भूलना नहीं चाहिए कि परराज्य की अपेक्षा स्वराज्य में सामाजिक तथा धार्मिक सुधार अधिक सुलभता से और तेज गति से हो जाते हैं। जापान को स्वराज्य मिलते ही वह जाग्रत् हो गया और केवल पचास वर्षों में ही आधुनिक बनकर यूरोप की बराबरी करने लगा। हिंदू पदपादशाही के धुरंधर भी यूरोप की युक्तियाँ सीखने लगे थे। मराठों ने भी यूरोप के समान सैन्य संचालन और तोपों के कारखाने शुरू कर दिए थे। मुद्रण की खोज की ओर नाना फड़नवीस के समान चतुर पुरुष का ध्यान आकर्षित हो गया था। 'गीता' के लकड़ी के अक्षर नाना ने तैयार कराए थे। काशी में पुल बनाना था और पानी नहीं समाप्त हो रहा था तो अनुष्ठान शुरू हुआ था। यह सुनकर नाना ने अनुष्ठान बंद करवाकर यूरोप की तकनीक उपयोग में लाकर पानी सोखा। दैवी अनुष्ठान से तकनीक अच्छी, यह ज्ञात हो गया था। स्वराज्य होता तो इसी प्रकार हिंदुस्थान शत गुना अधिक गति से यंत्रयुग में, विज्ञान युग में प्रवेश करता यही अधिक संभव होता। उस शीघ्रता से वह सुधारक भी बन जाता। क्योंकि यंत्र और विज्ञान के पीछे-पीछे सामाजिक सुधार को भी दौड़ते हुए दास के समान आना ही चाहिए। अभी का प्रत्यक्ष प्रमाण ही देखिए। जो थोड़ा अधूरा स्वराज्य बचा है वही सुधार शीघ्रता से हुआ या नहीं? बड़ौदा के सयाजी राव ने राज्य की भाषा हिंदी कर दी। अनेक प्रगत नियम राज्य में शुरू करके अहितकारक और दूषित धार्मिक रूढ़ियों को दंडनीय माना। 'अस्पृश्य शब्द को मेरे राज्य की सीमा से बाहर कर देना चाहिए,' इस प्रकार का आदेश कोल्हापुर के छत्रपति ने किया था। ऐसा ही कोई धर्मसुधारक महापुरुष साम्राज्य का अधिपति नहीं होता—ऐसा किस आधार पर माना जाए? और हम स्वयं ही पेशवा या नाना फड़नवीस नहीं हुए होते यह किस आधार पर?

तब बवा मूँछ होती तो क्या होता, इस वाद में न पड़ते हुए गंगभट और 'हम जैसे हैं वैसे हैं' ऐसा समझकर जो तर्क करना हो वह करना ही उचित होगा। □

हमारी धर्मभावना को मत दुखाओ

कुछ दिन पूर्व लोणी गाँव में एक सनातन धर्म-परिषद् हुई थी, तब उसमें एक प्रस्ताव पारित हुआ कि अस्पृश्यता निवारण, जाति-उन्मूलन, स्पृश्य-अस्पृश्यों के सहभोज, विवाह पद्धति का उच्चाटन आदि अधर्म्य और गर्हणीय सनातन वैदिक संस्कृति के उच्छेदन का कार्य 'कांग्रेस' और हिंदू महासभा के कुछ नेताओं ने चलाया हुआ है जिसका सनातन धर्म परिषद् विरोध करती है; परंतु इस प्रस्ताव से भी परिषद् के चालकों को संतोष नहीं मिला। उन्होंने एक अन्य प्रस्ताव यह रखा कि 'स्वेच्छाचार प्रवर्तक' और धर्मभावना विघातक, वाङ्मय द्वार समाज का बुद्धिभेद करनेवाले बैरिस्टरों, सावरकर आदि लेखक और 'किर्लोस्कर' मासिक पत्र का भी यह सभा तीव्र निषेध करती है।

हरेक से उसके लेख के संबंध में बोलो

हिंदूसभा या राष्ट्रसभा के नेता हों, सभी एक ही प्रकार के विचार एक ही तरह से नहीं बताते। इसी प्रकार 'किर्लोस्कर' के समान प्रसिद्ध और विविध विषयों पर नामांकित लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित करनेवाली मासिक पत्रिका के लेखक एक ही प्रकार के विचार प्रतिपादित नहीं करते। जो लेखक 'जाति-उच्छेदन' जैसे किसी विषय पर एकाध लेख लिखते हैं वे इसी अंक में प्रकाशित अन्य विषयों के लेखों के विचारों से सहमत नहीं होते हैं। संपादक अनेक प्रसंगों में अपने विचार-प्रवर्तक नियतकालिक में महत्त्वपूर्ण विषयों पर पूर्ववत् और उत्तर पक्ष दोनों प्रकार के विद्वानों के लेख जान-बूझकर प्रकाशित करते हैं। ऐसे प्रकरण में जिसका लेख जिस विषय पर होगा उसे उस विषय के लिए ही उत्तरदायी मानना चाहिए। किसी भी अंक के सभी लेखों का दायित्व सामूहिक रीति से सबपर लादना और इनमें से किसी एक का विचार अन्य सभी लेखकों का और संपादक का भी विचार मानना हास्यास्पद है। परंतु यह महाभूल भी यह प्रस्ताव करनेवाले सांख्य वेदांततीर्थ

मीमांसा मार्तंडादि की परिषद् की शास्त्री मंडली के ध्यान में क्यों नहीं आई? क्वचित् ऐसा भी होगा कि यह परिषद् केवल श्रद्धानिष्ठ लोगों की होने के कारण बुद्धि उसका सदस्य नहीं बन सकी।

धर्मभावना-विघातक और बुद्धिभेदक का अर्थ?

इस परिषद् में हमारे और 'किर्लोस्कर' के संपादक के निषेध का जो स्वतंत्र प्रस्ताव किया गया, हमारे नामोल्लेख के साथ, उसमें हमारे सनातनी बंधुओं ने उपर्युक्त दो आरोप हमारे विरोध में लगाए हैं। हमने अपने इस लेख द्वारा अपने हिंदू संगठनार्थ और उद्धारार्थ जिन सुधारों को बताया है, उनकी आवश्यकता और उपयुक्तता उन्हें पटाने का प्रयास ममत्व-बुद्धि से करने की हमारी उत्कट इच्छा सदैव रहने से, इन सुधारों के संबंध में हमारे धर्मबंधुओं के आरोपों का निराकरण जितनी बार आवश्यक हो उतनी बार, बार-बार करना हमारा कर्तव्य है और उसमें भी हमारे 'लेखों के कारण 'धर्म-भावनाएँ दुखती हैं' और 'सामान्य जनों का बुद्धिभेद होता है इसलिए ऐसा क्यों करना चाहिए' इस प्रकार के सवाल हिंदू संगठन से संबंधित लोग सहयोग और सहानुभूति रखनेवाले अनेक मध्यम प्रवृत्ति के लोग और हितचिंतक भी बार-बार पूछते हैं। अतएव 'किर्लोस्कर' मासिक में लेख लिखकर स्पष्टीकरण करने के बाद भी फिर से इस लेख में हम आरोपों का सविस्तार उत्तर दे रहे हैं। इससे यह स्पष्ट होगा कि हम न तो धर्म-भावनाओं को ठेस पहुँचाते हैं और न ही किसी का बुद्धिभेद करते हैं। अपने हिंदू राष्ट्र के और मनुष्य मात्र के उद्धार हेतु जो आवश्यक कर्तव्य और प्रत्यक्ष प्रयोग से अबाधित होकर बने रहनेवाले सत्य का ही प्रचार करते हैं वह सद्धर्म को कभी हानिकारक और दुःखदायी नहीं होगा। यदि कुछ होता है तो दुर्बुद्धिभेद होता है, अपधर्म-भावनाओं को ठेस पहुँचती है। हम बुद्धिभेद नहीं करते और धर्म-भावनाओं को भी चोट नहीं पहुँचाते।

अपने हिंदू राष्ट्र का उद्धार हम सबका आज का ध्येय है

अपने हिंदू राष्ट्र का उद्धार ही वाद करते समय हम सबको विस्मरण हो जाता है कि हम सबमें कितने ही मतभेद हों, हम सबका ध्येय एक ही है। हम सबको प्राणों से भी अधिक प्रिय स्वदेश और राष्ट्र को आज की पतन अवस्था से उद्धार कर उसे जगत् के किसी भी राष्ट्र की तुलना में थोड़ी भी कमी महसूस न हो इसलिए उसे संगठित, सशक्त और प्रगतिशील करना है। मानवता के लिए संघर्ष करने की पात्रता और बल उसमें आ जाए यही हमारे हिंदू संगठन पक्ष का उद्देश्य

है। इस हिंदू राष्ट्र के और हिंदू धर्म के परिमाणार्थ और संस्थापनार्थ हमारे सनातनी पक्ष का भी अंत:करण दु:खी होना ही चाहिए। हिंदू राष्ट्र के एकनिष्ठ अनुयायी, उनमें शक्ति और युक्ति हो या न हो, परंतु हिंदुत्व की विजयाकांक्षा जिनके हृदय में है ऐसे लोग हमारी वेदशालाओं, शस्त्रशालाओं और सनातन मंडलों में मिल सकते हैं। हम सब एक मातृभूमि की संतानें हैं। एक राष्ट्र की, एक धर्म की, एक संस्कृति की संतानें हैं। सनातनी या संगठक हिंदू सब आपस में धर्मबंधु हैं, राष्ट्रबंधु हैं।

ऐसी हमारी भावना होने से हम सनातन बांधवों के संबंध में जो कुछ लिखेंगे उन्हें स्वकीय समझकर बंधु भाव से लिखेंगे, बैरभाव से नहीं। इतना ही नहीं अपितु हिंदू राष्ट्र की उन्नति के लिए आवश्यक सुधार करते समय क्रोधी या मूर्ख सनातनी यदि हमें गलत बातें बोलते और परेशान करते हैं तो भी उनके संबंध में हमारी बंधुभावना थोड़ी भी कम नहीं होगी या उनकी स्वधर्मनिष्ठा के संबंध में हमारा आदर भी कम नहीं होगा। हर पक्ष में कुछ चिड़चिड़े, मूर्ख, मिथ्याचारी होते ही हैं। सनातनी लोगों में कुछ पाखंडी हैं, तो क्या संगठक या सुधारक पक्ष में नहीं? हमारे किसी भी लेख में पक्षपात न हो, ऐसा हम यथासंभव कोशिश करते हैं। हमारा हेतु, हमारे द्वारा प्रतिपादित सुधार अपने हिंदू राष्ट्र की उन्नति के लिए कितने अनिवार्य और उपकारक हैं यह हमारे सनातनी बंधुओं को समझाकर उनका मत परिवर्तन करना और इसीलिए उन्होंने हमारा कितना भी निषेध किया तो भी हम शांति और संयम बनाए रखकर उन्हें समझाने का प्रयत्न बार-बार करेंगे, हमें विश्वास है, आज तक के अनुभव से, उनमें से अधिकांश प्रामाणिक लोग धीरे-धीरे हमारे कार्यक्रम का बुद्धिपूर्वक समर्थन करेंगे।

यदि किसी की धर्म-भावनाएँ दूसरे को अधर्म लगती हों तो उनका निषेध किए बिना कैसे होगा?

अस्पृश्यता निर्मूलन, जातिभेद निवारण आदि जो सुधार हम करना चाहते हैं वे धर्म-विरोधी हैं और उनके कारण हिंदू राष्ट्र की हानि होने वाली है इसलिए उनका समर्थन करना निदंनीय है ऐसा प्रस्ताव किसी परिषद् ने रखा तो वह बात भिन्न होगी। ऐसा प्रस्ताव उनकी वर्तमान श्रद्धा के अनुकूल होगा, परंतु ऐसा करते समय उनकी यह भावना कि हमारे जैसे लोग दूसरों की भावनाओं को ठेस पहुँचाते हैं और उनका बुद्धिभेद करते हैं—ऐसा जो निषेध उन्होंने किया है वह सर्वथा अनावश्यक है तथा यह उनके ही विरुद्ध जाने वाला है।

कारण कि जिसको जो आचार-धर्म ठीक लगता है या जो आचार-धर्म रूढ़ होगा वह गलत है ऐसा कोई कहेगा तो उसकी भावना दुखेगी। श्रुति-स्मृति को अज्ञात ऐसे लोक-व्यवहार भी धर्म हैं, इसलिए उनको आदरणीय लगते हैं और ये

धर्माचार समझकर उन्हें व्यवहार में लाना चाहिए ऐसा श्रुति में प्रमाण भी मिलता है।
'यस्मिन्देशे यः आचारः पारंपर्यक्रमागतः। वर्णानां किल सर्वथा स सदाचार उच्चते।'
या 'यद्यदाचर्यते येन धर्म्य वाधर्म्यमेव वा। देशस्याचरणं नित्यं चरित्रं तद्धि कीर्तितम्॥'
इन वचनों से लोकाचार, धर्म्य या अधर्म्य होंगे तो भी देश के लिए धर्म होते हैं ऐसी सदाचार की श्रेणी विस्तृत है। अतः जो-जो आचार-धर्म लोगों द्वारा किया जाता है वे कितने भी निंद्य, राष्ट्रविघातक, हिंसक या जंगली होंगे तो भी उनका निषेध करना उन लोगों की भावनाएँ दुखाना ही होगा। उनका बुद्धिभेद ही होगा। अतएव धर्म-भावनाएँ दुखानी नहीं चाहिए, अज्ञानियों का बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए ऐसा कहना अज्ञानियों को यावत्चंद्र दिवाकरौ अज्ञानी ही रहने दो ऐसा कहने के समान नहीं होगा? इस प्रकार का नियम नए संगठनवादी सुधारकों के समान ही इस परिषद् के सनातनी लोगों की जीभ पर बंधनकारी होगा। इसलिए सामाजिक या धार्मिक चर्चा के संबंध में बोलना भी सबको और इसलिए उन्हें भी असंभव होगा। ऐसे मत-प्रचार को मृत्युदंड होगा। सनातनी भी इस अर्थ में धर्मभावना को ठेस पहुँचाए या बुद्धिभेद किए बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते यह इस सभा के उदाहरण से ही दिखाया जाएगा।

सनातनी आपस में ही परस्पर धर्म-भावनाओं को कुचलते हैं। बुद्धिभेद करते हैं।

लोणी परिषद् की शास्त्री मंडली को भी कुछ धार्मिक सुधार करने की इच्छा हुई। उन्होंने हिंदू राष्ट्र को वर्तमान संकट से बचाने के लिए दहेज लेना-देना नहीं चाहिए, अन्य तरह के उपहार साड़ी-चोली आदि भी नहीं देना चाहिए—विवाह में परस्पर हँसी-मजाक की बातें न हों—दामाद रूठे नहीं, लोग भ्रष्ट हो रहे हैं, मुसलमानों के दंगे हो रहे हैं, कन्यापहरण, मंदिरों का ध्वंस आदि पूरे देश में अत्याचार हो रहे हैं; हिंदुस्थान को पाकिस्तान बनाने का विचार चल रहा है; मिशन के लोग घरों को खोखला बना रहे हैं; अस्पृश्य हमारे छल के कारण और उनके विधर्मियों द्वारा पटाने के कारण समाज से अलग हो रहे हैं; न राष्ट्र, न राज्य, और न अन्न—इस प्रकार के जीर्ण राष्ट्र को तारने के लिए इन न्याय-मीमांसा, वैदिक तर्क, वेद वाचस्पतियों को उपर्युक्त उपाय दिख रहे हैं, परंतु उसमें भी प्रश्न ऐसा है कि ये रूढ़ियाँ लाखों लोग सैकड़ों वर्षों से शिष्टाचार, सदाचार और धर्माचार समझकर चला रहे हैं। हजारों महिलाओं तथा भाविक कुलाचारनिष्ठ लोगों को इन बातों को त्यागने से या उनका निषेध करने से दुःख होगा। इतना ही नहीं अपितु शादी का कुलधर्म, कुलाचार पूरा हुआ ऐसा उन्हें नहीं लगेगा। यह बात स्पष्टता से

घर-घर होते हुए भी लोणी के सनातनी लो ने इन लाखों लोगों के शिष्टाचार कुलाचार, कुलधर्म को क्यों दुखाएँ? वे अज्ञानी हैं इसलिए? परंतु 'न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसंगिनाम् कर्माणि विद्वान् युक्त: समाचरन्।' यह शास्त्रार्थ आपका ही है, हम न अज्ञजनों का आप बुद्धिभेद क्यों करते हैं? इस परिषद् के अध्यक्ष ने तो ब्राह्मणों के हृदय को ही नोच डाला।

इस सनातन परिषद् के अध्यक्ष वेदशास्त्र-संपन्न श्रीधर शास्त्री वारे ने कहा है कि 'वैदिक लोक हो, मंत्र केवल कंठस्थ करने से नहीं होगा।' केवल अर्थशून्य मंत्र-पाठों से संस्कार की सामर्थ्य नहीं जगाई जा सकती अपितु मंत्र सिद्ध करके मंत्र सामर्थ्य बढ़ाना चाहिए, अब यह सच है तो आज के वैदिक पुरोहित, ब्राह्मणों द्वारा जो हमारे संस्कार किए जा रहे हैं, मंत्र-जापादि धार्मिक कृत्य संपादित किए जा रहे हैं उनके मन को बिच्छू ने डंक मारा ऐसा नहीं होगा क्या? क्योंकि केवल कंठस्थ मंत्र कहने पर भी धर्मसंस्कार ठीक होते हैं यही उनकी पीढ़ी-दर-पीढ़ी भावनाएँ रही हैं। आज भी हजारों पुरोहित समाज के समस्त संस्कार कंठस्थ अर्थज्ञानशून्य मंत्रों से ही संपन्न कर रहे हैं। उनमें कुछ अधमता कोई दोष मानते नहीं। फिर उनके दोष दरशाकर उनकी धर्म-भावनाओं को क्यों दुखाया? केवल कंठस्थ मंत्र बोलना अहितकारक है ऐसा कहकर उनका बुद्धिभेद क्यों किया?

धर्म-भावनाएँ चाहे कितनी ही अधर्मप्रवण हों, लोक-विरोधी हों, भ्रमपूर्ण हों, परंतु उनका निषेध नहीं करना चाहिए, उन्हें दुखाना नहीं चाहिए। किसी भी सामाजिक या धार्मिक रूढ़ि को, वह कितनी ही दरिद्र और हानिकारक हो तो भी उसका विरोध करके अज्ञजनों का या भ्रांतजनों का बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए—ऐसा यदि कहेंगे तो आपको हिंदू महासभा, बैरिस्टर सावरकर, 'किर्लोस्कर' आदि का निषेध करने के पूर्व तुकाराम का निषेध करना चाहिए था। क्योंकि 'शाक्त गधड़ा जये देशी, तेथे पापाचिया राशि॥' कहकर उन्होंने शाक्तों की और 'गण्या गणपति विक्राल। लाडू मोदकांचा काल।' कहकर गाणपत्यों की भावनाएँ निंदाजनक शब्दों से दुखाई थीं। संत रामदासजी ने भी कहा है—

'पाषाणांचा देव केला। एके दिवशी भंगोनि गेला।
तेणे भक्त दुखाला। रडे पडे आक्रंदे॥ १॥
एक देव घटिला सोनारी। एक देव ओतला ओतारी॥
एक देव घडिला पाथारी। पाषाणंचा॥ २॥
धातु-पाषाण मृत्तिका। चित्रलेप काष्ठ देखा॥
तेथे देव कैचा मूर्खा। भ्रांति पडली॥'

(दासबोध)

अर्थात्—पत्थरों का देव बनाया। एक दिन वह खंडित हो गया। जिससे भक्त की भावना को ठेस पहुँची और वह रोने लगा। एक देव सुनार ने बनाया तो एक देव धातुकार ने बनाया। धातु-पाषाण और मृत्तिका और चित्रांकित लकड़ी को देखो। वहाँ भगवान् कैसे हो सकता है, मूर्ख, केवल चित्त का भ्रम है।

इस प्रकार निर्गुण की महिमा करते-करते मूर्तिपूजा का रहस्य न समझने से पत्थर-मूर्ति को ही प्रत्यक्ष देव, पिता के छायाचित्र को ही पिता माननेवाले भोलेपन की ही यह विडंबना है। इस भाव से पत्थर, म्हसोबा, भैरव को पूजनेवाले सहस्रों जनों की धर्म-भावनाएँ दुखाई नहीं क्या? बुद्धिभेद नहीं हुआ क्या? ज्ञानेश्वर, एकनाथ, रोहिदास इनकी बात तो रहने दीजिए, परंतु प्रत्यक्ष आद्य शंकराचार्य की कर्ममार्गियों की और मीमांसकों की 'धर्मभावना' शंकरा-भाष्य के हर पृष्ठ पर दुखाई नहीं गई है क्या? बुद्धिभेद नहीं हुआ है क्या?

दूर जाने की आवश्यकता नहीं। लोणी की धर्म-परिषद् में जितने सांख्य शास्त्री, मीमांसक या अद्वैती थे उनमें से हरेक का दर्शन दूसरों की धर्म-भावनाएँ दुखाने और बुद्धिभेद करने का नहीं था क्या? मीमांसक कहते थे, 'हमें ईश्वर-वीश्वर मालूम नहीं।' यज्ञादि वैदिक कर्म में पशुहिंसा करते थे। इससे भक्ति मार्गी वैष्णव और अद्वैती लोगों की भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचती क्या? सांख्य मार्गी कहेंगे कि 'पुरुषा विशेषो तंत्र' और निरीश्वरवादी कहेंगे, 'पुरुष और प्रकृति, पुरुष-अनंत प्रकृति आदि सांत!' इस प्रकार माया-मोह में फँसे हुए भ्रांत लोगों को अद्वैती कहेंगे 'सर्वं खलु इदम् ब्रह्म' इस प्रकार के ये लोग दूसरों की धर्म-भावनाओं का निषेध करते हुए सत्य और राष्ट्रहितकारक प्रचार के समय बड़े भोले बन हमें डाँट रहे हैं कि 'धर्म-भावनाएँ मत दुखाओ! बुद्धिभेद मत करो॥'

गोरक्षक स्त्री-पुरुषों का विनोद

धर्मभावना दुखाने का और बुद्धिभेद करने का अपराध हम सुधारक कर रहे हैं ऐसा समझकर गोरक्षक मंडली हमपर उखड़ी हुई थी। ये लोग गाय को मंदिर में बाँधकर समंत्रक पूजा करते हैं। उसे गंध-फूल चढ़ाकर, आरती उतारकर उसकी पूँछ अपनी आँखों पर से घुमाते हैं। उसके खुर की विभूति लेते हैं और उसका गोमूत्र-गोबर मिलाकर पंचगव्य बनाकर पीते हैं। परंतु उतने में यदि वहाँ कोई अस्पृश्य पहुँचा तो उससे अपवित्र न हो इसलिए ये लोग दूर भागते हैं। कभी-कभी इस अस्पृश्य को ही भगा देते हैं। गोरक्षक स्त्री-पुरुषों का ऐसा व्यवहार हमने कई बार देखा है इसलिए उनमें से कुछ से हमने पूछा कि 'गाय जैसे एक पशु के स्पर्श से आप अपवित्र नहीं होते और पंचगव्य पीने से आपकी जिह्वाएँ अपवित्र नहीं होतीं

तो स्वच्छ, सुशिक्षित, सुशील अस्पृश्य, अपना धर्मबंधु, उसकी छाया से भी दूर क्यों भागते हैं? और हम अस्पृश्यों को एक मानव समझकर स्पर्श करते हैं तो आप हमारी निंदा करते हैं?' इसपर गोरक्षक कहते हैं कि 'गाय की निंदा मत करो! अपने विचार अपने पास रखो! हमारी धर्म-भावनाएँ दुखाने का या हम लोगों का बुद्धिभेद करने का आपको अधिकार नहीं।' इस प्रकार कहते हुए वे हमपर क्रोध करते थे। उनमें एक हमारे आदरणीय चौड़े महाराज भी होते थे।

इस कारण आजकल कीर्तनों में और लेखों में बहुत मजा आता है। प्रथम वे आदिशक्ति जगन्माता गो-देवि को हमने एक उपयुक्त पशु कहकर उनकी धर्म-भावनाओं को दुःखी किया और सामान्य जनों का हमने बुद्धिभेद किया, इसलिए हमारे पापों का निषेध करते हैं और तुरंत दूसरे वाक्य में पशुबलि देने की धर्मभावना तामसी, क्रूर, जंगली होने के कारण अतिशय निंदनीय है ऐसा स्पष्ट बताते हैं। इस प्रकार वे भी सामान्य जनों की धर्म-भावनाओं को दुखाने का पाप स्वयं पुण्य समझकर व्यवहार में लाते हैं।

सारांश यह है कि किसी की धर्म मान्यता को सुधारने का प्रयास यदि धर्मभावना को दुखाने का और बुद्धिभेद करने का पाप होता है तो इसके बाद सनातनियों को भी मतप्रसार या सत्य का प्रचार करने के लिए शब्द उच्चारना असंभव होगा। दो दूनी पाँच कहनेवाले लड़के का बुद्धिभेद न हो इसलिए उसे दो दूनी चार होते हैं ऐसा कहना गुरुजी के लिए चोरी हो जाएगी। इसके विपरीत अज्ञानी लड़का होने के कारण विद्वान् गुरु को ही दो-दो पाँच कहना पड़ेगा। कारण 'जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्!' परंतु न बुद्धिभेदं जनयेत् अज्ञानां कर्मसंगिनाम्॥' बुद्धिभेद का यदि ऐसा अर्थ लगाना हो तो इसके बाद मूर्खों को विद्वान् बनाने का विचार छोड़कर विद्वानों को ही मूर्ख होना आवश्यक है।

यदि यह दुरवस्था टालनी हो तो 'धर्मभावना' दुखाने की और बुद्धिभेद की उपर्युक्त विक्षिप्त व्याख्या का त्याग कर उसकी युक्तिसंगत व्याख्या ही स्वीकारनी होगी। जिसको जो सत्य दिखाई देगा उससे वह प्रकट रूप से बताना चाहिए। जो सामाजिक या धार्मिक व्यवहार लोकहित-विरोधी होगा या असत्य के आधार पर होगा, वह वैसा है यह युक्तिसंगत चर्चा करने का अधिकार प्रत्येक को होना चाहिए। जब तक वह प्रचार सभ्य, युक्तियुक्त और सदिच्छापूर्ण है और केवल मत्सरग्रस्त हेतु से व्यक्तिशः किसी की विषयांतरपूर्वक मानहानि नहीं करता, तब तक किसी की धर्मभावना दुखाने का दोष उस प्रचार से हुआ ऐसा नहीं समझना चाहिए। वैसे ही बुद्धिभेद नहीं करना इसलिए दुर्बुद्धिभेद भी नहीं करना चाहिए ऐसा समझना केवल मूर्खता है। कोई अनिष्ट भावना, धर्म मानकर आदरित की जाती हो

तो उसका भी उच्छेद करना प्रत्येक लोकहितैषी पुरुष का कर्तव्य है। वह भावना धार्मिक होकर भी दुर्बुद्धि है, बुद्धि नहीं। बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए इसका मतलब इतना ही कि जिस भावना से या कृति से, लाभ की अपेक्षा थोड़ी सी हानि हो रही है तो लाभ की स्थिति में उसको ही अधिक महत्त्व देकर उसका उच्छेद नहीं करना चाहिए। 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन, विचारमूढः प्रतिभासि में त्वम्॥' ऐसा उस प्रकरण में कह सकेंगे। जैसा किसी बच्चे को शक्कर लपेटकर दवाई की गोली देना, परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर मिठाई बाँटना, दशहरे के त्योहार में सोना बाँटना, रंगपंचमी को रंग खेलना, इस प्रकार की रूढ़ियों को परंपरा से पालना। वे लाभकारक या निरुपद्रवी हों तो लोकसंग्रहार्थ उचित मर्यादा में लोगों का रुझान देखकर व्यवहार में लाना चाहिए।

इस सूत्रानुसार धर्म-भावनाएँ दुखाने का या बुद्धिभेद करने का आरोप हमपर आना असंभव है। और यदि वह आना संभव है तो श्रीकृष्ण से लेकर ज्ञानेश्वरादि संतों तक हरेक महान् मत प्रचारक पर भी आ सकेगा, इतना ही नहीं अपितु लोणी परिषद् के 'दामादों को नाराज नहीं होना चाहिए। पहेलियाँ नहीं बुझानी चाहिए।' जैसे भुक्कड़ प्रस्ताव रखनेवाली बूवा पर भी आ सकता है।

एक मजा ऐसा कि हिंदू राष्ट्र पर आनेवाले संकटों को टालने के लिए 'दामादों को नाराज होकर बैठना नहीं चाहिए।' जैसा समाज-विघातक प्रस्ताव पारित किया और अद्भुत राष्ट्रीय महत्त्व का उपाय सुझाया, इतनी सुधारणा अपने धर्मसंस्कार में करने का साहस हम क्यों कर रहे हैं; यह परिषद् कहती है कि 'अभी की हिंदुओं की स्थिति ध्यान में लेकर हमारे संस्कार में प्रचलित अधिक व्यय की प्रथाएँ समाज-विघातक तथा अनावश्यक होने के कारण उन्हें समय पर नियंत्रण में रखना आवश्यक है। इसका अर्थ ये लोग 'आज की परिस्थिति' इस बात को तो जानते हैं? और इसे ध्यान में रखकर समाज-विघातक प्रथाएँ बदलना उन्हें आवश्यक लगता है। इसी प्रकार समाज में कुछ ऐसी प्रथाएँ, कुलधर्म, कुलाचार हैं कि उनका निषेध लाखों सामान्य लोगों की धर्मभावना दुखाने और बुद्धिभेद करने के लिए समाजहितार्थ उन्होंने आगे-पीछे देखा नहीं। तो फिर 'वर्तमान परिस्थिति' इस शास्त्र के आधार पर हिंदू राष्ट्र के परित्राणार्थ हमें अस्पृश्यता निर्मूलन, समुद्रबंदी-रोटीबंदी का उच्छेद, जन्मजात जातिभेद के फालतू आचारों का उच्चाटन, आदि सुधार आज 'आवश्यक' लग रहे हैं। समाज-विघातक ऐसी बहुत सी रूढ़ियाँ अशास्त्रीय होने के कारण बदलना आवश्यक लगता है इसलिए हम उन्हें बदलना चाहते हैं। इस काम के लिए 'रूठनेवाले दामाद' की कुलधर्म भावना दुखाकर उपहारवालों का बुद्धिभेद करने जैसा निषेधार्थ नहीं मानते, वैसे ही हमारे इस प्रचार को भी आप

धिक्कार नहीं सकते। क्योंकि हमारे मत से स्पर्शबंदी, शुद्धिबंदी, समुद्रबंदी, रोटीबंदी आदि अनंत हाथों से हिंदू राष्ट्र के संगठन बल के जड़ पर ही चोट लगानेवाली पंडिताई जातिभेद धर्म न होकर, सद्यःस्थिति में समाजघातक महान् अपधर्म हो चुका है। यह दुर्बुद्धि है, बुद्धि नहीं।

हमारे समान आपको ये सुधार कुधार लगते हों तो आरोप करें। शुद्धि से हिंदू राष्ट्र का संख्याबल घटता है—जातिभेद से—एक ब्राह्मण जाति में एक हजार रोटीबंद, बेटीबंद जातियाँ बनाने से ही हिंदू राष्ट्र मजबूत हो रहा है ऐसा निर्भयता से कहते रहें। किंतु हमें जो सत्य लगता है वह आपको असत्य लगता है इसलिए हम उसे छोड़ दें। हमें स्पष्ट दिखता है, आपकी वह बुद्धि समाज-विघातक दुर्बुद्धि है फिर भी हम बोलेंगे तो निषेधार्ह! ऐसा आरोप करना छोड़ दीजिए नहीं तो वह आरोप आप पर भी लागू होगा।

हमारा शास्त्राधार 'वर्तमान स्थिति' है, उसे आपने मान लिया यह प्रशंसनीय बात है। फिर किस मुँह से आप हमें वह आधार लेने के लिए मना करेंगे। सबसे अधिक भयग्रस्तता की सनातनी परमावधि यानी इस परिषद् में एक भी ऐसा प्रस्ताव पारित नहीं हुआ जिसने अभी के मुसलमान आदि अहिंदुओं के अत्याचारों का निषेध किया हो। मानो अत्याचारों से इनकी भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचती हो। जैसे आज की लोणी परिषद् की शास्त्री मंडली की धर्मभावना के सही शत्रु केवल हिंदू महासभा के नेता ही हैं। श्रद्धानंद, लाजपतराय, परमानंद, मालवीय, जिन्होंने हिंदू राष्ट्र के सम्मानार्थ अहिंदू कट्टरवादियों से आजन्म संघर्ष करके स्वयं पर प्राणांतक संकट मोल लिये, आजीवन देह-यातनाएँ सहीं। हिंदू राष्ट्र के गौरव के लिए कर्तव्य के रणक्षेत्र में लड़ते समय जिनके शरीर पर कोई खरोंच न आई हो, ऐसा हो नहीं सकता, पर यह अनदेखा कर, वे मिष्टान्न से पुष्ट शब्दवीर हिंदू महासभा के धर्मवीर नेताओं का निषेध करते हैं। स्वयं को क्षत्रिय घोषित कर लेने से मेरी धर्म-भावनाएँ दुखित हुई हैं ऐसा कहते हुए शकार शिवाजी का निषेध करता है।

□

धर्म के पागलपन के विष को नष्ट कर सकेगा विज्ञान-बल

किसी भी एक तत्त्व का सर्वसामान्य विचार करना प्रसार के लिए जैसे आवश्यक होता है, उसी प्रकार सर्वसाधारण विचार करते समय विशिष्ट व्यक्तियों की विशेष शंकाओं का समाधान करने से, कुछ प्रकरणों में वही सर्वसामान्य तत्त्व बहुसंख्यक लोगों को व्यक्तिगत रूप से समझाने के लिए बहुत उपयोगी होता है

अपने हिंदू राष्ट्र की दृष्टि पंडिताऊ नहीं, विज्ञाननिष्ठ होनी चाहिए। पुराण प्रवृत्ति एवं सनातन प्रवृत्ति छोड़कर अद्यतन प्रवृत्ति होनी चाहिए। इस तत्त्व की चर्चा आज तक हमने जो 'किर्लोस्कर' आदि मासिक पत्रों में की और जिसका अधिकतर भाग जिन्हें सही लगा है वे भी किसी के कुछ तो अन्यों के कुछ सामान्य कारणों से तथा व्यक्ति विशिष्ट शंकाओं के कारण वे अभी तक सर्वमान्य नहीं हो रहे हैं। इन व्यक्तियों की शंकाओं का अलग-अलग चर्चा करके निर्मूलन किया जाए तो इस मंडली को उनकी पसंद की बातों का उदार मन से समर्थन करना संभव दिखता है। अत: इन वैयक्तिक शंकाओं का अलग-अलग विचार करना हमारा कर्तव्य है। हमारे इसके पूर्व के लेखों में हमने उन शंकाओं का और डर का निर्मूलन भी किया है। परंतु हर व्यक्ति हर लेख की प्रत्येक पंक्ति समान ध्यान देकर पढ़ नहीं सकता। और अल्प उल्लेख से संतोष भी नहीं हो सकता। इसलिए ऐसी दो प्रमुख शंकाओं को, जो विद्वान् और प्रामाणिक व्यक्तियों ने प्रकट की हैं, हम स्पष्ट कर रहे हैं। हमारे विस्तृत विचार उनको मान्य हों या न हों, परंतु प्रतिपादन करने का संतोष हमें मिलेगा। इन शंकाओं में से कई व्यक्तियों द्वारा पूछी गई शंकाएँ ऐसी हैं कि हमें भी मुसलमानों के समान कट्टर पंडिताऊ होना चाहिए।

उन मुसलमानों को देखो, दाढ़ी रखेंगे, बुरका कष्टदायक होगा फिर भी समाज का विशेष चिह्न मानकर उस रूढ़ि का पालन करेंगे। मसजिद से फकीरों के

आवाज देते ही हमला करने के लिए तैयार। कुरान ईशप्रेषित धर्मग्रंथ है इसलिए सब उसका आदर करेंगे। उसके नाम से सब एक होंगे। सूअर का मांस नहीं खाना माने नहीं खाना। कुरान का प्रत्येक आचार कितना ही पुराना हो या कष्ट का हो सामाजिक और धार्मिक बंधन मानकर व्यवहार करना। पाँच समय तो पाँच समय ही सभी नमाज पढ़ेंगे। रोज़ा होगा तब सब करेंगे।

ये रूढ़ियाँ क्या तर्क के आधार पर हैं ? क्या धर्म-कट्टरतावादी नहीं ? किंतु उनके कारण ही उस समाज में एकजीवता (एकात्मता) और एकता मजबूत हुई है।

हम हिंदुओं को भी इसी कारण से, जो हमारी प्राचीन रूढ़ियाँ और धर्म-मान्यताएँ हैं, वे अन्य दृष्टि से हास्यास्पद हों तो भी, समाज में मुसलमान के समान धर्मकट्टरता का संचार कराने के लिए उनका पालन करना चाहिए।

धर्मांधता या पंडिताई से मुसलमानों की भी दुर्दशा हो रही है

पांडित्य के कारण मुसलमानी समाज एकरूप, प्रबल और प्रगतिशील हो रहा है और इसीलिए हमें उनसे भी अधिक पंडिताऊ होना चाहिए ऐसी भावना आज बहुत से हिंदू संगठकों में है। वह मूल रूप से दुगुनी गलत है। पंडिताई से मुसलमानों की कौन सी प्रगति हुई है ? आज हिंदुस्थान में भी वे विद्या में पिछड़े हुए हैं। अज्ञान, दरिद्रता, संकुचितता इनमें हिंदुओं से वे अधिक ग्रस्त हैं। साहित्य में तो हिंदू ही श्रेष्ठ हैं। बड़ी-बड़ी संस्थाएँ हिंदुओं ने ही स्थापित कीं और चलाई हैं। बड़े-बड़े कवि, संशोधक, उद्‌भावक, प्रकल्पक, संपादक, विद्वान्, प्राध्यापक, सुधारक, वक्ता, कर्ता जो कोई गत सदी में सफल हो गए हैं उनमें पंचानवे प्रतिशत हिंदू हैं। ऑक्सफोर्ड, कैंब्रिज, पेरिस, बर्लिन आदि यूरोपीय विद्यापीठों में भारतीय विद्वत्ता की जो छाप दिखाई देती है वह हिंदुओं के कारण ही है। रैंग्लर्स, आइ.सी.एस., नोबेल प्राइजमैन, वैज्ञानिक, संशोधक, इनमें से यूरोप में जो कोई चमक उठे वे अधिकांश हिंदू हैं। गत सौ वर्षों में राजनीति में जो संघर्ष हुए वे हिंदुओं ने ही किए हैं। तिलक, लाजपतराय, गोखले, बनर्जी, पाल, गांधीजी, मालवीय, अय्यर आदि प्रमुख स्मरणीय नेता हिंदू थे। जर्मन महायुद्ध जैसा जो कोई सुअवसर अच्छे-बुरे प्राप्त हुए उनमें सिख, गुरखा आदि लोगों ने ही सैनिक शौर्य प्रकट किया। हिंदू सैनिकों ने अपना क्षात्रतेज ऐसे समय में दिखाया। यही स्थिति उद्योग क्षेत्र की थी। बीमा मंडली, कारखाने, बैंक, पतपेढ़ी आदि बड़ी-बड़ी औद्योगिक संस्थाओं का फैलाव आज जो बढ़ रहा है वह अधिकतर हिंदुओं के कर्तव्य का तथा नेतृत्व का सुफल है।

जो बात वर्तमान समय की वही भूतकाल की थी। पंडिताई, देवभोलापन, धर्मांधता के कारण ही मुसलमान शूर और विजयी हुए ऐसा कुछ मुसलमान बार-बार कहते हैं। हमारे हितशत्रु भी यही कहते हैं; परंतु वह अर्धसत्य है। जो समाज उनसे भी अधिक असंगठित और धर्मांध थे उनपर मुसलमानों की धर्मांधता ने सफलता पाई है। परंतु जब उनसे भी अधिक संगठित समाज से उनका मुकाबला हुआ तब मुसलमानों को उनकी पारलौकिक पंडिताई उपयोगी सिद्ध नहीं हुई। इसका ठोस सबूत चाहिए तो महाराष्ट्र का इतिहास देखिए। पोथीनिष्ठ औरंगजेब की मराठों ने फजीहत कर दी, उसकी याद कर लीजिए। इतना ही नहीं अपितु सन् १६०० से सन् १८०० तक जहाँ-जहाँ हिंदू सेना से मुसलमानों को मुकाबला करना पड़ा ऐसी लगभग पचास लड़ाइयों में मुसलमान हारे। रोहिलखंड से द्वारिका, अटक से रामेश्वर तक फैली हुई मुसलिम सत्ता को हिंदुओं ने जीत लिया। उस समय क्या मुसलमान पाँच बार नमाज नहीं पढ़ते थे? क्या रोजे नहीं रखते थे? कलमा नहीं कहते थे? क्या दाढ़ी नहीं रखते थे? तब क्या कुरानशरीफ उनकी एकमात्र पोथीनिष्ठ धर्मपुस्तक नहीं थी?

विज्ञान-बल के सामने धर्मांधता का विष और पोथीनिष्ठता का दंश कैसे ढीला पड़ता है यह यूरोप में देखिए।

तीन सौ वर्ष पूर्व यूरोप को भी ईसाई पोथीनिष्ठता और धर्मांधता ने खोखला बना दिया था। उनकी पोथीनिष्ठता हिंदुओं की पोथीनिष्ठता के समान सहिष्णुता की थी। इसलिए मुसलमानों की ठोस पोथीनिष्ठता ने उसको नष्ट कर दिया था। पुर्तगाल, स्पेन जीतकर वे पेरिस के किनारे पर आए और दूसरी ओर से हंगरी में पहुँचे। परंतु आगे चलकर जब यूरोप में विज्ञाननिष्ठा आई; भाप, बिजली और विमानों का युग आया तब उसी यूरोप ने उन्हीं मुसलमानों की कैसी दुर्दशा कर दी यह कहने की आवश्यकता नहीं! जिस मूरो ने स्पेन जीता, उस मूरो को आज स्पेन और फ्रांस ने तोड़ा है। देवभीरुता और पोथीनिष्ठता का आगार 'अबीसीनिया को विज्ञान-बलशाली इटली ने पंजे के एक फटकार से नष्ट कर दिया। साइबेरिया के पोथीनिष्ठ और कट्टरवादी लाखों मुसलमानों पर निरीश्वर और निधर्मी रूस राज्य कर रहा है। इराक, इजिप्ट और दिल्ली के खलीफाओं और बादशाहों के पोथीनिष्ठ तख्त आज इंग्लैंड की प्रदर्शनियों में रखे जाते हैं।

मुसलमानों की दुनिया भर में हुई इस दुर्दशा को कहने योग्य एक अपवाद है तुर्किस्थान। इसका कारण तुर्किस्थान का विज्ञाननिष्ठ होना ही है। जो-जो भावना विज्ञान ने असत्य ठहराई और जो-जो रूढ़ि आज की स्थिति में घातक रही, वह पुराने छप्पन ग्रंथों में होने पर भी उसे कमाल के तुर्कों ने नकार दिया। कुरान में

बुरका है, बहुपत्नीत्व है, कमाल ने उसे निषिद्ध ठहराया। सभी पौरविधान (civil law) दंडविधान (criminal law) और सैनिक विधान तुर्कों ने स्विटजरलैंड, जर्मनी आदि देशों से लिये। उनका धर्म से संबंध तोड़कर और उस विषय में कुरान के जो विधि निषेध विरुद्ध थे उन्हें रद्द किया। अरबी धर्मभाषा का बहिष्कार किया, अरबी लिपि मुद्रण हेतु बाधक थी इसलिए बंद की और रोमन प्रारंभ की। मुसलिम धर्मपीठ खिलाफत को मूल रूप में उखाड़कर ही फेंक दिया। तुर्किस्थान यूरोप जैसा अद्यतन बना। प्रयोगक्षम भौतिक विज्ञान का उपासक बना इसलिए सुरक्षित रहा।

हमारी हार्दिक इच्छा है कि भारतीय-मुसलमान पोथीनिष्ठ प्रवृत्ति छोड़कर विज्ञाननिष्ठ बनें। देवनिष्ठ तथा धर्मांधता आदि बंधन से उनकी बुद्धि मुक्त हो और उनका समाज भी शिक्षित और अभ्युन्नत हो। यह बात उनके ध्यान में आएगी कि विज्ञान की शक्ति के सामने अज्ञानी धर्मांधता कभी भी टिक नहीं सकती तो वे भी तुर्कों का मार्ग स्वीकारेंगे। आज यूरोपीय शक्ति के आगे जो उनकी हार हो रही है वह रुकेगी। मुसलमान यदि विज्ञाननिष्ठ और प्रगत हुए तो उसमें भी हिंदुओं का कल्याण ही है; भारतीय-मुसलमानों का तो महाकल्याण है।

किंतु इसके बाद भी मुसलमानों को उनकी पोथीनिष्ठा की प्रवृत्ति ही हितकारक लगती हो तो वे उसका व्यवहार सुख से करें। परंतु हमें यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि बुद्धिनिष्ठ प्रगति के अभाव में मुसलमान आज भी हिंदुओं की अपेक्षा अधिक अज्ञानी, दरिद्र और अवनत है। हमें तो विज्ञान युग और यूरोप के वैज्ञानिक बल से संघर्ष करना है। इसलिए मुसलमान पोथीनिष्ठ है, अतः हमें सवाई पोथीनिष्ठ होना चाहिए ऐसा नहीं। सवाई धर्मांधता या देवनिष्ठता हमारी उन्नति का मार्ग नहीं। अनुकरण करना हो तो हमें यूरोप की विज्ञाननिष्ठता का करना चाहिए। धर्मभेद का डंक जिसके आगे ढीला पड़ जाता है उस विज्ञान-बल को प्राप्त करना चाहिए। देवभीरुता के सारे ताईत-ताबीज, शिव्या-शाप जिस कवच पर नहीं चल सकते वह विज्ञान-कवच आज इंग्लैंड, रूस, जर्मनी में दिखाई दे रहा है। उसे ही हमें धारण करना चाहिए।

एकदम ताजे एक-दो उदाहरण

उपर्युक्त विचार स्पष्टतः ध्यान में आ जाएँ अतएव हम गत माह का एक उदाहरण बताते हैं। पंजाब में विधिमंडल में एक मुसलमान महिला प्रतिनिधि चुनकर आई। विधिमंडल की शपथविधि के समय वह जब सभागृह में आई तब उधर की प्रथा के अनुसार, शिष्टाचार के कारण बुरके में आई। एकांत स्थान देखकर बैठ गई। उनका मुखदर्शन तो असंभव ही था, परंतु सभा की पद्धति के अनुसार

हस्तांदोलन करना भी मुश्किल हो गया। कुरान में बुरका पहनना चाहिए ऐसा उल्लेख है यह सत्य है और उस माननीय महिला की उस पोथीनिष्ठ भावना का सम्मान करना चाहिए। परंतु 'मुसलिम स्त्रियों को देखें वे कितनी स्वधर्माभिमानी होती हैं।' इस प्रकार उनकी प्रशंसा क्यों करनी चाहिए?

बुरका पहनने की पद्धति एक अज्ञानी, फालतू, विद्रूप रूढ़ि है। उसे छप्पन पोथियों में सराहा गया होगा तो भी आज त्यागना चाहिए। यह बात भारतीय मुसलमानों के ध्यान में न आई हो तो भी दुनिया के प्रगत मुसलमानों के ध्यान में आई है। लाहौर के विधिमंडल में भारतीय-मुसलिम स्त्री बुरका पहनकर प्रतिनिधित्व कर रही थी यह बात प्रशंसा की थी। समाचारपत्रों में छप रही थी। उसी समय उधर अलबेनिया के बादशाह ने अपनी मुसलिम प्रजा को आदेश दिया कि जो स्त्री बुरका पहनकर बाहर घूमेगी उसका वह एक दंडनीय अपराध माना जाएगा। तुर्कों ने अपने राज्य से बुरका निकाल दिया। ईरान ने भी बुरके का निषेध किया है।

इनके कारण भी ध्यान में रखने योग्य हैं। राज्यक्रांति के दिनों में तुर्क-विधिमंडल में महिलाओं को प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त हुआ। विरोधी पक्ष कब हिंसा करेगा इसका कमाल पाशा को विश्वास नहीं होता था। अब विधिमंडल में यदि पच्चीस-पचास महिलाएँ बुरका पहनकर आईं तो उनमें सभी स्त्री प्रतिनिधि हैं या कोई छद्मवेषी भी उनमें है यह पता कैसे चलेगा। कोई हत्यारा भी स्त्री वेश में प्रतिनिधि बनकर आ सकता है। ऐसी स्थिति में पोथीनिष्ठ धर्मांधता को बलि न जाते हुए तरुण तुर्कों ने उपर्युक्त कानून बनवाया। उनके अनुसार जिस स्त्री को पोथीनिष्ठा का प्रदर्शन करना है उसे अपना अंत:पुर छोड़कर बाहर जाने की जरूरत ही क्या? हाट-बाजार की भीड़ में घुसना और लोगों का स्पर्श होता है इसलिए चिढ़ना मूर्खता है या छेड़खानी? तरुण तुर्क के समान मुसलिम राष्ट्रों ने अज्ञानी रूढ़ि समझकर बुरकों का त्याग किया तो भारतीय-मुसलमान यदि उसे भूषण मानने लगेंगे तो उनका ही नुकसान होगा। इस प्रकार के स्वधर्माभिमानियों का अनुकरण करना पागलों के पीछे लगकर स्वयं पागल होना है।

देखिए यूरोप को। बाइबिल में स्त्रियों और गुलामों को केवल आश्रित और दया का विषय माना है—समानता का नहीं! परंतु आज के व्यवहार में उस पोथी को बाँधकर उन्होंने आज के राष्ट्र की धारणा हेतु आवश्यक स्त्री समानता के, स्वतंत्रता के नए-नए निर्बंध तुरंत लागू किए। इसलिए आज उनकी महिलाओं की सेनाएँ रण-मैदान में लड़ रही हैं।

उन्होंने दासप्रथा अपने लोगों के लिए दंडनीय ठहराई है। इसलिए हमें उनका उपयुक्त प्रमाण में अनुकरण करना चाहिए। 'मनुस्मृति' में 'न स्त्री स्वातंत्र्यम्

अर्हति' यह वचन है। वैसा ही यह वचन भी है कि 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।' प्रथम वचन के लिए मनु के नाम से रोते रहने में क्या अर्थ? इसका दूसरा वाक्य हमारा व्रीदवाक्य बनकर स्मृतिकारों के लिए गौरव क्यों नहीं होना चाहिए?

दूसरा उदाहरण, राष्ट्रसभा आदि के अधिवेशन अवसरों पर नमाज का समय होते ही भारतीय-मुसलमान उस अधिवेशन का काम स्थगित करने की माँग करते हैं, इसको देखिए। यह उनकी पोथीनिष्ठ प्रवृत्ति उन्हें ही बाधक होगी। यदि कल उनकी रूस के साथ लड़ाई हुई और सुबह नौ बजे, दोपहर बारह बजे, शाम पाँच बजे मुसलिम सैनिक लड़ाई छोड़कर नमाज पढ़ने लगे तो क्या रूस के सैनिक नमाज समाप्ति तक तोपों की दारू में पानी डालकर रखेंगे? इसके विपरीत वे नास्तिक बोल्शेविक इसी अवसर का लाभ उठाकर आग की जबरदस्त मार करेंगे, और नमाज समाप्ति पूर्व लड़ाई समाप्त कर देंगे। जो नमाज को बैठा वह फिर नहीं उठ पाएगा। मास्को के विधिमंडल के मुसलिम सदस्य यदि नमाज के समय दिन-रात में पाँच-पाँच बार उठ गए तो सोवियत सदस्य मुसलिम अहितकारक पच्चीस बिल इस अवसर का लाभ उठाकर पारित कर देंगे। 'गाय को मारना पाप है' यह समझकर उसकी आड़ में आने वाले शत्रुओं को आत्मघातक पोथीनिष्ठा से हमने मारा नहीं और स्वयं ही मर गए—यह मुसलिम आवृत्ति है।

और मुसलमानों की इस प्रकार की धर्मनिष्ठा में बढ़कर सवाई होने के लिए उनके नियमानुसार अपनी संध्या-पूजा का क्यों आत्मघातक प्रपंच करें? नमाज के समय विधिमंडल, राष्ट्रसभा, युद्ध भी बंद करो ऐसा मुसलिम मौलवी कहते हैं। अतएव संध्या-पूजा के समय उन्हें बंद रखने की माँग का आग्रह हमारे पंडितों को भी करना चाहिए क्या? 'जैसे को तैसा' यह बात एक-आध बार शोभा देगी। यदि हम भी पोथीनिष्ठता से संध्या का महत्त्व बढ़ाने लगेंगे तो अपने ही गले में एक बेकार की मुसीबत बाँध दी ऐसा नहीं होगा क्या? विधिमंडल में उनकी नमाज की छुट्टी नौ बजे होती है। वह समाप्त होते ही हमारे मध्याह्न, संध्या की छुट्टी शुरू होगी। उनकी पाँच बजे की नमाज की छुट्टी समाप्त होते ही हमारी संध्या की छुट्टी शुरू होगी। इस प्रकार पोथीनिष्ठ प्रतिनिधियों के विधिमंडल का नाश होने में समय नहीं लगेगा।

तब ऐसे प्रकरणों में, मुसलमान के समान पोथीनिष्ठ बनना उचित बात नहीं है अपितु यूरोपियनों के समान विज्ञाननिष्ठ, प्रत्यक्षनिष्ठ, भौतिक उपयुक्ततानिष्ठ होना ही उसका सही उपाय है। मुसलमान चाहते हों तो नमाज के समय उठकर चले जाएँ, परंतु इसके लिए राष्ट्रसभा स्थगित करना हम क्यों स्वीकार करें? राष्ट्रीय कार्य निरंतर करते रहना ईश्वर की प्रार्थना है, संध्या है, नमाज है। जो प्रत्यक्ष राष्ट्रघात का

कारण हो वह प्रार्थना नहीं, पाप है।

तीसरा उदाहरण मांसाहार का देखिए। हमने पूर्व में ही कहा है कि मांस खाना या न खाना केवल वैद्यकीय प्रश्न है। उसका पारलौकिक पुण्य-पाप से कोई संबंध नहीं है। मनु प्याज खाना नरकगामी और सूअर का मांस खाना महत्पुण्य समझते हैं। अन्य स्मृतियों में इससे विपरीत स्थिति है। इसी प्रकार गोमांस की बात है। वह वैद्यक, आर्थिक और अंशत: ममता का प्रश्न है। वह एक दुधारू पशु है। उसमें भी गाय या भैंस मारना नहीं चाहिए यह उसका आर्थिक पहलू है। पालतू और मनमोहक प्राणी गाय, कुत्ता, घोड़ा, तोता, गधा यथासंभव पालने योग्य हैं। इसलिए मनुष्य हानि होती हो या राष्ट्रीय दृष्टि से अपरिहार्य हो तो गोमांस खाने में कुछ पाप है ऐसा मन में भी लाने का कोई कारण नहीं। अमेरिका स्वयं गोमांस भक्षक है तो वहाँ की गाय का मांस उनके द्वारा पकाया हुआ खाने में हमें क्यों खराब लगे? यह हमारी बात हमारे निष्ठावंत जाति बंधुओं को अच्छी नहीं लगी। इसलिए क्रोध में वे हमें कुछ अपशब्द बोल गए तो वह स्वाभाविक है। हमें वह सहन करना चाहिए। कर्तव्य पालन करते हुए जिन सुधारकों को समाज की भावनाएँ दुखानी पड़ती हैं, उन्हें समाज का क्रोध भी कुछ समय तक सहना चाहिए यह उनका कर्तव्य है। परंतु हमारी गलतियाँ दिखाते समय उन्होंने जो मुद्दे उठाए, वे राष्ट्रहित की दृष्टि से विघातक हैं। वे कहते हैं, "देखो, हमारे हिंदू सुधारक कितने स्वाभिमानशून्य हैं! इसलाम धर्म में सूअर खाना निषिद्ध इसलिए मुसलमान प्राण भी गया तो भी सूअर नहीं खाएँगे। परंतु ये अपने आपको हिंदू कहकर युद्ध में, इंग्लैंड में गोमांस खाने की बातें करते हैं। हममें मुसलिम कट्टर धर्माभिमान नहीं इसलिए हमारी दुर्गति हो रही है।"

यह विधान प्रतिकूल है। उनकी कट्टर पोथीनिष्ठता मुसलमानों को ही हानिकारक है। सेनापति हरिसिंग नलवा की बात लीजिए। सीमा पर के पठानों पर काबुल नदी तक विजय प्राप्त करते हुए गए। उसके बाद पठानों ने उनकी सेना को घेर लिया और अनाज आना बंद कर दिया। गाँव-गाँव में जो अनाज के संग्रह थे उन्हें सिख लूटते थे इसलिए पठानों ने उनपर गाय का खून छिड़क दिया। अर्थात् सिखों ने वह अनाज नहीं खाया। तब इस हरिसिंह ने वनसूअर मारकर उसका खून अनाज पर छिड़ककर उसे शुद्ध किया। मुसलमान पठानों में आक्रोश हुआ। अब वे वह अनाज नहीं खा रहे थे। वे भूखे रहने लगे। हरिसिंह ने मुसलमान के अनाज भंडार भ्रष्ट किए इसलिए मुसलमानों का पक्ष भगवान् ने लिया, देवदूत उनकी मदद हेतु भेजे और हरिसिंह 'काफिर का' धुब्बा उड़ाया ऐसा कुछ नहीं हुआ। इसके विपरीत हरिसिंह 'काफिर की' प्रचंड विजय हो गई।

कल भारतीय मुसलमानों का युद्ध रूस के साथ होता है और उनका दाना-पानी रोक दिया जाता है तो उस जंगल में सैकड़ों जंगली सूअर होने पर भी क्या मुसलमानों को भूखे रहना चाहिए? रूस के लोग तो उसी मांस को खाकर मोटे होंगे।

अर्थात् गोमांस विषयक हिंदुओं की पोथीनिष्ठता के समान मुसलमानों की वराहमांस विषयक पोथीनिष्ठा भी राष्ट्रीय दृष्टि से घातक है। पुन: पारलौकिक दृष्टि से एक ही भगवान् की परस्पर विरोधी आज्ञाएँ उस विरोध के कारण भयग्रस्त हैं यह स्पष्ट दिखाई देता है। देव के नाम पर हुआ वह मानव का मतिभ्रम है। इस खान-पान के संबंध में विज्ञाननिष्ठ यूरोपियन का सिद्धांत प्रत्यक्ष अनुभव का हितकर है उसका हमें अनुकरण करना, खाना-पीना यह वैद्यकीय प्रश्न है, धार्मिक नहीं। जिस स्थिति में जो उचित लगेगा और पचेगा वह खाना चाहिए। इस कारण यूरोपियन लोग उत्तरी ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक कहीं भी गए तो भी अन्न होकर पोथीनिष्ठता के कारण भूखे रह गए ऐसा नहीं होता। प्याज खाएँ या लहसुन, गिलकी या मुरगी खाएँ, सूअर या मछली, पुराने करार में लिखित छप्पन अखाद्य, कुरान के पौन सौ अखाद्य और पुराणों के पाँच सौ अखाद्य पदार्थ, इन सब झंझटों और चर्चा को उन्होंने ब्रिटिश म्यूजियम की अलमारियों में बंद करके रखा है। वे प्रत्यक्ष व्यवहार में एक अद्यावत् वैद्यक हाथ में लेकर भोजन करते हैं। जो अच्छा लगेगा और पचेगा उसके हाथ का, किसी स्थान पर खा-पीकर वे मुक्त होते हैं। उन्हें हरिजन, मुसलमान, ब्राह्मण, एस्किमो, ईरानी कोई भी आचारी पंडित खाना बनाने के लिए चलता है। खाना अच्छा बनाना भर आना चाहिए। उन्हें न रोजा आड़े आता है न उपवास। भूख जोरदार लगेगी वह द्वादशी और अपच होगा उस दिन ग्यारस। रोज हुआ तो रोजा। उपवास आदि प्रत्यक्षनिष्ठ वैद्यक का विषय—पोथीनिष्ठ फालतू बातों का नहीं। पोथीनिष्ठ अंधता की बेड़ियाँ उन्होंने तोड़ीं इसलिए वे दुनिया में अप्रतिहत संचार कर रहे हैं। रोजों के दिनों में लड़ाई हुई तो क्या एक माह तक भूखे सैनिकों को लड़वाएँगे। ग्यारस आ गई तो मुसलमान रोजे रखते हैं इसलिए हिंदू भी लड़ाई छोड़कर ग्यारस का उपवास करते बैठेंगे?

एक धर्मग्रंथ तय करना भी व्यर्थ

बहुत से हितचिंतकों को ऐसा लगता है कि मुसलमानों का जैसे एक ही धर्मग्रंथ कुरान है या ईसाइयों का बाइबिल है वैसे ही हिंदुओं का भी कोई एक धर्मग्रंथ होना चाहिए। समस्त मुसलमान जैसे कुरान के नाम पर एक होते हैं वैसा एक ग्रंथ होने पर हिंदू भी एक होंगे। परंतु यह आशा भी गलत है। कुरान एक ही धर्मग्रंथ होने के कारण मुसलमानों को संगठन की दृष्टि से लाभ हो रहा है, वे सबल

बन रहे हैं यह बात जितनी ऊपर से दिखती है उतनी सच नहीं। कुरान के एक-एक वाक्य पर मुसलमानों ने अन्य मुसलमानों के खून किए हैं। खलीफाओं के सिर कटे हुए हैं। बगदाद, दमिश्क, मक्का, मदीना ये मुसलमानी नगर और धर्मक्षेत्र मुसलमानों के विभिन्न गुटों ने नष्ट किए हैं। हमारे हिंदुओं को यह इतिहास मालूम नहीं होता इसलिए उनकी हानि होती है। अरबस्थान में बहावी और सुन्नी पंथियों की दुश्मनी आज भी है। कादियानी और अहरर की दुश्मनी पंजाब में केवल धारा १४४ के द्वारा ही रोकी जा सकी है। लखनऊ में शिया-सुन्नी का आपसी बैर चल रहा है। यह केवल पोथीनिष्ठता की दुर्घटना है। यदि एक ही धर्मग्रंथ होना आज के युग में भी मुसलमानों की एकता का कारण होता तो आज यूरोपियनों ने सारे जगत् में मुसलमानों को परेशान कर रखा है किस आधार पर? यूरोपियनों को प्रबल बनानेवाला वह धर्मग्रंथ कौन सा? बाइबिल नहीं! उन्होंने तो 'बाइबिल' बंद किया और वे जाग्रत् हुए। रूस ने तो बाइबिल फाड़कर फेंक दी। जिनका एक धर्मग्रंथ है उन मुसलमानों पर बिना धर्मग्रंथ वाला रूस शासन कर रहा है। मुसलमान पिछड़े, यूरोपियन प्रगत, वे दुर्बल ये प्रबल—ऐसा क्यों? क्योंकि रूस ने अपनी समाज संस्था का आधार किसी भी धर्मग्रंथ पर न रखते हुए विज्ञानग्रंथ पर रखा है।

अतएव मुसलमानों की पोथीनिष्ठता का अनुकरण न करते हुए इस विज्ञाननिष्ठता का पालन करना चाहिए। जिस समाज ने जिस ग्रंथ के साथ स्वयं को जोड़ लिया वह समाज एवं धर्मग्रंथ यदि सहस्राधिक वर्षों से पुराना हो तो उतने ही वर्ष पिछड़ा हुआ रहेगा। धर्मग्रंथों के आधार पर समाज खड़ा करने के दिन अब लद गए। सदैव से अपने हिंदू धर्म में किसी भी एक धर्मग्रंथ रूपी पिंजड़े में न फँसने की तत्त्वज्ञान-बुद्धि की जो स्वतंत्र उड़ान दिखाई देती है वह भूषणास्पद है। वेदोपनिषद् आदि ग्रंथ पूजनीय हैं, आदरणीय हैं, यह ठीक है, परंतु वे परम प्रमाण नहीं होने चाहिए।

इस विज्ञान युग में समाज संस्था का जो भी संगठन करना हो वह प्रत्यक्ष ऐहिक और विज्ञाननिष्ठ तथ्य पर आधारित होना चाहिए। उस मार्ग पर चलकर इंग्लैंड, रूस, जापान आदि राष्ट्र बलवान् हुए हैं। अत: हिंदू राष्ट्र भी बलवान् हुए बिना नहीं रहेगा।

(किर्लोस्कर, जून १९३७)

□

ॐकार की उपपत्ति तथा गजानन की मूर्ति

'ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म'

हमारे वाङ्मय में औपनिषदीय काल से ॐकार का अवर्णनीय महत्त्व गाया गया है। ऐसा क्यों? जिज्ञासा से यदि इसकी खोज में हम पूर्व के ग्रंथों को पढ़ने लगें तो बहुत से स्पष्टीकरण कुछ सांप्रदायिक, कुछ श्रद्धामय और तर्कहीन तथा कुछ भोलेपन के होने के कारण बुद्धिवादी तर्क स्वीकार करने योग्य नहीं। ॐ यह अक्षर किसी संप्रदाय के मत में ब्रह्मा, विष्णु, महेश है तो कुछ संप्रदाय उसे उत्पत्ति-स्थिति—लय से जोड़ते हैं। विभिन्न देवताओं के प्रतीक के रूप में ॐ की मान्यता है। परंतु वह एक सांप्रदायिक संकेत है। ॐ यानी प्रणव-प्रणव में सर्ववेद, सर्वज्ञान का अंतर्भाव होता है। ॐ अर्थात् वेद, ॐ अर्थात् अक्षर ब्रह्म, ॐकार के बिना पठन व्यर्थ है आदि अनेक विधान ग्रंथों में मिलते हैं। परंतु ॐ का ही इतना महत्त्व क्यों? ॐ के इतने महत्त्व का क्या कारण हो सकता है? इसलिए श्रद्धा की दृष्टि से ये विधान सही लगें, फिर भी ॐ का मूल रूप युक्तिसंगत तरीके से समझ लेने के लिए अन्यत्र कुछ जानकारी प्राप्त होती है क्या? देखें।

प्राचीन ग्रंथों में से कुछ ग्रंथों में ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं कि ॐ अक्षर अ, ऊ, म् इन तीन अक्षरों से मिलकर बना है। अ + उ = ओ इस प्रकार ओ३म्, यह बात तो बुद्धि को पटनेवाली है।

परंतु अ, ऊ, म् इन तीन अक्षरों पर सांप्रदायिकों ने जो मन में आए वे अर्थ लगाकर ओ३म् का महत्त्व बढ़ाया है। कोई कहता है अ यानी ब्रह्म, ऊ अर्थात् विष्णु और म् अर्थात् महेश। कोई अ को शक्ति, ऊ को स्थिति, म् को लय मानता है। कोई इन सबके अलग ही अर्थ लगाता है। ये परस्पर विरोधी अर्थ एकत्र करके उसमें से सही अर्थ लगाने के लिए निश्चित साधन नहीं। क्योंकि उनका प्रत्येक अर्थ केवल पोथीनिष्ठता पर आधारित है।

इसमें दिक्कत यह है कि ओ३म् अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश या सृष्टि-स्थिति-लय इस प्रकार किसी भी त्रिपुटी को मान लेने से ॐ का अद्वितीयत्व कौन सा है?

चित्रलिपि

लिपिशास्त्र का ऐसा एक सिद्धांत है कि लिपि का मूल चित्रों में है। मनुष्य प्रारंभ में अपने विचार प्रकट करने के लिए चित्र बनाने लगा। लेख का अर्थ खोदना, चित्र बनाना भी होता है। प्रथम लेख अक्षरों का नहीं था। अक्षर विचार प्रकट करने की विकसित स्थिति है। चित्रलिपि मूल लिपि है। चीन, प्राचीन मिस्र देश की प्राचीन लिपि चित्रलिपि ही है। वृक्ष, पक्षी, हाथ, पाँव, घर आदि चित्रित किए जाते थे। घर शब्द लिखना हो तो घर के समान कोई चित्र निकालना। मनुष्य की प्राथमिक अवस्था में यही पद्धति स्वाभाविक रूप से उसे अवगत हुई। इस चित्रलिपि से अक्षरलिपि या वर्णों की खोज का कैसा विकास हुआ यह इस लेख का विषय नहीं है। वस्तुओं का निर्देश उनकी आकृतियों से करना कितना कठिन कार्य होगा। वस्तुएँ असंख्य, उनके समूह करके उसके लिए आकृतियाँ तय कीं तो भी सैकड़ों चित्र उस लिपि में रहेंगे, यह आज की चीन की चित्रलिपि से भी ज्ञात होता है। इसमें से मार्ग निकालने के लिए वर्णों की खोज की गई। असंख्य वस्तुओं के असंख्य शब्द होते हैं। बार-बार उच्चारित होनेवाले वर्णों को समूहबद्ध करके उनके लिए संकेत निश्चित कर दिए जाएँ तो असंख्य शब्दों को प्रदर्शित-चित्रित कर सकेंगे, लिख सकेंगे। यह युक्ति एक महान् खोज थी। मनुष्य का भविष्य बदलनेवाले कुछ खोजों में चित्रलिपि युग से वर्णलिपि युग को जन्म देनेवाली यह खोज महत्त्वपूर्ण थी। उच्चार करने की आगे की सीढ़ी का अनुक्रम पहले अंदाज से तय होता था। उसको एक नैसर्गिक और शास्त्रशुद्ध सूत्र में डालना मानवी बुद्धिमत्ता की कसौटी थी।

वर्ण-व्यवस्था

हम हिंदुओं के लिए यह स्वाभिमान की बात है कि अन्य अनेक प्रकरणों में जैसा होता है वैसा इस प्रकरण में भी अपनी भारतीय बुद्धिमत्ता ही इस कसौटी पर खरी उतरी। आज उपलब्ध जागतिक साहित्य के निर्विवाद प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि वर्णमाला का शोध हिंदू बुद्धिमत्ता का परिणाम है। वर्णमाला के अनुक्रम का शास्त्रशुद्ध सूत्र तो निःसंशय रूप से हमारे सूक्ष्मदर्शी कुशाग्रबुद्धि ऋषियों ने ढूँढ़ निकाला। वे सूत्र अर्थात् मनुष्य के नैसर्गिक ध्वनियंत्र से ध्वनि जैसे-जैसे प्रकट

होती है वैसा ही उसका वर्णस्थान निश्चित करना—इसकी अत्यंत मार्मिक और संपूर्ण चर्चा अपने प्राचीन ग्रंथों में है। मूल अ, इ, उ, आदि स्वर ध्वनि नैसर्गिक रूप से जिस-जिस स्थान पर पड़ते हैं उनका अनुक्रम पकड़कर उस मूल ध्वनि पर आघात होने से जो व्यंजन प्रकट होता है उसका कंठ, तालु, दंत्य, ओष्ठ्य इन स्थानों के अनुसार वर्गीकरण करके उनके विभाग कंठ्य, तालव्य, दंत्य, ओष्ठ्य इस प्रकार किए हैं। यह व्यवस्था जितनी मौलिक (original) उतनी ही अबाधित थी। क्योंकि नैसर्गिक ध्वनियंत्र जो मुख है, इसपर ही अधिष्ठित होने के कारण, और मनुष्य का मुख जैसा है वैसा ही रहेगा इस कारण वर्ण-व्यवस्था भी अबाधित रहेगी। संपूर्ण मानवजति की समस्त भाषाओं पर यही नियम लागू होगा।

इसकी आगे की सीढ़ी यानी ये वर्ण लिखने के प्रकार को निश्चित करना। चित्रलिपि, शंकुलिपि, कोनलिपि आदि अनेक सीढ़ियों से जो आकृतियाँ शब्द लिखने में स्वीकारी गई—उन्हीं में अनेक आकार आज की हमारी लिपि के वर्ण लिखने में उपयोग में लाए गए। जगत् में प्रचलित समस्त अक्षर रूप किस प्रकार विकसित हुए यह प्रश्न आज तर्क-वितर्क में फँसा हुआ है। परंतु इस लेख में हम इतना ही लिखना चाहते हैं कि भारतीय तत्त्वज्ञों ने उपर्युक्त वर्णों का उच्चारण करते समय मुख के विभिन्न अंगों के मोड़ के अनुसार वर्णों की आकृतियाँ भी निश्चित कीं। जिह्वा की होनेवाली हलचल पर आधारित अक्षराकृति बनाना लगभग असाध्य था। परंतु ऐसा प्रयत्न किया गया था। वर्णों का उच्चारण करते समय जिह्वादि अंगों का घुमाव मुख में होता है वही चित्र, वही आकार उस वर्ण का अक्षर रूप होता था। यह तत्त्व कुछ अक्षर-रूपों के प्रकरण में उपयोग में लाया गया था। इसका निर्विवाद सबूत अ, आ, ऊ और ॐ इन अक्षरों में अभी भी मिलता है। अ मूल ध्वनि का आकार 'अ' ही क्यों? उसके उच्चारण में कंठ, जिह्वा, ओष्ठ सीधे रखे जाते हैं। कंठ का आकार 'उ' ऐसा, जिह्वा '—' ऐसी। ओष्ठ के खुले अंतर की सीधी रेखा, इस प्रकार। इसलिए 'अ' अक्षर का उच्चारण करते समय बननेवाले मुख के मोड़ का रेखाचित्र, संकेतात्मक 'अ' ऐसा बना सकेंगे। इसलिए 'अ' उच्चारण का नैसर्गिक आकार 'अ' जैसा ही होगा और हुआ। 'आ' अर्थात् अधिक फैलाए हुए ओठ इसलिए दो खड़ी मात्राएँ। वही स्थिति 'ऊ' की। कंठ 'उ', जिह्वा '—' ओठ सीधे खोले हुए 'आ' के समान नहीं होते इसलिए सिरा थोड़ा झुका हुआ —'ऊ'। वह प्रमुख चित्र ही 'ऊ' का रूप हुआ। उपर्युक्त तत्त्व अपने तत्त्वज्ञों में से कुछ ने कल्पित किया और उपयोग में लाने का प्रयास किया। यह यद्यपि निश्चित था तो भी उसका प्रयोग कितना किया यह कहना कठिन है। आज के अक्षर के रूप में तो उसका पता भी नहीं लगता। परंतु निदान 'ॐ' अक्षर के लिए भी वह तत्त्व उपयोग

में लाया गया यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

हमें लिपि विषय का विचार करते समय यह उच्चारणानुसार आकाराकृति की कल्पना अपने प्राचीन ऋषियों की थी यह ध्यान में आने के पूर्व ओउम् अक्षर परंपरा से ऐसा क्यों बनाना चाहिए—यह प्रश्न था। परंतु इस तत्त्व की कुंजी मिलते ही, यह प्रश्न हमें सहजता से हल हो गया। ॐ अक्षर ऐसा क्यों लिखना चाहिए, इसका कारण कहीं पर भी स्पष्ट रूप से नहीं दिया गया था। हम इस कारण से सहमत हैं। कोई किसी ग्रंथ में इसका स्पष्ट उल्लेख दिखा देगा तो अच्छा ही है। हमारी यह उपपत्ति उस प्राचीन आधार से दृढ़ हो जाएगी। यह उपपत्ति ऐसी है कि 'ॐ' अक्षर ऐसा ही क्यों लिखना चाहिए और उसे अक्षरब्रह्म क्यों कहा गया है?

सभी उच्चारण कंठ-जिह्वा-ओष्ठ इस मार्ग में आघात, गति आदि उपाधि से होते हैं। अर्थात् उच्चारण का मूल कंठ से ओष्ठ तक का मुख है। तब स्फुट, फुटकर, प्रत्येक अक्षर यह जो मूल, अस्फुट, अविशेष अविकृत उच्चारण का विकृत रूप है, उसके उच्चारण की मूल प्रकृति लिखनी हो तो मुख के चित्र से ही होगी। उपर्युक्त तत्त्व के अनुसार यह सबकुछ है। इसलिए कंठ, जिह्वा और ओष्ठयुग्म खोलकर मिलाए ऐसा ॐ का रूप होता है। मानवी ध्वनियंत्र का यह मूल चित्र अव्याकृत ध्वनि लेखन में व्यक्त करने के लिए यही आकार नैसर्गिक है। किसी व्यक्ति की केवल इच्छानुसार बनाया हुआ नहीं, सांकेतिक भी नहीं। एकदम वस्तुस्थिति पर आधारित आकार है।

सारांश संक्षिप्त में यह कि सभी उच्चारों का वाचा का ओउम, कंठ, स्थिति, जिह्वा, खोलकर बंद किए ओठ इसलिए संपूर्ण उच्चारों की प्रकृति अर्थात् अक्षर ब्रह्म, उन अंगों के आकार के अनुसार लिखे गए ॐ यह रूप सिद्ध होता है।

कुछ लोग अनुनासिक का अंतर्भाव करने के लिए 'ऊ' को 'ऊँ' चंद्रबिंदुयुक्त लिखते हैं वह उपर्युक्त उपपत्ति के अनुसार ही है।

ॐ की महिमा

यह उपपत्ति बुद्धिगम्य और युक्तिसंगत भी है। इतना ही नहीं अपितु ॐ के इस अर्थानुसार उसकी महिमा कितनी भी अतिरंजित और अतिशयोक्तिपूर्ण लगे तो भी वह समझ सकते हैं। इसका कुछ अर्थ है। इसके दो-चार उदाहरण देखें—

१. ॐ अक्षर उपर्युक्त स्पष्टीकरणानुसार प्रत्येक उच्चारण में और इसीलिए संपूर्ण वाङ्मय में होने के कारण तथा सभी अक्षरों का यह सामान्य घटक होने के कारण उसे अक्षरब्रह्म कहते हैं।

२. वस्तु के भिन्न नाम भिन्न अक्षरों से (जैसे ईश, चांद, सूर्य) प्रकट किए

जाते हैं। अर्थात् संपूर्ण वस्तुजात के अनुसार जो मूल व्रत उसका संबोधन करना हो तो संपूर्ण अक्षरों में, शब्दों में, वाङ्मय में अनुस्यूत जो मूल ॐ, उससे संबोधन करना प्रशस्त युक्त है, अत: इसे ॐ कहा है यह बात युक्तिसंगत है। प्रणव आकार अर्थात् ब्रह्म।

३. देवी-देवताओं की स्तुति से भरा हुआ वेद कहने के पूर्व परब्रह्म का नामोच्चारण, स्मरण आवश्यक, इसलिए किसी भी मंत्र आदि के पठन के पूर्व ॐ कहना चाहिए। यह भी स्पष्ट होता है।

४. ॐ इस एक अक्षर में समस्त वाङ्मयीन ज्ञान, वेद बीज रूप में समाविष्ट हैं ऐसा क्यों कहते हैं यह उपर्युक्त विवेचन से समझ में आता है। सभी अक्षर ॐ में बीज रूप से हैं। क्योंकि जिन कंठ, जिह्वा, ओष्ठ की सहायता से सभी अक्षर उच्चारे जाते हैं ॐ उनके मूल अव्याकृत आकार का ही प्रतीक है। इसलिए सभी अक्षरों का वह बीज तथा समस्त वाङ्मय एवं वेदों का भी बीज है।

उपर्युक्त विचारों का ऐसा अर्थ लगता है। अतिशयोक्ति होते हुए भी समझ में आता है। ॐकार की अन्य प्रशंसा केवल अतिरंजित, अर्थवादी, भावुक श्रद्धा का और उस समय के धार्मिक भोलेपन का साक्ष्य है। वेदों में मेढक के ऊपर रचित एक सादे गीत को 'सूक्त' मंत्र कहकर गौरव करने से और उसे बोलने से वर्षा होती है, मेढक देवता के प्रसन्न होने एवं इस सूक्त पठन से धन-धान्य प्राप्त होता है, पुण्य मिलता है आदि अवास्तविक वर्णन करनेवाले उस समय के अर्थवादी ने ॐकार के पावित्र्य का, महिमा का, धर्मभीरुता और लहरी-संकेतों का तथा प्रशस्ति का पुराण के केवल उस समय के लोकमानस का परिचय करा देने के लिए उपयोगी है। बुद्धि और तर्क को पटे ऐसा उसमें कुछ मिलने वाला नहीं। उसके मूल रूप की खोज करते समय उपर्युक्त उपपत्ति इतनी ही बुद्धिगम्य और युक्तिसंगत प्राप्त होती है।

उस काल में गहन तत्त्वों को हमारे महर्षियों ने अपनी बुद्धि के प्रभाव से ढूँढ़ निकाला या तत्त्वज्ञान के अमूर्त सत्य को मूर्त स्वरूप देने के लिए तत्त्वज्ञान के साथ मूर्तिकल्प भी प्रगति करता गया। सांख्य, शाक्त, बौद्धों के दर्शन में अनेक गहन प्रमेय और सिद्धांत अपने मूर्तिकल्प ने साकार किए हैं। उनमें से कुछ मूर्तिकल्प की पृष्ठभूमि की कल्पनाएँ गहन, सुंदर, सूचक हैं कि उनके सामने ग्रीस का शिल्प या आज का मूर्तिशिल्प भी फीका पड़ता है। विश्व के साथ मनुष्य का संवाद पंचज्ञानेंद्रियों द्वारा ही हो सकता है। इस सत्य को, ज्ञानमय सृष्टि को व्यक्त करनेवाला पंचमुखी महादेव, कालशक्ति का संहार करनेवाली काली, वह काव्य कला की देवी सरस्वती

जान सकते हैं। कितने अनुतथ्य, अनुरूप, अनुपम मूर्तिकल्प हैं ये कैसे बताएँ! तत्त्व के समान भाव-भावनाओं की, बहुविध अमूर्त पदार्थों की व्यक्त मूर्तियों की कल्पना करने की अपनी प्राचीन संस्कृति को चाह थी। संगति की विभिन्न राग-रागिनियों की मूर्ति देखें। त्रिदोषादि बीमारियों को भी देवता समझकर उनके गुणावगुण के अनुसार ऐसी मूर्तियों की कल्पना की गई, उन्हें चित्रित किया गया। आज यह प्रवृत्ति समाप्त हो गई है अन्यथा प्लेग को एक देवता मानकर जाँध में, बगल में, कान के पास भयंकर गाँठ है ऐसी प्लेग की साकार मूर्ति का तैयार चित्र नहीं, एक देव या दैत्य आज हमारे पूजास्थान पर सुप्रतिष्ठित होकर बैठ जाता। क्योंकि पदार्थों का दैवीकरण और मूर्तिकरण तुरंत करने की ग्रीकों के समान हमारी प्राचीन संस्कृति को भी बहुत आदत थी। कुछ प्रकरणों में वे मूर्तिकल्प अति गहन तथा अति सुंदर हैं, और कुछ सामान्य और उथले भी हैं।

ॐ की मूर्ति अर्थात् गणपति गजानन

दैवीकरण और मूर्तिकरण की प्रवृत्ति से ॐकार के समान वैदिक काल में पावित्र्य और महत्त्व प्राप्त देवता का रूप साकार करने हेतु आगे बढ़ना स्वाभाविक था। ॐ की मूर्ति बनानी हो तो प्रथम दिक्कत यह थी कि मनुष्य का तो क्या किसी का भी मुख उस अक्षर से मेल नहीं खाता था। किसी मूर्तिकार को उसपर सोचते-सोचते एक युक्ति मिल गई। उस अक्षर को यदि खड़ा करके देखें तो बिलकुल हाथी के मुख के समान दिखता है। उसने मानवी देह पर हाथी के मुख की कल्पना कर ली। ॐ की देहधारी मूर्ति बनानी हो तो उस अक्षर का शास्त्रशुद्ध और तर्कशुद्ध आकार ध्यान में रखकर मूर्ति बनाई जा सकती थी। ॐकार की मूर्ति अर्थात् गजवदन, गजानन। ॐकार को उपर्युक्त कथित महनीय विशेषण और महत्त्व प्राप्त हुआ था और वह सारा गजानन पर संक्रमित हुआ। वाङ्मय की देवी, कविता, कला, नृत्य-गीत की देवी सरस्वती का वह स्वामी, ॐ कार ब्रह्मस्वरूप इसलिए स्मरणीय और सभी वैदिक धर्मकार्यादि के पूर्व गजानन पूज्य इसलिए विघ्ननाशक। सभी विद्याओं का, लेखन का, वाणी का वह उद्‌गम स्थल इसलिए प्रथम नमस्कार गणेश को, श्री गणेशाय नमः। उसके बाद अ, आ, इ, इत्यादि।

गजानन की जन्मकथा

अब इस अनुरूप मूर्तिकल्प के मार्ग में एक कठिनाई रह गई थी। मानव देह पर हाथी का मुख कैसे आ गया? पुराणों ने उसपर भी उपाय सोच लिया। पार्वती एक बार स्नान कर रही थी तब उसने अपने शरीर से निकलनेवाले मल से बने हुए

गणपति नाम के लड़के को पहरे पर नियुक्त किया। किसी को भी अंदर न आने देने की उसे आज्ञा की। इस बीच में शंकर भगवान् आए और अंदर जाने लगे तो उस कुमार ने उन्हें रोका। इस बाधा से संतप्त शंकर भगवान् ने कुमार का सिर काट दिया। जब सही बात शंकर को मालूम हुई तब उन्होंने हाथी का सिर लाकर उस कुमार को जीवित किया। यह अद्भुत कथा इस प्रकार तैयार हुई। और पुराणों ने गणपति, गजानन कैसे हो गए यह कथा बना ली।

इस कथा में भी एक रूपक है। मल से यानी रजोगुण से कार्यप्रवृत्ति ने जन्म लिया। रजोगुण का लक्षण कार्य, गणपति कार्यकर्ता देव। परंतु इस कथा के रूपक को स्पष्ट करने का यह समय नहीं है। विषय भी केवल गजानन की मूर्ति के लिए ही है और रूपक को कितना भी स्पष्ट करें या किया तो भी वह कहने के लिए पुराणकथा, केवल मनोरंजन।

ॐकार की उपपत्ति का और गजानन की मूर्ति का रहस्य ऐसा है। उसका तथ्य और सही इतिहास बस इतना ही है।

उपसंहार-गणानां त्वां गणपतिं हवामहे

गणपति की मूर्ति ॐकार की मूर्ति है यह यद्यपि सही है तो भी इसे नहीं भूलना चाहिए कि गणपति यानी केवल ॐकार ही नहीं है, गणपति अर्थात् गणानां पतिः, गण अर्थात् राष्ट्र। उस राष्ट्रशक्ति का, संगठन का देवता यानी गणपति। वैदिक काल से ही अपने भारतीय राष्ट्र का वह गणदेवता है। उसका उत्सव आज महाराष्ट्र में तो एक राष्ट्रीय महोत्सव जैसा होता है। आज हिंदू-संगठनों के हाथ का यह गणपति उत्सव एक अत्यंत प्रबल शस्त्र है। लोकमान्य तिलक के परिश्रम और पुण्य से उसको आज की रीति का राष्ट्रव्यापी रूप प्राप्त हुआ है। परंतु इस प्रथा से केवल स्पृश्य बांधवों का ही संगठन हो पाया है। अब हमें इस महोत्सव के मूल उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसकी कक्षा में स्पृश्य-अस्पृश्य आदि समस्त हिंदूमात्र को संगठित करना चाहिए। पूर्व से होनेवाले गणेशोत्सव से यह सधनेवाला नहीं। इसके लिए प्रत्येक नगर में बड़े-बड़े अखिल हिंदू गणेश उत्सव स्वतंत्र रूप से शुरू करने चाहिए, वही एकमात्र उपाय है। अपने स्पृश्य बंधुओं के परंपरागत स्पृश्य उत्सवों से यथासंभव मनःपूर्वक सहयोग करते हुए हमें यह अखिल हिंदू गणेशोत्सव भी मनाना चाहिए। इसमें किसी प्रकार जातिभेद या ऊँच-नीच का भेद न मानते हुए भंगी बांधवों को भी समस्त हिंदुओं के समान नियमों के अनुसार सबके साथ हाथ बढ़ाना संभव होना चाहिए। परंतु प्रश्न उठता है मूर्तिपूजा धार्मिक अंधविश्वास नहीं है क्या? बहुत से प्रामाणिक हिंदू संगठक बुद्धिवादी लोगों द्वारा यह प्रश्न बार-बार

उठाया जाता है और हमें भी आक्षेप है इसलिए उसका निराकरण करना इष्ट है। उनका कहना है कि धर्मभीरुता को बढ़ानेवाली मूर्तिपूजा में हम भाग क्यों लें? तो भी इतना कहना होगा कि मूर्तिपूजा में उतनी धर्मभीरुता नहीं होती। धार्मिक या भाविक दृष्टि छोड़ दें तो भी, केवल राष्ट्रीय दृष्टि से इस लोक के लाभ का ही विचार किया तो भी मूर्तिपूजा मिथ्याचार नहीं ठहरती। क्योंकि जैसी एक धार्मिक पूजा होती है वैसे ही एक बौद्धिक (rationalist) मूर्तिपूजा भी होती है।

पत्थर या मिट्टी की मूर्ति ही सजीव द्वैत बनकर धूप की सुगंध लेती है, फूल स्वयं सूँघती है, मोदक भी गुप्त रूप से खाती है। मोदक नहीं दिए तो वह मूर्ति क्रोधित होती है ऐसे पत्थर को ही भगवान् माननेवाली मूर्तिपूजा को बुद्धिवादी अज्ञान समझेगा। सही बुद्धिवादी इस दृष्टि से गणपति की ओर नहीं देखेगा। परंतु हमारे हिंदू राष्ट्र संगठन का प्रतीक, राष्ट्रशक्ति, गणशक्ति की मूर्ति इस दृष्टि से उसका उत्सव, पूजा, करने के लिए बुद्धिवादियों को कोई आपत्ति नहीं। मूर्ति या मनुष्य-मूर्ति का चित्र बनाना भी पाप है ऐसा समझनेवाले कट्टर मुसलिमों का मूर्तिद्वेष जैसा धर्म-पागलपन है वैसा ही संगठन का प्रतीक मानकर भी गणशक्ति की मूर्ति की मूर्तिपूजा निषिद्ध मानकर गणेशोत्सव में भाग न लेना भी बुद्धि का पागलपन है। अमेरिका में बहुत ऊँची स्वतंत्रता की स्त्री-देह प्रतिमा है। उसका वे फूल-मालाओं से राष्ट्रीय सत्कार कर उत्सव करते हैं। फ्रांस देश में सभी प्रांतों को भगिनी संघ मानकर उनकी प्रतिमाएँ इकट्ठी स्थापित की गई हैं। राष्ट्र-एकता के दिन में उनका बड़ा उत्सव मनाया जाता है। नास्तिक रूसी बोल्शेविकों ने भी लेनिन की मोम की प्रचंड मूर्ति बनाकर उसका पूजन चलाया है? पिता चित्र, शिवाजी की प्रतिमा, राष्ट्रध्वज के समान ही यह राष्ट्रीय संगठन की गणशक्ति की मूर्ति गणपति! हमारे पूर्वाचार्यों की शताधिक पीढ़ियों की कर्मशक्ति के मजबूत आधार पर हमारे राष्ट्रीय संगठन की गणशक्ति की परंपरागत मूर्ति खड़ी हो गई है। पारलौकिक या धार्मिक या भाविकता से कुछ लोग उसकी पूजा करेंगे। बुद्धिवादी लोग केवल राष्ट्रीय दृष्टि से ही उसकी ओर देखेंगे। एक प्रतिमा भाव से देखेंगे, एक चित्र समझकर देखेंगे और हिंदू संगठन का आदर वे इस मूर्ति के या प्रतीक के सत्कार में या उत्सव में प्रकट करेंगे। राम के मंदिर में हमारे हिंदू बंधु वह मूर्ति भगवान् समझकर पूजेंगे। बुद्धिवादी उनमें से किसी भी श्रद्धा से जकड़े हुए नहीं हैं तो भी राष्ट्र के एक अत्यंत पराक्रमी राष्ट्राधिपति का स्मारक मानकर उस मूर्ति की ओर देखेंगे। वे राष्ट्रीय भावना से उसकी पूजा करेंगे। इतना ही अंतर है। परंतु राजा रामचंद्र के मंदिर में या महोत्सव में भाग ही नहीं लेना ऐसा लोकसंग्रह और राष्ट्रीय संगठन को विघातक अतिरेक वे नहीं करेंगे। ऐसा अतिरेक बुद्धिवाद नहीं, धर्मकट्टरता

के समान बुद्धि का पागलपन है। उपर्युक्त धर्मभीरुता भी कभी-कभी बहुत टिकाऊ होती है।

इसके आगे जाकर हम यह स्पष्ट कहना चाहते हैं कि जो बुद्धिवादी है उसे उपयुक्ततावादी होना ही चाहिए। उसे समाजशास्त्र का यह सिद्धांत ज्ञात होना चाहिए कि लोकसंग्रह कभी भी व्यक्ति-व्यक्ति के अकेले चलने से सफल नहीं होता। सभी व्यक्तियों का जो सांघिक सामान्य सूत्र होगा यह उसपर ही आधारित होगा। इसलिए कोई एक मान्यता या रूढ़ि धर्मभीरु होगी फिर भी यदि उसके योग से समाज-मानस के परिवर्तन से कुल मिलाकर राष्ट्रीय हित ही है तो इस धर्म अज्ञानता को लोकसंग्रह का एक अस्थायी साधन मानकर वह कर्ता बुद्धिवादी उपयोग करेगा। परंतु इसके कारण कुल मिलाकर राष्ट्र का जो अहित होगा उस सबको वह अपने से दूर करेगा। अन्य लोगों की ओर दुर्लक्ष्य करेगा। स्वयं धर्मभीरु न रहते हुए धर्मांधता या किसी भी लोकश्रेय को, राष्ट्रहित को धक्का न पहुँचाते हुए इस प्रकार उच्छेद करते समय वह राष्ट्र के संघठन को आवश्यक प्रमाण में राष्ट्रीय शक्ति के लिए पोषक ऐसी किसी भी रूढ़ि को केवल अज्ञान के कारण नहीं ठुकराएगा। इस दृष्टि से देखते हुए आज अपने हिंदू राष्ट्र के संगठन से एक प्रबल शस्त्र होनेवाले, आजकल के गणपति उत्सव जैसे राष्ट्रीय महोत्सव में हिंदू संगठक पोथीजात जातिभेद उच्छेदक बुद्धिवादी सुधारकों को अवश्य भाग लेना चाहिए। उनको अखिल भारतीय गणेशोत्सव स्वतंत्र रूप से स्थापित करके और स्पृश्य-अस्पृश्य सबको मिलाकर स्पर्शबंदी तोड़नी चाहिए। भंगी से गीता-गायत्री का पठन कराना चाहिए वैसे ही गणपति की प्रकट पूजा वेदमंत्रों से करते हुए वेदोक्त बंदी तोड़नी चाहिए। शुद्धि समारोह करके और शुद्धिकृत को देवपूजा करने देकर शुद्धिबंदी तोड़नी चाहिए। और सबसे आवश्यक बात यह है कि पूर्वास्पृश्य बंधुओं को पंक्ति में बैठाकर, समाचारपत्रों में नाम छापकर, सहभोज की प्रथा शुरू कर देनी चाहिए। रोटीबंदी की बेड़ी इस प्रकार तोड़ देनी चाहिए।

हम फिलहाल सामाजिक समस्या के संबंध में बता रहे हैं, इसलिए इतना ही कहते हैं कि सामाजिक क्रांति को चारों तरफ से उठाना होगा और इस प्रश्न को हल कर लेना चाहिए। इसलिए स्थान-स्थान पर गणेशोत्सव शुरू करें। खुले सहभोज का आयोजन शुरू करें।

□

हर जगह अखिल हिंदू गणपति की स्थापना करें!

परंपरा से चल रहे हिंदू महोत्सवों में से गणेशोत्सव संस्था हिंदू संगठन के लिए अत्यंत उपकारक है। यह संस्था अनेक पीढ़ियों के और सदियों के सतत श्रम के मजबूत आधार पर खड़ी है। महाराष्ट्र में हिंदुत्व की प्रबल भावना से समस्त हिंदू राष्ट्र अनुप्राणित करने का कार्य या तो पंढरपुर का महोत्सव करता है या दूसरा यह राष्ट्रीय गणेश उत्सव।

उसमें भी एक महत्त्व का अंतर यह है कि पंढरपुर का महान् उत्सव हिंदुओं को धार्मिक एकता की रश्मि से संगठित करता है; लेकिन यह गणेशोत्सव राष्ट्रीय एकता की भावना भरकर हिंदुओं को एकप्राण, एकराष्ट्र बना सकता है।

विट्ठल की या गणेशोत्सव की धार्मिक आराधना से कौन-कौन से पारलौकिक फल मिलते हैं, कितनी दूब चढ़ाने से, संकीर्तन से या मोदक चढ़ाने से स्वर्ग की कितनी सीढ़ियाँ चढ़ सकते हैं आदि प्रश्न इस लेख का विषय न होने के कारण उसे छोड़कर यह राष्ट्रीय महोत्सव आज की स्थिति में अपने हिंदू राष्ट्र की भौतिक शक्ति बढ़ाने और राष्ट्रीय संगठन मजबूत करने के लिए कितना उपयोगी है उसको इस राष्ट्रीय दृष्टि से और प्रमुखता से देखना है।

गणेशोत्सव आरंभ से ही प्रवृत्ति परक है। उसका स्वरूप सार्वजनिक है। उसका अधिष्ठाता देवता राष्ट्रीय है। गणों का जो पति वह गणपति। वह देवता वैयक्तिक मूर्ति न होकर गणशक्ति की, राष्ट्रीय जीवन की, हिंदू संगठन की मूर्ति है। झाँकी, मिष्टान्न, भोजन, गीत, नृत्य, मनोरंजन, पान-सुपारी, इत्र-गुलाब, ढोल, बाजा, शहनाई आदि आवाज, जनसमुदाय, हाथी, घोड़े, झंडे, सवार, बंदूकें, तोपें आदि धूम-धड़ाके के साथ सहस्रों नर-नारियों के राष्ट्रीय जयघोष में गणपति की सवारी विमान में विराजमान होकर निकलती है। इस महोत्सव में ये समस्त विधि-विधान, परंपरा और प्रक्रिया सार्वजनिक हैं। प्रवृत्तिपरक हैं, राष्ट्रीय हैं। उसमें भी आज की स्थिति में उस महोत्सव को अधिक-से-अधिक उपयुक्त बनाने के लिए

आवश्यक मोड़ लोकमान्य ने अपने पराक्रम से देकर उस महोत्सव को पहले ही आधुनिक बना दिया है। यह गणपति उत्सव हिंदू संगठन के हाथ का आज का प्रबल औजार है। हमारे हिंदू राष्ट्र का, राष्ट्रीय आकांक्षा का वह एक प्रचंड ध्वनिक्षेप और ध्वनिवर्धक है।

मूर्तिपूजा के संबंध में एक नया आक्षेप

इस सांघिक महोत्सव को अद्यावत् राष्ट्रीय स्वरूप देते समय जो परिवर्तन करने पड़े उसपर किए जानेवाले संभावित आक्षेपों का निराकरण लोकमान्यादि आद्याचार्यों ने किया हुआ है। उन आक्षेपों में मूर्तिपूजा के अंगों के संबंध में भी आक्षेप आ चुके थे। परंतु वह आर्यसमाज आदि के वैदिक या धार्मिक दृष्टिकोण का था। उनके कथनानुसार मूर्तिपूजा वैदिक नहीं, धार्मिक भी नहीं। परंतु उस राष्ट्रीय महोत्सव से बड़े-बड़े लाभ होते हैं। लोकसंग्रह ही जिसका ध्येय, उसमें कोई एक पक्ष, किसी दूसरे पंथ को या व्यक्ति को नापसंद हो तो भी समन्वय की दृष्टि से उस ओर उपेक्षा भाव से देखकर, कुल मिलाकर उत्सव को राष्ट्रहितवर्धक जानकर उनका विरोध करना लोकहितघातक हो सकता है, अत: आर्यसमाज आदि वैदिक या प्रार्थना समाजवादी धार्मिक सुधारक पंथों ने विवेक दिखाया और आज इस राष्ट्रीय महोत्सव में अनेक आर्यसमाजी नेता मूर्तिपूजा की ओर दुर्लक्ष करते हुए भी उनके राष्ट्रीय कार्यक्रमों में अवश्य भाग लेते हैं। न्यायमूर्ति रानडे प्रार्थना-समाज से संबद्ध थे, परंतु लोकसंग्रह की व्यापक राष्ट्रीय दृष्टि से मूर्तिपूजा के इस नगण्य प्रश्न को महत्त्व न देते हुए राष्ट्रीय महोत्सव में भाग लेते थे। इस लेख में उत्सव का धार्मिक या पारलौकिक पक्ष बिलकुल विचार में नहीं लेना है। उस उत्सव की ओर केवल भौतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से ही देखने के कारण मूर्तिपूजा के धार्मिक पक्ष की चर्चा का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है।

परंतु गत डेढ़-दो वर्षों में हिंदू संगठनों के कर्मठ उपासकों में उस संगठन की ओर केवल राष्ट्रीय दृष्टि से ही देखनेवाला, पारलौकि लाभालाभों का विचार न करते हुए मौलिक हो या पारलौकिक—सभी प्रश्नों का हल बुद्धिवाद की कसौटी पर परखनेवाला वर्ग बढ़ रहा है। उनमें से बहुत लोगों को मूर्तिपूजा यदि बुद्धिवाद की कसौटी पर नहीं टिकती हो तो वह जिस पूजा में चलती है उस पूजा में स्वयं भाग लेना मिथ्याचार है यह शंका उन्हें आए बिना नहीं रहती। मूर्तिपूजा के संबंध में इस राष्ट्रीय महोत्सव पर पूर्व में जो आक्षेप होता था वह धार्मिक लोगों का होता था। परंतु यह आक्षेप मूर्तिपूजा के विरुद्ध होने पर भी वह बौद्धिकों का होता था। मूर्ति वेदोक्त है या नहीं यह आर्य-समाजीय प्रश्न या ईश्वरीय उपासना

का, मूर्तिपूजा निराकार प्रभु को साकार संकुचित मानने के पाप से लिप्त होने से अधार्मिक है, यह निर्गुण निराकारवादियों का प्रश्न—ये दोनों प्रश्न धार्मिक हैं। परंतु उनसे इन बौद्धिकों के आक्षेपों का कुछ भी संबंध नहीं है। मूर्ति के संबंध का उनका आक्षेप अधार्मिक है। मूर्ति वेदों में हो या न हो, उसकी पूजा से देव हँसा क्या या रोया क्या? बौद्धिक लोगों को उस लफड़े से कुछ भी लेना-देना नहीं। उनका कहना इतना है कि 'एक मिट्टी के चित्र का, पुराण के किसी गणेश जन्मकथा को ही इतिहास मानकर, उसकी जयंती मनाना, पूजा-अर्चना आदि समारोह करना और पालकी को कंधे पर उठाकर उस चित्र की शोभायात्रा निकालना बुद्धि को केवल बच्चों के खेल जैसा लगता है। तब ऐसे बच्चों के खेल में भाग लेना मिथ्याचार नहीं तो क्या है? ''कितने ही प्रामाणिक और हिंदू संगठन के अभिमानी कार्यकर्ता ऐसी शंका करते हैं, इस कारण उनकी शंका का निराकरण किए बिना आगे बढ़ना ठीक नहीं। वह शंका मन में खटकती रहने की अपेक्षा एक बार संक्षेप में, परंतु स्पष्ट रूप से चर्चा में आनी चाहिए। हमारे पोथीवादी आक्षेपों में से अधिकतर और बुद्धिवादी मित्रों में से कुछ-एक हमसे पूछते हैं कि 'फिर आप गणेशोत्सव में कैसे भाग लेते हैं? पत्थर को भगवान् समझकर पूजन कैसे करते हैं?

जैसी एक धार्मिक मूर्तिपूजा है, वैसी एक बौद्धिक मूर्तिपूजा भी है और वह बुद्धिवाद की कसौटी पर पूर्णतः खरी है।

इस लेख के लिए इस प्रश्न का अल्प सा विवेचन करना आवश्यक होने के कारण उदाहरणों से ही उसे सिद्ध करेंगे। कोई भी अमूर्त तत्त्व, भाव एवं भावनाएँ जिससे चित्रशिल्प या मूर्तिशिल्प आकार लेते हैं उनका बुद्धिवादी लोग निषेध नहीं करते। देव की मूर्ति बनाना भयंकर पाप है, इतना ही नहीं अपितु देव द्वारा बनाया हुआ जो मानव प्राणी उनके चित्र बनाना भी धर्मबाह्य होने के कारण चित्रशिल्प या मूर्तिशिल्प यानी नरकगामी अघोर अधर्म है ऐसा माननेवाले मुसलमानों में कुछ कट्टरपंथी हैं और वे उस निष्ठा के लिए मूर्तियाँ फोड़ते हैं, चित्र को फाड़ते हैं ऐसा अत्याचार कई बार करते हैं यह यदि धर्मांधता होती है तो मूर्ति को ही मूर्खता और चित्र को विचित्र कहनेवाला अज्ञानी बुद्धिवाद भी एक बुद्धि का पागलपन नहीं है क्या? शिवाजी महाराज की प्रतिमा खड़ी करके उस विभूति के संबंध में अपना आदर उसे फूल चढ़ाकर, नमस्कार कर या धूप-दीप से पूजा कर व्यक्त करना हृदय की अत्यंत मंगल और उदार प्रवृत्ति है। वह संपूर्णतः अनिंद्य नहीं अपितु उत्तेजनाई

है। क्योंकि मनुष्य की उदात्त मनोभावनाओं को वह पोषक और सद्गुणों को प्रेरक होती है। अर्थात् मनुष्य हितसाधक और उपयुक्त होती है। जो बुद्धिवादी हैं वे उपयुक्त वादी (utilitarianism in the noblest sense) होते ही हैं। उन्हें होना चाहिए और इसलिए ऐसी मूर्तिपूजा को वे कभी नहीं नकारेंगे। परंतु जब इस विभूति पूजा की भावना अज्ञानता की सीमा पर पहुँचती है और प्रतिमा को ही शिवाजी महाराज समझकर, सजीव समझकर, उसे मनौती करने लगते हैं; प्रसाद सूक्ष्म रूप से वह प्रतिमा ही खाती है, फूल सूँघती है, पूजा से प्रसन्न होकर धन-धान्य देती है, नहीं तो क्रोध में गाँव में प्लेग जैसी बीमारी फैलाती है, ऐसा लोग मानने लगें तो वे बुद्धिवादी इस प्रकार की मूर्तिपूजा को बुद्धिघातक, धर्मांध, अहितकारक, इसीलिए अनुपयुक्त समझकर उसका निषेध करने लगते हैं। आज के बोल्शेविक रूस में तो rationalism का, बुद्धिवाद का केवल अर्क है, परंतु रूसी बोल्शेविक लाखों की संख्या में अपनी राजधानी के लेनिन के विशाल समाधि मंदिर में जाकर लेनिन की मृत देह की प्रतिकृति का, मूर्ति का, दर्शन करते हैं पर केवल उसे मूर्ति मानकर ही। यह बुद्धिवाद है! परंतु अपने यहाँ कितने ही लोग समाधि और कब्रों का दर्शन करने के लिए जाते हैं तो इसलिए कि उनमें रखे हुए शव मनौती से प्रसन्न होते हैं। वे संतान देते हैं और चढ़ौतियों का उपभोग लेते हैं। भोग नहीं चढ़ाया तो क्रुद्ध होते हैं इस भावना से इस प्रकार को बुद्धिवाद धर्मांधता कहता है। पहली बौद्धिक मूर्तिपूजा बुद्धिवाद को मान्य। दूसरी मूर्तिपूजा केवल मूर्खता, धर्मांधता, बुद्धिशून्यता इसलिए उसमें बुद्धिवादी भाग नहीं लेंगे। परंतु इस प्रकार की समाधि या कबर को देखने के लिए भी वह इतिहास की रुचि के कारण जाना नहीं छोड़ेगा। पागल वहाँ मनौती माँगने जाएँगे, बुद्धिवादी उसमें ऐतिहासिक संस्मृति के लिए जाएँगे, बस इतना ही अंतर है!

जो बात मानवी प्रतिमाओं की, कबरों की या चित्रों की वही अमूर्तता और भाव-भावना व्यक्त करनेवाली कल्पमूर्ति की, कल्पचित्रों की। ग्रीक लोगों में सौंदर्य, रति, शक्ति, वत्सलता आदि भावनाओं का सुंदर मूर्तिकरण किया जाता था। अपने यहाँ का मूर्तिशिल्प अति गहन ऐसे अमूर्त तत्त्व का भी मूर्तिमान करने में केवल अतुलनीय है। सौंदर्य, संपदा, प्रीति, रति आदि कोमल भावनाओं के जो चित्र या मूर्ति अपने यहाँ हैं, उनसे भी अधिक सुंदर, उचित, आकर्षक मूर्तिकल्प देवों के भी काव्य में मिलना संभव नहीं। वह कमल विलासी लक्ष्मी की मूर्ति देखें। वह वीणा बजानेवाली, एक हाथ में वेद तथा दूसरे में काव्यकमल लिये हुई, उसका वाहन सुंदर पंखवाला मोर! ऐसी वह गीत, नृत्य, काव्य, कला, ज्ञान-विज्ञान की देवी, सरस्वती की वह मूर्ति देखें। मदनरति के जो सुंदर शब्द चित्र कुमारसंभव में

कल्पित किए गए हैं वे बहुत हृदयंगम हैं। जगत् के काव्य में उस लालित्य की तुलना नहीं, काव्य कोमलता में या तत्त्व-गहनता में ही नहीं अपितु उग्र, भयानक उसके मूर्त रूप देने में भी मूर्तिकार डरे नहीं। उस मूर्तिकार ने सृष्टि के विलास को जैसे नाजुक कूची से और टाँकी से मूर्त रूप दिया, उसी तत्परता से, उसी यथातथ्यता से उन्होंने सृष्टि की दूसरे सत्य की उग्र मूर्ति को वज्रघन से मूर्त किया। हलाहल के रंग में, चिता की ज्वालाओं की कूची बनाकर चितारी जैसी नरमुंडधारी काली को देखें! गीता में दरशाया गया विश्वरूप का चित्र! उस काली के या विश्वरूप की मूर्ति में सृष्टि का अति अद्‍भुत दर्शन होते ही अर्जुन के समान 'नमो पुरस्तात अथ पृष्ठतश्च। पुनश्च भूयोपि नमो नमस्ते॥' ऐसा संकीर्तन करनेवाली वह प्रबुद्ध बुद्धि उस स्थान पर ही समाधिस्थ हो जानी चाहिए।

बुद्धि भी मूर्तिपूजक ही है परंतु इस अर्थ में इस अनुपात में पेरिस में बुद्धिवाद की लहर फैली और राज्यक्रांति हुई तब मनौती से प्रसन्न होनेवाली देशु- की, मेरी की मूर्तियाँ चर्च-मंदिरों से नास्तिकों ने उखाड़कर फेंक दी थीं। परंतु इन बुद्धिवादी, मूर्तिभंजक नास्तिकों ने तुरंत क्या किया? तो एक रीजन की—बुद्धि की ही प्रतिमा बनाकर बड़ी शोभायात्रा निकालकर पेरिस में घुमाकर उसकी देवी रूप में पूजा की। मूर्तिभंजक क्रांति की जो देवी बुद्धि उसकी मूर्ति बनी। पेरिस में राष्ट्र एकता चौक (प्लेस डी-ला-कंकार्ड) नामक एक राष्ट्रीय क्षेत्र के समान पूजनीय स्थान है उसमें फ्रांस राष्ट्र के प्रत्येक प्रांत की एक-एक सुंदर स्त्री की कल्पना कर उनकी मूर्तियों को चक्र में स्थापित किया गया है। प्रतिवर्ष बड़े महोत्सव से उस स्थान पर लाखों फ्रेंच लोग इकट्ठा होकर उन मूर्तियों पर फूल चढ़ाते हैं। उनके सम्मुख राष्ट्रगीत गाकर सम्मान देते हैं। यही बौद्धिक मूर्तिपूजा, अमेरिका में न्यूयॉर्क के प्रवेश द्वार में एक ऊँचे स्तंभ पर एक प्रचंड मूर्ति बनाकर की है। उस राष्ट्र की स्वतंत्रता की वह राष्ट्रीय मूर्ति है, उसे स्वतंत्रता की देवी (liberty statue) कहते हैं।

वैसा ही हमारे हिंदू राष्ट्र के संगठन की, गणशक्ति की परंपरागत मूर्ति यानी गणपति। उसकी पूजा हम भावभक्ति से करके उसके सम्मुख 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' यह राष्ट्रगीत या वेदगीत करोड़ों कंठों से गाते हैं। इस दृष्टि से देखें तो इस संगठन शक्ति की आदर्श मूर्ति के उत्सव में बुद्धिवादियों को भाग लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। धार्मिक दृष्टि के लोग राममूर्ति को अवतार समझकर भजते हैं, आर्यसमाजीय अपने राष्ट्र की एक ऐतिहासिक महान् विभूति के रूप में भजेंगे। उपयुक्ततावादी लोग संग्राहक ऐसा एक आकर्षक केंद्र मान उसी राममूर्ति के उत्सव में भाग लेंगे।

श्रीकृष्ण के संबंध में कहा गया है—

'कंसा मृत्यु, अशक्त पामर जनां, संतास तत्त्वाबुधि।
श्री शेषासन यादवा हरि दिसे, रंगांत नानाविधि॥'

वही न्याय ऐसे प्रकरणों में होगा और जब तक किसी सार्वजनिक महोत्सव में किसी प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करना नहीं पड़ता कि 'हम इस मिट्टी की मूर्ति को सजीव देवता मानेंगे, वह मूर्ति ही प्रसाद खाती है। फूलों की सुगंध लेती है, यदि उसे मोदक (लड्डू) नहीं खिलाए तो अपने वाहन चूहे के द्वारा तुम्हारा सारा घर और भाग्य पोला बना देती हूँ।' तब तक उस मूर्ति की ओर अपनी दृष्ट से देखने की स्वतंत्रता होगी। शिवाजी का चित्र, लेनिन की प्रतिमा, स्वतंत्रता की मूर्ति या राष्ट्रीय ध्वज की जैसी शोभायात्रा निकालते हैं वैसी हिंदू संगठन की प्रतिनिधि जैसी गणपति की मूर्ति घुमाने में, उत्सव में उसकी प्रतिष्ठापना करने में किसी भी प्रकार की निर्बुद्ध भोली भावना नहीं या झूठी भावना नहीं। ऐसी बौद्धिक मूर्तिपूजा या मूर्तिप्रियता ही चित्रकला की, मूर्तशिल्प की और कविता की जननी है, धात्री है। अमूर्त भाव को मूर्त स्वरूप दिए बिना बुद्धि नहीं मानती और हृदय को अच्छा नहीं लगता। दूसरी बात यह है कि यदि समाज-हितकारी हो तो किसी मूर्खता की ओर भी उपयुक्ततावादियों को दुर्लक्ष्य करना चाहिए।

उसे मूर्खता न मानते हुए, और दूसरों के मन से भी वह बात धीरे-धीरे निकालने का प्रयास करते हुए जब तक लाखों लोग एकत्रित करने का महान् कार्य उस भाविकता से हो रहा है और कुल मिलाकर वह मूर्खता इतनी निरापद है कि उसके कारण होनेवाला समाज का अहित अति अल्प होकर उससे होनेवाला हित ही अधिक है तब तक उस मूर्खता की ओर दुर्लक्ष्य कर वही औजार हाथ में लेकर वह समाज-हित प्राप्त करना चाहिए। प्रत्येक विषैली ओषधि या शल्यक्रिया देह का अल्प सा अहित करता है, यह जानकर भी बलवान् रोग हटाने का अधिक हित उससे सिद्ध होता है इसलिए कुशल वैद्य वह औषध देता है या शल्यक्रिया करता है। वैसे ही उपयुक्ततावादी भी इस प्रकार की भावना का इस अनुपात में लोकहितार्थ उपयोग कर लेता है।

अतः बुद्धिवाद से उपयोगी सिद्ध उपरोल्लिखित कोटिक्रम को ध्यान में रखकर अपने हिंदू राष्ट्र के संगठन को अत्यंत उपकारक होनेवाले इस राष्ट्रीय महोत्सव में सुधारक वर्ग को भाग लेने से बिलकुल पीछे नहीं हटना चाहिए। छोटे-छोटे मतभेदों को ऐसे सांघिक कार्य में इस अनुपात में भुलाए बिना लोकसंग्रह संभव नहीं।

लोकमान्य ने गणेशोत्सव को राष्ट्रीय महोत्सव का स्वरूप दिया। परंतु उस समय के हिंदू राष्ट्र की स्थिति में उस उत्सव में वास्तविक रूप से देखते हुए वे केवल स्पृश्य हिंदुओं को समाविष्ट कर पाए। किसी भी जाति-पाँति का भेदाभेद न रखते हुए जिस महोत्सव में संपूर्ण हिंदू समता से समाविष्ट हो सकता है, हिंदू ध्वज के नीचे स्पृश्यास्पृश्यता का राष्ट्रबल घातक भेदाभेद न मानते हुए समस्त हिंदू एक हो सकते हैं ऐसा पूर्ण राष्ट्रीय स्वरूप उस उत्सव को नहीं मिल पाया। इस कार्य को अब हमें पूर्ण करके इस महोत्सव को अखिल भारतीय हिंदू स्वरूप देना चाहिए। जन्मजात जातिभेद की जिस विभेदक प्रथा ने आज इस हिंदू राष्ट्र को दुर्बल बना दिया है, उसे नष्ट कर समस्त हिंदू राष्ट्र एकप्राण, एकजाति करने के कार्य में उस राष्ट्रीय महोत्सव जैसा अवसर महाराष्ट्र में तो और दूसरा नहीं है। इसलिए हिंदू संगठन के समर्थकों को चाहिए कि पूर्वजों की पीढ़ियों से चल रहे और पूर्व से ही राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त गणपति उत्सव की महान् संस्था का औजार हाथ में लेकर हिंदू राष्ट्रबल-विघातक इस जातिभेद के उच्छेद के लिए उपाय करना चाहिए और इस राष्ट्रीय महोत्सव को अखिल हिंदू महोत्सव बनाना चाहिए।

यह दुःखद बात है कि लोकमान्य तिलकजी ने गणेश उत्सव का नेतृत्व कर उसे जो राष्ट्र-उपयोगी दिशा प्रदान की थी आज वह नष्ट हो रही है। अपने हिंदू राष्ट्र पर चारों ओर से संकट छा रहे हैं, विपत्ति आ रही है, ऐसे समय में राष्ट्रहितार्थ अपना धन और समय खर्च होना चाहिए, विपत्तियाँ दूर करने में धन और समय लगना चाहिए। परंतु आज इधर-उधर नाच, तमाशे, गाना-बजाना जैसे कार्य हो रहे हैं। ये दिन क्या केवल मनोरंजन में डूबने के हैं? ये दिन कर्तव्य के कठोर क्षेत्र के युद्ध के हैं, परंतु हम इन छोटे कार्यों में लगे हैं। मनोरंजन थोड़ा सा लोकसंग्रहार्थ चाहिए। परंतु लोकसंग्रह मनोरंजनार्थ नहीं चाहिए। एक बार लोक समूह प्राप्त हुआ तो उस बल से कार्य को आगे बढ़ाना चाहिए। प्रत्येक सार्वजनिक गणेशोत्सव मंडल को अपने कार्यक्रम में तय करना चाहिए कि हिंदू राष्ट्र के लिए आवश्यक छोटे-बड़े परंतु कोई-न-कोई प्रत्यक्ष कार्य अवश्य करना होगा। इस महोत्सव के सप्ताह में कोई तय करे कि वह अपने गाँव में या नगर में दो हजार का स्वदेशी सामान बेचेगा। कोई घर-घर घूमकर स्वदेशी माल खरीदने की हजारों नागरिकों से प्रतिज्ञा करवाए, कोई शुद्धीकरण का कार्य तेजी से करते हुए हजारों लोगों को शुद्ध कराके अपने धर्म में वापस लाए। विधर्मियों के आक्रमणों की साधार रूपरेखा तीव्र भाषा में बताकर, हिंदुओं पर हो रहे अत्याचारों की सप्रमाण करुण कहानी कहते हुए हिंदुस्थान के हिंदुत्व को नष्ट करनेवाले राक्षसों की कमर तोड़े, लाखों हिंदुओं में तेजस्विता लाए। इस प्रकार चारों ओर से शत्रुओं पर हमला बोल देना चाहिए। जिस

उत्सव में अस्पृश्यता को प्रवेश न होगा, जाति निवारण के कार्यक्रम को मान्यता नहीं होगी ऐसे हमारे सनातनी उत्सव में या स्पृश्य उत्सवों में हम कुछ कार्य तो कर सकेंगे।

उपर्युक्त विचारों के अनुसार अब ऐसा समय आ गया है कि हिंदू संगठन का क्षेत्र जो पूर्व में केवल स्पृश्यों के लिए सीमित था, स्पृश्यों में भी जातियों में ऊँच-नीच, भेद-भाव, टूट-फूट कायम रखकर हिंदू जाति के घटक केवल एक-दूसरे के समीप लाए जाते थे, चौखट बनाने हेतु लकड़ी काटकर रंधा मारकर रखी थी। अब उन्हें जोड़ देना चाहिए। हिंदू राष्ट्र के घटक एकजीव बना देने चाहिए। अतएव राष्ट्रीय महोत्सव में स्पृश्य-अस्पृश्य, ब्राह्मण-अब्राह्मण, मराठा-महार—सबको समान अधिकार देकर एकराष्ट्र बनाना चाहिए। एक हिंदू ध्वज के नीचे यह उत्सव होना चाहिए। हिंदू संगठन का मुख्य कार्य पूरा करने के लिए इस राष्ट्रीय उत्सव की प्राणप्रतिष्ठा हुई है। हिंदू संगठन जाति विरहित होकर ऐसे उत्सवों में ही पूर्ण रूप से व्यक्त हो सकेगा।

किंतु आज जो उत्सव प्रचलित हैं ऐसे पुराने सार्वजनिक उत्सवों को ही अखिल हिंदू स्वरूप देना कठिन होगा। उनमें भी यह कोशिश करनी चाहिए कि मंडप में, सभाओं में स्पृश्यास्पृश्य एक-साथ बैठें। परंतु इतनी अधूरी बात से एकता नहीं बनेगी। इसलिए उत्तम मार्ग है तीन-चार वर्षों से रत्नागिरि में जैसा गणेशोत्सव हो रहा है वैसा अखिल हिंदू गणेशोत्सव प्रत्येक नगर में कम-से-कम एक स्थान पर ही सही, मनाया जाना चाहिए।

जन्मजात जातिभेद का निराकरण करने की प्रतिज्ञा लिये हुए बीस-पच्चीस लोग यदि ऐसे गणेशोत्सव में इकट्ठा हुए तो भी वह आदर्श गणेशोत्सव होगा। हजारों की उपस्थिति में होनेवाले नाच-गाने के गणेशोत्सव की अपेक्षा इस आदर्श गणेशोत्सव की ओर लोगों के मन आकर्षित हुए बिना नहीं रहेंगे। इसके अनुकूल या प्रतिकूल चर्चा होते-होते ही यह एक प्रथा बन जाएगी। इसलिए अन्य उत्सवों से संबंध रखते हुए भी संगठक सुधारकों को अपने अखिल हिंदू गणपति उत्सव स्वतंत्रता से मनाने चाहिए। मुंबई, पुणे आदि बड़े-बड़े नगरों में ऐसे दस-पाँच उत्सव जोर-शोर से शुरू कर सकते हैं। उनका कार्यक्रम हिंदू संगठनों को अत्यंत हानिकारक आज के इस पोथीजात जातिभेद के उच्छेद के लिए आवश्यक उन सभी नए सुधारों को प्रत्यक्ष व्यवहार में लानेवाला होना चाहिए। जातिभेद उच्छेदक व्याख्यान, मेले, संवाद होंगे ही। साथ ही जातिभेद उच्छेद के केवल नारे लगाने से वह नहीं मिटेगा और सुधार भी नहीं होंगे यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए।

रूढ़ि को समाप्त करना हो तो पहले स्वयं उसे तोड़ना चाहिए। कोई प्रत्यक्ष सुधार किए बिना, आचार में लाए बिना, व्यवहार में लाए बिना केवल शब्दों से नहीं

होता। इसलिए ऐसे अखिल हिंदू गणेशोत्सवी पोथीजात जातिभेद तोड़ने की समस्या तो कम-से-कम हल होनी ही चाहिए। उसके लिए कार्यक्रम की एक सामान्य रूपरेखा निम्नानुसार दरशाई जा सकती है—

१. कार्यकारी मंडल जाति उच्छेदक विचार के सदस्यों का ही होना चाहिए। उसी विचार से उत्सव मनाना चाहिए, परंतु प्रवेश सबको होना चाहिए। 'पोथीजात जातिभेद' का कोई भी भेदभाव न मानते हुए समस्त हिंदुओं को इस उत्सव में समानता से समान नियमों से प्रवेश दिया जाएगा यह ध्येय हो।

२. गणेश मूर्ति को पालकी में रखते समय, स्थापना के समय, पालकी उठाते वक्त महार-मराठा-ब्राह्मण-चमार सबको मिलकर मूर्ति को हाथ लगाकर उठाना चाहिए और इस तरह स्पर्शबंदी का उच्छेदन करना चाहिए।

३. मूर्ति की पूजा वेदोक्त होनी चाहिए। कम-से-कम एक-दो बार भरी सभा में शुचिर्भूत भंगी या हरिजन बंधु द्वारा मूर्ति की पूजा करनी चाहिए। यथासंभव गायत्री और गीताध्याय स्वर शुद्ध कहनेवाला भंगी या हरिजन बंधु हो तो गीता-गायत्री पाठ का कार्यक्रम उनके द्वारा ही किया जाए। इस प्रकार स्पृश्यास्पृश्य हिंदुओं को एकत्रित करना चाहिए। पुजारी ब्राह्मण हो तो उसकी प्रशंसा करनी चाहिए—यदि उसे पूजाविधि में प्रवीणता हो। ब्राह्मण शुचिर्भूत तथा अखिल हिंदू संगठन का अभिमानी होना चाहिए। इसी प्रकार अस्पृश्य, क्षत्रिय, वैश्यों को गायत्री मंत्र या वेद पाठ से मना करनेवाले को गायत्री कहनेवाले भंगी बंधुओं से मुँहतोड़ जवाब देना चाहिए।

४. स्त्रियों के या पुरुषों के किसी भी कार्यक्रम में शोभायात्राओं में ब्राह्मण-अब्राह्मण, चांडाल सबको लेना चाहिए।

५. ऐसे उत्सव में यदि जातिप्रिय सनातनी बंधु आते हैं तो उनका मन:पूर्वक स्वागत करना चाहिए। उन्हें यदि अपने विरोधी विचार प्रतिपादित करने हों तो सभ्य नियमों के अनुसार बोलने देना चाहिए। उनका कहना ध्यान से सुनना चाहिए। छद्म भाव से उनको निष्कारण टालना नहीं चाहिए।

६. परंतु जाति उच्छेदक सभी कार्यक्रमों में बिलकुल अपरिहार्य, अग्रगण्य कार्यक्रम रोटीबंदी की बेड़ी को तत्काल तोड़नेवाला है सहभोज।

सहभोज! सहभोज! सहभोज!

प्रत्येक अखिल हिंदू उत्सव में, गणेशोत्सव में पचास हों चाहे पाँच सौ हों— हिंदुओं का सहभोज होना चाहिए। ऐसे उत्सव में पहले तो पूर्वास्पृश्य को साथ में भोजन हेतु बैठाकर, उसका प्रचार समाचारपत्रों में करना चाहिए। पूर्व में

गणेश चतुर्थी को एक-दो ब्राह्मण भी रहना चाहिए ऐसा नियम था वैसा अब गणेशोत्सव की पंक्ति में एक-दो भी चमार-हरिजन-भंगी बंधु होने चाहिए यह नियम हो। मुंबई-पुणे-नागपुर-अमरावती जैसे बड़े-बड़े शहरों में हजारों हिंदू बांधवों के गणेशोत्सव में सहभोज होने चाहिए। कम-से-कम पच्चीस-पचास संगठक-सुधारकों को सहभोज कराना चाहिए। रोटीबंदी टूटने पर जातिभेद का एक विषैला दाँत ही टूट जाएगा। क्योंकि रोटीबंदी टूटने से स्पर्शबंदी, समुद्रबंदी, वेदोक्तबंदी और व्यवसायबंदी, इन जातिभेदों की बेड़ियाँ अपने आप ही टूट जाती हैं।

इस प्रकार का कम-से-कम एक अखिल हिंदू गणेशोत्सव प्रत्येक नगर में अवश्य शुरू करके हिंदू-संगठन की कक्षा में स्पृश्यास्पृश्य, जाति-पाँति विरहित हिंदू समाज संगठित करने का मूल हेतु परिपूर्ण करना चाहिए। अन्य स्पृश्य उत्सवों में भी हरेक सुधारक अपना सहभोज का कार्यक्रम अवश्य आयोजित करे।

इस प्रकार महाराष्ट्र में लगातार अखिल हिंदू उत्सव संभव है क्या? इस शंका का निराकरण रत्नागिरि का उदाहरण देकर किया जा सकता है। उपर्युक्त कार्यक्रम रत्नागिरि के उत्सव में हो रहे हैं। हजारों लोगों के सहभोज आयोजित हो रहे हैं। आज पाँच लोग साथ में भोजन करते हैं तो कल पचास लोग सहभोज करने की हिम्मत करेंगे। तब आप भी इस कार्य में लग जाइए। रोटीबंदी तोड़ेंगे तो जातिभेद अपने आप टूटेगा।

(किर्लोस्कर, सितंबर १९३५)

□

रहस्यकार और उपयुक्ततावाद

'सूक्ष्मो हि भगवंधर्म: परोक्षो दुर्विचारण: ।
अत: प्रत्यक्ष मार्गेण व्यवहार विधिं नयेत् ॥'

यूरोप में भौतिक शास्त्रों की दिन-प्रतिदिन प्रगति होने के कारण और नए-नए शास्त्रीय अनुसंधानों एवं प्रगति को धन, समय और सत्ता की जो शक्ति मिलना आवश्यक होती है वह शक्ति मिलना संभव होने के कारण, और वह समर्थन वहाँ मिलने से और अपने यहाँ समर्थन मिलना कठिन होने के कारण भौतिक शास्त्र के ग्रंथ यूरोप में जैसे निर्मित हो रहे हैं वैसे अपने हिंदी भारतीय वाङ्मय में अभी तक निर्मित नहीं हो रहे हैं। यह बात यद्यपि सही है तथापि बौद्धिक शास्त्रों में अपनी मराठी, हिंदी, बँगला, तमिल, तेलुगु आदि भारतीय भाषाओं में या अंग्रेजी में भारतीय विद्वानों ने कुछ ऐसे उत्कृष्ट स्तर के ग्रंथ प्रसिद्ध किए हैं कि यूरोप में उस विषय पर इस स्तर के ग्रंथ कदाचित् ही मिलते हैं। यूरोपीय वाङ्मय और परिस्थिति का अध्ययन करके यूरोपीय विद्वान् अपने ग्रंथ लिखते हैं। अर्थात् यूरोप के अलावा पौर्वात्य जगत् के ज्ञान की और परस्थिति का ज्ञान न होने के कारण वे ग्रंथ कुछ हद तक और कभी-कभी तो अधिकतर एकदेशीय होते हैं। पौर्वात्य वाङ्मय और उसमें भी 'जो पुराना वह सोना' इस मंत्र का अखंड पाठ करते हुए पौराणिक स्थिति की मर्यादा में स्वयं को बंद करके हमारे जो पुराने पंडित ग्रंथ लिखते हैं वे भी भारत के बाहर के जगत् के ज्ञान को और अनुभव को प्राप्त न कर सकने के कारण यूरोपीय विद्या का अध्ययन किए हुए विद्वानों के ग्रंथानुसार और कभी-कभी तो उनसे भी अधिक आकुंचित और अप्रगामी होते हैं।

पाश्चात्य और पौर्वात्य पंडित

एक पक्ष यूरोपीय और पाश्चात्य भ्रम से दूषित तो दूसरा भारतीय और पौर्वात्य अभिमान से अंध है। आज तक के यूरोपीय और भारतीय पंडितों के ग्रंथों

में जो एकदेशिता मिलती है वह उपर्युक्त कारणों से अपरिहार्य थी। परंतु अब यूरोपीय विद्वानों के उच्च और उदात्त विचारों का जिन्होंने परिशीलन किया है और किसी सव्यसाची के समान जो अपने भारतीय शास्त्र में भी निष्णात हैं ऐसे विद्वानों का प्रादुर्भाव अपने हिंदुस्थान में होने के कारण उनके द्वारा लिखे गए ग्रंथों में यूरोपीय और भारतीय इन दोनों विचार शैलियों का केवल शुद्ध मिश्रण ही नहीं अपितु समन्वय भी दिखता है। समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि शास्त्रों पर गत बीस-तीस वर्षों में मराठी, बँगला और अन्य भारतीय विद्वानों द्वारा लिखित ग्रंथों में कुछ ग्रंथ ऐसे हैं कि उन विषयों पर यूरोपीय ग्रंथों में जोड़ नहीं मिलते। क्योंकि यूरोपीय विद्वान् पौर्वात्य ज्ञान के अनुभव और स्थिति से अपरिचित होने के कारण और पौर्वात्य पंडित पाश्चात्य ज्ञान से अपरिचित होने के कारण दोनों के ग्रंथों में दिखनेवाली संकुचितता आजकल के हमारे बड़े विद्वानों के ग्रंथों में उनके उभयविध ज्ञान का, स्थिति का और अनुभव का अध्ययन किए होने से नहीं दिखाई देता। संस्कृतादि पौर्वात्य ज्ञान की गंगा पाश्चिमी ज्ञान की यमुना से और शोण से संगम पाकर ऐसे ग्रंथतीर्थों से अपने संपूर्ण वैभव से अवतीर्ण हो गई है। इन भारतीय विद्वानों द्वारा लिखित अर्वाचीन ग्रंथों में लोकमान्य तिलक का 'गीता रहस्य' ग्रंथ केवल सरस्वती के मुकुटमणि के समान शोभायमान है।

उपयुक्ततावाद का विचार

गीता में कर्मयोग के विवेचन में भारतीय नीतिशास्त्र अथवा कार्यव्यवस्थिति विषयक सिद्धांतों की पाश्चात्य विचारों से तुलना करने पर रहस्यकारों ने, यूरोपीय नीतिशास्त्रों ने उपयुक्ततावाद के संबंध में जो विचार रखे हैं, उसका समालोचन किया है। यह करते समय उपयुक्ततावाद के जो भेद हैं उनका दोषाविष्करण करके गीता में प्रतिपादित कर्मयोग के तत्त्व का, उपपत्ति का और व्यवस्थापन का ऊहापोह करना उन्हें संभव हुआ। परंतु उन्हें केवल तुलनात्मक कार्य करना था इसलिए उन्होंने उपयुक्ततावाद के दोष चुनकर उन्हें गीता के तत्त्वज्ञान में निरस्त किया है। यह दरशाने का उनका कार्य रहस्यकार जब कर रहे थे तब सामान्य पाठकों की ऐसी समझ होने की संभावना है कि रहस्यकारों द्वारा संक्षेप में उल्लिखित दोष उपयुक्ततावाद में कुछ पक्षों की विचार-शैली का दोष न होते हुए यह इस उपयुक्तता तत्त्व का अपरिहार्य व्यंग्य है। परंतु वास्तविक स्थिति वैसी नहीं है और उपयुक्ततावाद का सर्वसामान्य महत्त्व विवेचनात्मक परीक्षण होते हुए और उसमें स्फुट दोषाविष्करण करते हुए रहस्यकार जानते थे; परंतु उनका मुख्य कार्य उपयुक्ततावाद को सभी प्रकार से छानना न होकर उसमें से कुछ व्यंग्य प्रमुखता से उल्लेख करके उनके

कर्मयोग के ब्रह्यात्मैक्य उपपत्ति से निराकरण हो सकता है यह दरशाने का होने से उन्होंने सहजता से उपयुक्ततावाद की सर्वसामान्य महिमा की चर्चा मुख्य रूप से नहीं की। तथापि तदर्थक उल्लेख उनकी कलम से बहुत से स्थानों पर प्रत्यक्ष रूप से और अनेक स्थानों पर अप्रत्यक्ष रूप से लिखे गए हैं। उदाहरणार्थ रहस्य के पृष्ठ ८८ पर (प्रथम आवृत्ति) वे कहते हैं—''अनेक का बहुत हित—यह सिद्धांत एकदम निरुपयोगी है ऐसा हमारा कहना नहीं है। केवल बाह्य बातों का विचार कर्तव्य होते हुए इसकी अपेक्षा दूसरा सिद्धांत मिलनेवाला नहीं; परंतु केवल इसी सिद्धांत पर निर्भर नहीं रह सकते।''

उपयुक्तता में वह व्यवहार नैतिक होता है जिससे यथासंभव अधिकाधिक मानवों का हित हो जाता है। इस मत का वास्तविक रूप से रहस्यकारों द्वारा प्रतिपादित गीता का आत्मैक्य प्रतीति से स्वीकारा हुआ और सर्वभूतहितरत ऐसे साम्यबुद्धि के या शुद्धबुद्धि के नीति तत्त्व से कोई विरोध नहीं है। यह उपयुक्ततावाद का या संक्षेप में हितवाद का तत्त्व पाश्चात्यों ने प्रथम ही ढूँढ़ा है ऐसा नहीं, वह तो महाभारत के अनेक श्लोकों में ग्रंथित एवं सूचित किया गया है। हमारे विचार से एकदम प्रथम और प्रसिद्ध उपयुक्ततावादी यदि कोई होगा तो वह पार्थसारथी भगवान् श्रीकृष्ण है। रहस्यकारों ने उपसंहार में गीता में प्रतिपादित आत्मौपम्य भाव से सर्वभूतहित तत्पर ऐसे शुद्धबुद्धि स्थितप्रज्ञों के जिस व्यवहार को नीति का आधार कहकर, नीति की माप मानकर, नीतिशास्त्र का आधार मानकर निर्दिष्ट किया है उस व्यवहार का, उपयुक्ततावाद से किसी प्रकार विरोध नहीं है, इतना ही नहीं अपितु वे एक-दूसरे के कैसे पूरक हैं यह बात निम्नलिखित संक्षिप्त प्रमेय से भी स्पष्ट होगी।

सुखवाद यानी क्या?

प्रथमत: यह बात स्पष्ट करनी चाहिए कि सुखवाद या हितवाद का अर्थ अनेक वैषयिक सुख ही है, ऐसा नहीं। इसके विपरीत इस जगत् में या परलोक में विश्वास रखनेवालों के विश्वास के अनुसार, परलोक में भी होनेवाले सुख यानी आत्यंतिक सुख हैं। वैषयिक सुख की अपेक्षा आध्यात्मिक सुख बहुत अंश में चिरकालीन, अपरतंत्र और उत्कृष्ट होने के कारण उपयुक्ततावाद के अनुसार वे भी उपार्जनीय और नैतिक होते हैं। सुख शब्द का अर्थ आध्यात्मिक सुख 'गीता' में भी लिखा है। 'सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियं', 'सुखमत्यंतमश्नुते' सुख शब्द के स्थान पर 'हित' शब्द डाल देने से वाद ही नहीं रहता। नीति की पराकाष्ठा सर्वभूतहित तत्त्व ही है और यही रहस्यकारों ने नीतिसर्वस्व तय किया है। उपयुक्ततावाद

का यही सिद्धांत है कि जिसके कारण अधिक-से-अधिक लोगों का सुख या हित होगा वह कर्म विहीत है। अर्थात् करणीय है।

'सर्वभूतहित तत्त्व' शब्द में सर्वभूत पद का अर्थ यदि हम करने लगें तो हमें अंत में उपयुक्ततावादियों की परिभाषा का ही आश्रय लेना पड़ता है; क्योंकि सर्वत्र एक ही अविच्छिन्न और अविच्छेद्य ऐसा सघन ब्रह्म भरा हुआ है। यह यद्यपि सत्य है और यह उपयुक्ततावाद से, साम्य बुद्धि के विचार से, वह है उससे अधिक विरोधी नहीं हो सकता। तथापि एक बार ब्रह्मसृष्टि से मायासृष्टि में कदम रखा कि वहाँ भेदाभेद उत्पन्न होता है। इसलिए नीति-अनीति का प्रश्न उत्पन्न होता है। ब्रह्मसृष्टि में जो मेरी आत्मा वही दूसरे की, यह वाक्य भी अर्थपूर्ण होता है। परंतु आत्मैक्य बुद्धि से क्यों न हो, एक बार साम्य के आकाश से हम वैषम्य की स्थिर, परंतु जड़ भूमि पर उतरें तो वहाँ सर्वभूतहित तत्त्व का अर्थ अक्षरश: सर्वभूतों का हित करना असंभव हो जाता है।

नैतिक घपले

मेरी आत्मा के लिए जो अनुकूल वही दूसरे की आत्मा के लिए भी अनुकूल—हम ऐसा मानकर चलने लगें तो चलना जितना असंभव उतना ही न चलना भी असंभव हो जाता है; जीना जितना अनीति का उतना ही मरना भी अनीति का है; क्योंकि चलते (पग बढ़ाते हुए) जीना हो तो 'पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कंध पर्यय:' ऐसे सूक्ष्म हजारों जीव, मेरी आत्मा के समान जिन्हें जीवित रहने की इच्छा है, मारे जाते हैं। न जीने पर या न चलने पर मेरी आत्मा दु:खी होती है। आत्महत्या होती है और पुन: चलते लगने पर जीव मारे जाते हैं। उससे भी बैठे-बैठे कुछ कम जीव मारे जाते हैं ऐसा भी नहीं! सर्वभूत शब्द का अर्थ सूक्ष्म भूत छोड़कर दृश्य भूत किया तो भी निर्वाह नहीं होता। क्योंकि व्याघ्र किसी आश्रम में गाय-बछड़े पर टूट पड़ता है और ऐसे समय स्थितप्रज्ञ ऋषि भी व्याघ्र से गौ को छुड़ाना और व्याघ्र को मार डालना नीति समझते थे। अब आत्मौपम्य दृष्टि से गौ को मरने नहीं देना यह नीतियुक्त तो है ही, परंतु व्याघ्र का भक्ष्य छीनकर उसकी क्षुधा को और बढ़ाना, इतना ही नहीं अपितु उसके प्राण भी ले लेना केवल आत्मौपम्य दृष्टि से अनीति का ही कार्य है।

महाभारत में आए हुए डाकुओं के दृष्टांत में भी केवल आत्मौपम्य बुद्धि या सर्वभूतहित तत्त्व से निभाव नहीं होता। डाकू को मारा क्या या बाघ को मारा क्या? वह सर्वभूतहितों के विरुद्ध है। क्योंकि बाघ या डाकू को न मारने से गौ या कोई शिकार मारा जाकर पुन: सर्वभूतों का हित नहीं साधता। तथापि शिकार

के लिए डाकू को और गौ के लिए व्याघ्र को मारो ऐसा स्थितप्रज्ञ कहते हैं। उनका यह कहना सर्वभूतहित कहने की अपेक्षा उपयुक्ततावादियों की परिभाषा को मानने पर अधिक समर्थनीय हो जाता है। डाकू को मारना चाहिए, क्योंकि उस एक के मारने के कारण समाज का अर्थात् अधिकतम लोगों का हित होता है। बाघ को मारकर गौ को छुड़ाना चाहिए, क्योंकि मानव को व्याघ्र की अपेक्षा गौ अधिक उपयोगी होती है। तब सभी भूतों का हित साधना सभी तरह से असंभव होने से मनुष्य के लिए व्यावहारिक संभावना का एक ही मार्ग खुला है और वह है अधिक-से-अधिक लोगों का कल्याण, अधिक-से-अधिक लोगों का सुख साधना। 'सर्वभूतहिते रतः' यह पद अर्थवादात्मक होकर उसका मुख्यार्थ बहुमनुष्य हित में रत, ऐसा ही है। इसलिए कृष्ण ने कंस को मारा और अर्जुन को क्यों लड़ाया तथा उपदेश दिया ऐसा रहस्यकारों ने ग्रंथित किया है। उसमें भी दुर्योधन अन्यायी होने के कारण उसे मारने के लिए कहा। कारण कि मनुष्यजाति के हित को बाधा हो रही है और एक के असुख से, वध से यदि सहस्रों लोगों का कल्याण हो रहा है तो उसे मारना उचित है ऐसा कहा है। परंतु यह तारतम्य आत्मौपम्य बुद्धि से या सर्वभूत हितेच्छु की अपेक्षा उपयुक्ततावादियों की परिभाषा से अधिक सुस्पष्ट हो जाता है।

उपयुक्ततावाद की उपयुक्तता

इतना ही नहीं अपितु शुद्धबुद्धि या साम्यबुद्धि संपादित करना यद्यपि रहस्यकारों ने मनुष्य का प्रथम कर्तव्य और नीति का मूल माना है तब भी बार-बार यह मान्य किया है कि किसी की भी शुद्ध बुद्धि की परीक्षा उसके बाह्य आचार से ही करनी चाहिए। बाह्य आचार का मतलब उसका आचार सात्त्विक, राजस, तामस आदि कर्म-दान-तप क्रिया का जो वर्गीकरण गीता में किया है उसके अनुसार सत्त्वगुण विशिष्ट है या नहीं यह देखना है न? अब रहस्यकारों ने यह भी स्पष्ट किया है कि जगत् की धारणा जिन गुणों से होती है वे गुण उत्कर्षापकर्ष प्रमाण से सात्विकादि वर्ग में ग्रंथित किए गए हैं। अब जगत् का धारण इसका अर्थ सर्वभूत हित के अर्थानुसार और पूर्व में कथित तद्विषयक कारणों के लिए मनुष्य की धारणा ऐसा करना पड़ता है। इतना ही नहीं अपितु अंत में अधिक-से-अधिक मानव का साध्य ठतना अधिक धारण, पोषण और कल्याण ऐसा करना पड़ता है। किसकी बुद्धि शुद्ध हुई यह तय करने के लिए उपयुक्ततावाद के बिना अन्य मार्ग नहीं है। इसलिए नीति नियमों का और 'बहुतों का बहुत सुख' इस निकर्ष की कसौटी ही निर्णायक होती है। यह जो प्रवृत्ति मनुष्य के स्वभाव में उत्पन्न हुई है, उसकी उपपत्ति भौतिकवादियों

के समान मान ली या आध्यात्मिक पंथ की ब्रह्मात्मैक्य बुद्धि से की तो भी दो कर्मों में एक कर्म ग्राह्य क्यों यह तय करने के लिए नीतिशास्त्र को उपयुक्ततावाद का ही आश्रय लेना पड़ता है। प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण के समान जो शुद्धबुद्धि और स्थितप्रज्ञ हैं उन्होंने भी जब-जब दो धर्मों में से एक कर्म न्यायेतर क्यों? इसका विवेचन किया तब-तब उन्हें स्पष्टता से 'लोकसंग्रह-हमे वापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि' या कर्णपर्व में कथित 'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्यो धारयति प्रजा:' ऐसा प्रतिपादन किया है।

शुद्धबुद्धि की कसौटी

कौन सा कर्म अधिक लोगों का हित करेगा यह तय करना यद्यपि विशिष्ट समय पर कठिन हो जाता है और वैसा वह हित नापने के लिए अभी तक तापमापी के समान कोई यंत्र नहीं निकला है तथापि किसकी शुद्धबुद्धि है यह तय करने के लिए भी यंत्र नहीं है। श्रीकृष्ण को स्वार्थी और अशुद्धबुद्धि कहनेवाले शिशुपाल और बुद्ध को दंभी सुखलोलुप कहनेवाले देवदत्त यदि निकल सकते हैं तो दूसरों की क्या बात! इतना ही नहीं अपितु किसकी शुद्धबुद्धि है यह नापने के लिए कम-ज्यादा प्रमाण से समर्थ कौन सा साधन होगा तो वह उसका बाह्य वर्तन, उसका जगहितार्थ व्यवहार, भूहितार्थ यानी यथासंभव अधिक मानवों के हित के लिए अनुकूल है या नहीं यह उपयुक्ततावाद की कसौटी लगाकर देखना ही साधन है। रहस्यकारों के शब्दों में कहना हो तो बाह्य व्यवहार का विचार नैतिक दृष्टि से यदि कर्तव्य हुआ तो भी इस उपयुक्ततावाद से अधिक दूसरा उत्कृष्ट तत्त्व नहीं मिलेगा।

बाह्य व्यवहार से ही हमारा संबंध होकर हमें कर्म के पीछे की वासना से या बुद्धि से कोई कर्तव्य नहीं ऐसा सभी उपयुक्ततावादी नहीं कहते। इतना ही नहीं अपितु—कर्म के पीछे की बुद्धि—मैं यह कर्म मानवजाति का अधिकाधिक हित करूँगा, करना चाहिए, कर रहा हूँ—ऐसा होना यह कर्म की नीतिमत्ता का अत्यंत प्रबल दर्शक है, यह मानने के लिए भी उन्हें कोई आपत्ति होने का कारण नहीं। उसी प्रकार या परमार्थ साधक प्रवृत्ति 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस अद्वैत सिद्धांत से उत्पन्न होनेवाली आत्मैक्य बुद्धि से उत्पन्न हुई है ऐसा मानने में भी उन्हें कोई आपत्ति मानने का कोई कारण नहीं या ईश्वर ने ही बुद्धि ऐसी उत्पन्न की है इससे अधिक कुछ बताया नहीं जा सकता। अद्वैत सिद्धांत में अनुमानित होनेवाले उपपत्ति को भी उनका विरोध नहीं। ब्रह्म सृष्टि का विचार करके जगदुत्पत्ति, जगद्धेतु और मनुष्य कर्तव्य इस संबंध में सात्त्विक सूक्ष्म और शुद्धबुद्धि से यथासंभव विचार करके कोई भी सिद्धांत किया तो भी एक बार व्यवहार में उतरे कि कर्माकर्म का

तारतम्य जानने के लिए विशारदों के जो सूत्रात्मक नाम बताए गए हैं उनमें बहुत लोगों का बहुत हित यह सुखवाद का या हितवाद का तल अनुस्यूत हुआ है इसलिए शुद्धबुद्धि और स्थितप्रज्ञता प्राप्त महापुरुषों को भी 'किं कर्म किं कर्मेति' ऐसा प्रश्न आते ही केवल आत्मैक्य के या साम्यबुद्धि की कसौटी का आश्रय अधूरा होकर उसे लोकहित, लोकसंग्रह, दुष्टबुद्धि विनाश अर्थात् अधिक लोगों का अधिक सुख— इस तत्त्व की कसौटी लगानी पड़ेगी, पड़ी है।

□

पुनर्जन्म की एक चामत्कारिक, किंतु विचारणीय घटना

केवल एक विचारणीय प्रश्न, इससे अधिक ऐसे पूर्वजन्मादि स्मृतियों पर निश्चित रूप से विश्वास नहीं करना चाहिए।

हम जिसे चमत्कार कहते हैं उसका अर्थ इतना ही होता है कि वह बात कैसे घटित हुई, उसके कार्य-कारण भाव के जो ज्ञात नियम हैं उनके द्वारा हम विवेचन नहीं कर पाते। वास्तविक रूप से इस जगत् में होनेवाली प्रत्येक घटना एक चमत्कार है। पृथ्वी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है, सूर्य रोज सुबह उगता है; गोबर मिट्टी में लगाए एक पौधे पर अत्यंत सुंदर गुलाब का फूल लगता है। यह क्या चमत्कार नहीं? नीले रंग में पीला रंग मिलाते ही सुंदर हरा रंग दिखता है। क्या यह चमत्कार नहीं? मूल रंग में हरा रंग नहीं था, लेकिन मिश्रण से हरा दिखने लगा। कैसे आया यह रंग! चमत्कार! परंतु इन घटनाओं का कार्य-कारण भाव नियमित रूप से हम बता पाते हैं। एक बात का दूसरी बात पर परिणाम जरूर होता है। ऐसा बार-बार हमें दिखाई दिया तो उसे हम नियम कहते हैं। परंतु किसी घटना को देखते ही उसका कारण क्या है यह हमें निश्चित रूप से समझ नहीं आता। यह घटना निश्चित नियम से हर समय, उस निश्चित पद्धति से, निश्चित कारणों से उत्पन्न की जा सकती है या उत्पन्न होती है, ऐसा हम जिस अपूर्व घटना के संबंध में नहीं बता सकते, उसे हम चमत्कार कहते हैं। अपूर्व बात और कार्य-कारण भाव का अज्ञान यानी चमत्कार, इस अर्थ में चमत्कार हमेशा होते रहते हैं।

क्योंकि सृष्टि तो अमर्यादित और अनंत है। मनुष्य का ज्ञान कितना भी विकसित हुआ तो भी मर्यादित रहता है। जैसे-जैसे मानवी ज्ञान बढ़ता है वैसे-वैसे अज्ञान क्षितिज के समान और पीछे हटा हुआ लगता है, तो भी पूर्व के समान ज्ञान की पकड़ से, हाथ से दूर रहता है। सांत ज्ञान के चारों ओर का अज्ञान का घेराव

कभी उठनेवाला नहीं। किंतु ज्ञान यानी सांत, अज्ञान वही अनंत। सांत ऐसी मानवी मन के नियंत्रण में न आई हुई नई-नई घटनाएँ इस अनंत सृष्टि में हमेशा होती रहती हैं। उनकी उस अपूर्वता से उनका कार्य-कारण भाव तत्काल तय करना कठिन होगा। इसलिए अपूर्व और अद्भुत घटनाएँ एवं चमत्कार होते ही रहेंगे।

इसलिए 'चमत्कार' कहते ही उसकी निंदा करना ठीक नहीं। यह बात सही है कि 'चमत्कार' बनावटी और धर्मांधता से, अतिशयोक्ति से होते हैं। परंतु चामत्कारिक बातों को न सुनते हुए तुच्छता दरशाने की बजाय सुनना चाहिए, उनकी जाँच करनी चाहिए कि वे किस प्रकार बनावटी या मूर्खता की हैं। लोगों का भ्रम दूर होगा। धर्मांध लोगों की आँखें खुलेंगी। ऐसी चामत्कारिक बातों का कार्य-कारण भाव सप्रयोग सिद्ध कर सकें तो उसका गूढ़ाश्चर्य अपने आप नहीं के बराबर होगा, जैसे राजापुर की गंगा। अकस्मात् उसका जल क्यों बहने लगता है और यकायक क्यों रुक जाता है, गुप्त हो जाता है, यह बात भू-जलविद्या के निश्चित नियमों से जिन लोगों को समझाया गया उन्हें वह चमत्कार नहीं लगता। पानी के वे निर्झर जिन्हें महाराष्ट्र में उन्हाले कहते हैं और जो गरमी के दिनों में बहते हैं, के संबंध में ग्रीष्म ऋतु के भौतिक नियम सीखे हुए बच्चों को बिलकुल आश्चर्यचकित नहीं करते। उस 'गंगा' का या 'उन्हाले' का दैवीपन गायब हो जाता है। वही बात ऐंद्रजालिक चमत्कारों की। अत: चमत्कार से सामने आई हुई बातों पर अकस्मात् विश्वास नहीं करना चाहिए। उनका धिक्कार भी नहीं करना चाहिए। एक प्रश्न समझकर चमत्कार को अपने पास लिख लेना चाहिए, उसका मनन करके खोज करनी चाहिए। केवल बनावटी हो तो वह बनाया गया है यह सबूत के साथ लोगों की नजर में लाना चाहिए। यदि वह अतिरंजित या अतिशयोक्त हो तो लोगों को समझाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं है और ज्ञान की सीमा में नहीं है तो एकदम झूठ है ऐसा कहना पाप है। क्योंकि अपूर्व घटना की चामत्कारिकता हमें एक नया नियम सिखाने का सृष्टि द्वारा दिया हुआ आमंत्रण है।

हम जिसका कारण नहीं बता सकते ऐसी कोई भी घटना (fact) देखते ही उसे एकदम दैवी समझकर नारियल चढ़ाना, फूल चढ़ाना, यह नहीं होना चाहिए या होना चाहिए इसके लिए भगवान् की प्रार्थना करना, यह जैसी धर्मांधता है वैसे ही आज मानव को ज्ञात सृष्टि के नियम उतना ही ज्ञान है, और अब कुछ समझने को रहा नहीं, ऐसा दंभ यह भी एक बुद्धि का पागलपन है। यह बुद्धि का अज्ञान ही होगा। सही वैज्ञानिक वृत्ति का अर्थ है प्रत्येक चमत्कार को सृष्टि का एक नया प्रश्न समझकर उसे हल करने की हिम्मत रखनी चाहिए।

विज्ञान वही जो यह समझता है कि ज्ञान कितना भी बढ़ गया तो भी 'अज्ञानं पुरस्तस्य भाति कक्षासु कासुचित्॥'

पुनर्जन्मवाद

हमारे आज के ज्ञात कार्य-कारण भाव की कक्षा से बाहर और जिसके संबंध में कोई भी सिद्धांत स्थापित नहीं हो पाया, ऐसी समस्याओं में एक पुनर्जन्मवाद का प्रश्न है। प्राचीन समय से मनुष्यजाति इसे हल करने का प्रयास कर रही है परंतु वह अभी हल नहीं हो पाया। जन्म से गणितज्ञ, जन्म से गायक, जन्म से कवि है, ऐसा बार-बार हम सुनते हैं। बड़े-बड़े गणितज्ञ जो गणित हल नहीं कर पाते उन्हें केवल मौखिक हल करनेवाले बालक, सात साल का बच्चा गाने में प्रवीण, ज्ञानदेव-शंकराचार्य के समान अद्‌भुत तत्त्वज्ञानी बालक, उनकी यह 'अलौकिक' शक्ति कहाँ से आई? पूर्वजन्म की स्मृतियाँ ताजी होती हैं यह बुद्ध जैसे सत्यवादी प्रामाणिक लोग अपने अनुभव से कहते हैं, उसकी संगति कैसे लगाएँ? सभी चमत्कारों का कार्य-कारण भाव 'पुनर्जन्मवाद' से कुछ हद तक होता है। यह बात यद्यपि विचारणीय है तो भी अन्य वादों (hypothesis) से वह हल नहीं हो सकता ऐसा नहीं है। कुछ भी हो, पुनर्जन्म की संभावना बनी हुई है। जब तक वह संभावना या असंभावना निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं होती तब तक उस संबंध में प्रस्तुत किए जानेवाले सबूतों पर हमें एकदम विश्वास भी नहीं करना चाहिए। हाँ, हमें उसका उपहास भी नहीं करना चाहिए। इस धारणा से यूरोप में जो psychical research की संस्थाएँ चल रही हैं, वैसे ही पुनर्जन्म को चमत्कार मानकर ध्यानपूर्वक उसका अध्ययन होना चाहिए। उनके संबंध में आवश्यक प्रमाण इकट्ठा कर और जो घटनाएँ अंत में सही तय होंगी उनकी उपपत्ति भी पुनर्जन्मवाद से ही हो सकती है या नहीं—यह तय करना ही वैज्ञानिक वृत्ति का कर्तव्य है।

ऐसे संशोधन के योग्य चमत्कारों में से गत तीन-चार माह से दिल्ली की ओर घटित एक पूर्वजन्म की स्मृति ने जनता का तथा वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित किया हुआ है। अध्ययन की दृष्टि से इस लेख में उसका परिचय जिज्ञासु पाठकों के लिए यहाँ कर रहे हैं।

पूर्वजन्म की स्मृतिवाली आठ वर्ष की एक आश्चर्यकारक कन्या-कुमारी शाँति माथुर (दिल्ली)

दो-तीन वर्ष से दिल्ली के एक परिवार की पाँच-छह वर्ष की बालिका बार-बार कहती है कि मैं पूर्वजन्म में फलाँ स्थान पर रहती थी, मुझे एक लड़का है, इस प्रकार के रंगीन खिलौने मेरे घर पर थे, मेरे बच्चे को बहुत पसंद आते थे। कभी-कभी वह पूर्व की स्मृतियों से शोकाकुल हो जाती थी। उस परिवार के

व्यक्तियों के नाम भी बताने लगती थी। इस प्रकार इस परिवार का और पड़ोसियों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ। उसमें से कुछ बातों की वे लोग जाँच करने में लग गए। वे बातें सही निकलने लगीं। तब दिल्ली में बुद्धिजीवियों में भी चर्चा प्रारंभ हुई। आगे चलकर पंजाब से बंगाल तक के समाचारपत्रों में उसका यह किस्सा प्रकाशित हुआ और वैज्ञानिक दृष्टि के लोगों का ध्यान उस वार्त्ता की ओर अधिक आकर्षित हुआ, क्योंकि उसमें स्पष्ट पता, वर्णन, संदर्भ आदि दिए हुए थे। उत्तर हिंदुस्थान के कुछ वैज्ञानिक विद्वानों का एक परीक्षक मंडल नियुक्त किया गया। यदि उस अल्पायु कन्या की पूर्वजन्म की स्मृतियाँ सही निकलीं तो पुनर्जन्मवाद सिद्ध होने के लिए इस घटना का साक्ष्य उपयोगी है यह जानकर स्थानीय हिंदू नेता, महंत और धर्मप्रचारक इस समस्या की ओर ध्यान देने लगे। उतनी ही सशंकता से पुनर्जन्म न माननेवाले मुसलमान नेता, मौलवी आदि ने भी उस प्रश्न की ओर ध्यान दिया। इस प्रकार गत दो-तीन माह से पंडित मालवीय और उधर के हिंदू-मुसलमान विद्वान् और शिक्षित जनता में यह विषय आकर्षण का केंद्र बना रहा। सामान्य जनता में यह चर्चा का विषय बन गया। उस बालिका को देवी समझकर लोग पूजने नहीं लगे, यही भाग्य!

उल्लिखित परीक्षक मंडल में दिल्ली के प्रमुख उर्दू दैनिक 'तेज' के संचालक लाला देशबंधु गुप्त, प्रसिद्ध नेता पंडित नेकीराम शर्मा और एडवोकेट ताराचंद माथुर तीनों थे। उन्होंने न्यायिक विधि से सभी सबूतों की जाँच करके अपना वक्तव्य सर्वानुमति से प्रकाशित किया। उसे उधर के समाचारपत्रों ने प्रकाशित किया है जिसका अनुवाद इस प्रकार है—

कुमारी शांति चार वर्ष की आयु तक विशेष बोलती नहीं थी। बाद में कुछ-कुछ ऐसा बोलने लगी मानो वह अपना पूर्व वृत्तांत बता रही है। फल खाने लगती तो कहती थी कि मथुरा में घर था, वहाँ पर भी मैं इसी प्रकार के फल खाती थी। उसकी माँ उसे कपड़े पहनाती थी तो वह कहती कि मथुरा में मैं फलाने प्रकार के कपड़े पहनती थी। मेरा पति कपड़े का व्यापारी है। मेरा पूर्व का घर पीले रंग का था। मथुरा के पूर्व घर की गली में अमुक दुकानें थीं। इस छोटी बच्ची के इन वाक्यों से स्वाभाविक रूप से सबको आश्चर्य होता था। यह बात कौतूहल की न रहकर सोचने योग्य जिज्ञासा का विषय हो गई और लड़की के पिताजी ने अपने चाचा श्री बिशनचंद्र, जो रामजस विद्यालय के अध्यापक थे और दरियागंज में रहते थे, उन्हें एक साल पूर्व लड़की को दिखाया। उन्होंने सहज रूप से लड़की से पूछा, 'तुम्हारे पति का नाम क्या था?' उसने जोर से न कहकर चाचा के कान में अपने पूर्व पति का नाम कहा, 'पंडित केदारनाथ चौबे।' उस आठ-नौ साल की बच्ची

का यह अकृत्रिम व्यवहार देखकर बिशनचंद्रजी ने इस बात की खोज करने का विचार बनाया। कन्या ने साथ में मथुरा जाने की बात की तब उसे कहा गया कि 'हम पहले पता लगा लेते हैं, बाद में तुम्हें ले जाएँगे।' लड़की के माँ-बाप को डर था कि कहीं लड़की हाथ से न चली जाए, अत: उन्होंने जाँच नहीं की। लड़की बार-बार पति के संबंध में पूछती थी तो उसे किसी प्रकार समझा दिया जाता कि पता ही नहीं मिला।

गत दशहरे के दिन दरियागंज में रहनेवाले प्रिंसिपल लाला किशनचंद्र एम.ए. ने लड़की के पिताजी से बेटी से मिलने देने की विनती की, क्योंकि वे इस बात की सत्यता को जानना चाहते थे। एक छोटी बैठक हुई, जिसमें लड़की ने स्पष्टता से अपने पूर्वजन्म के पति का नाम मथुरा के केदारनाथ चौबे ही बताया। तब उसके द्वारा बताई गई निशानियों के आधार पर मथुरा के उस पते पर प्रिंसिपल किशनचंद्र एम.ए. ने एक पत्र भेजा।

आश्चर्य की बात यह थी कि मथुरा के केदारनाथ चौबे ने स्वहस्ताक्षर से पत्रोत्तर दिया। उसमें केदारनाथ ने कहा कि लड़की द्वारा बताई गई बातें लगभग सही हैं। इतना ही नहीं, उन्हें भी अति जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उन्होंने उस उत्तर में निवेदन किया था कि उनके एक रिश्तेदार पंडित कांजीमल दिल्ली के भानमल गज्जारी मंडली में नौकर हैं, उन्हें उस लड़की से मिलाया जाए। इस प्रार्थनानुसार पंडित कांजीमल लड़की से मिलने आए तब लड़की ने उन्हें तुरंत पहचाना और कहा कि ये मेरे छोटे भाई के रिश्ते में हैं। इस प्रकार लड़की की पूर्वजन्म की स्मृति सही मानकर कांजीमल ने मथुरा से लड़की के पूर्व पति को दिल्ली बुलाया।

कुमारी शांति की पूर्वजन्म के पति से प्रत्यक्ष भेंट

बड़े-बड़े लोगों के उस आश्चर्यकारक निमंत्रण पर पंडित केदारनाथ चौबे, अपनी दूसरी पत्नी और पहले पत्नी का दस वर्ष का लड़का साथ लेकर दिनांक १३ नवंबर, १९३५ को दिल्ली पहुँचे। उन्हें देखते ही लड़की ने अपने पति और पुत्र को पहचाना तथा भावना विवश होकर आधे घंटे तक पुरानी स्मृति के कारण रोती रही। उसके बाद पंडित केदारनाथ ने उससे वैवाहिक जीवन के एकांत की कुछ बातें पूछीं और अंत:स्थ संभाषण में कुछ गुह्य निशानियाँ पूछीं। पूर्वजन्म के सभी अनुभवों को कुमारी शांति ने सही-सही बताया। तब पंडित केदारनाथ को भी निश्चित रूप से यह अपनी पूर्वजन्म की पत्नी होने की बात जँच गई और रोना आ गया। कुमारी शांति ने अपने लड़के को गोद में लिया और उसे अपने खिलौने देने के लिए अपनी माता से कहा। फिर उसने मथुरा के अपने गत जन्म के ससुराल के घर के चिह्न, उस घर

के रास्ते, विश्रामघाट का और द्वारकाधीश मंदिर का वर्णन किया। पड़ोसियों की बातें बताईं। इतना ही नहीं अपितु उसे याद आया कि मृत्यु के पूर्व द्वारकाधीश के मंदिर को दान देने के लिए उसने अमुक एक कमरे में सौ रुपए गाड़कर रखे थे। वह मथुरा जाने का हठ करने लगी, परंतु उस समय उसके माँ-बाप ने वह बात नहीं मानी।

पर बाद में अनेक प्रतिष्ठित लोगों के कहने पर शांति के माँ-बाप ने उसे मथुरा ले जाने की बात मान ली। मिस्टर आसफ अली, दिल्ली का प्रसिद्ध मुसलमान व्यक्तित्व, अपनी विदुषी पत्नी के साथ जाने वाले थे, परंतु ऐन समय पर निकले नहीं। अमेरिका से लौटे श्री लाला को हम कमेरे के साथ ले गए। गाड़ी मथुरा के लिए निकलते ही उस लड़की को बहुत हर्ष हुआ।

कुमारी शांति अपने पूर्वजन्म के घर ले जाती है

मथुरा के पास आते ही उसकी मुद्रा उत्सुकता और आनंद से लाल हो गई। उस नौ वर्ष की लड़की ने, बिना पूर्व में देखे या जिसे समाचार पढ़ना भी संभव न हो, तो भी गाड़ी स्टेशन पर रुकने के पूर्व ही कहा कि अब ११ बजे यदि पहुँचे तो द्वारकाधीश मंदिर बंद मिलेगा। यही वहाँ का नियम है। गाड़ी स्टेशन में घुसते ही लड़की खड़ी हो गई और खुशी से चिल्लाने लगी कि 'मथुरा आ गई, मथुरा आ गई!'

जेठ को प्रणाम

पहली आश्चर्यकारक घटना हमारे स्टेशन पर उतरते ही हो गई। भीड़ थी इसलिए परीक्षण मंडल के श्री देशबंधु ने उस बालिका को गोद में ले लिया। थोड़ा आगे जाते ही एक अर्धवयस्क गृहस्थ मथुरा पद्धति के परिधान में आ रहा था। हमें भी नहीं मालूम था कि वह कौन है? इसलिए हमारा ध्यान ही नहीं गया। लड़की तो हमारे पास ही थी इसलिए उसे किसी के कुछ बताने की बात ही नहीं थी। परंतु उस अनोखे व्यक्ति को देखकर वह गोद से नीचे उतरी और उसके पास गई। उसके चरणों को छूकर बाजू में सलज्ज खड़ी हो गई। यह कौन है? ऐसा पूछते ही उसने धीरे से कहा, "ये मेरे जेठ हैं, बाबूरामजी चौबे!" यह सुनते ही बाबूराम की आँखों में भी आँसू आ गए।

उसके बाद हम लोगों ने हमें जो ठीक लगा एक ताँगा पसंद किया। यह इसलिए कि लुच्चेपन का मौका न मिले और लड़की को आगे की सीट पर बैठाया ताकि कोई उसे कुछ न बताए। पुनः उस लड़की के आस-पास कोई रिश्तेदार न रहे ऐसा पहरा रखा। लड़की कहेगी वैसे ताँगे को रास्ते में मोड़ते गए।

लड़की ने कहा, ''होली फाटक की ओर चलो।'' रास्ते में जो मकान लगते गए उसका भी वह वर्णन करती थी। 'फाटक' तक पहुँचने के पूर्व उस चौक का बराबर वर्णन उसने किया। एक स्थान पर ताँगे को रोककर उसने कहा, ''अब इस गली से ले चलो।'' और वह गली आते ही कहा, ''अब उतरिए।'' हम उतरकर गली में पैदल चले। फटे कपड़े पहने एक पचहत्तर वर्षीय व्यक्ति को देखते ही शांति ने कहा, ''ठहरिए, यही मेरे ससुरजी हैं!'' उसने उनके चरणों में प्रणाम किया। उस गंभीर प्रसंग का वहाँ के सभी लोगों पर परिणाम हुए बिना न रहा। यद्यपि उसका वह पहला घर पीले रंग का नहीं रहा था तो भी वहाँ जाते ही उसने 'यही मेरा घर' ऐसा कहा। उस मकान में अब कोई दूसरा किराएदार रहता है। मथुरा के दो-तीन प्रमुख गृहस्थों को भी हमने साथ में लिया और लड़की को उस घर में ले गए। उस घर में आते ही लड़की ने अपने कमरे में सीधे प्रवेश किया। उस समय मथुरा के नेताजी ने लड़की से पूछा, ''घर का जैजरुर कहाँ है?'' यह शब्द 'जैजरुर' दिल्ली में हममें से किसी ने नहीं सुना था, पर उस शब्द को सुनते ही उसने सीधे जीने के नीचे का संडास दिखाया। उसे घर की पूरी-पूरी जानकारी थी यह बात स्पष्ट हो गई।

कुमारी शांति पूर्वजन्म के स्वयं के घर में

अल्पाहार के बाद लड़की ने कहा, ''मुझे अपने दूसरे घर ले चलो। वहाँ मैंने रुपए गाड़कर रखे हैं।'' वह मकान भी उसने सहज और तुरंत पहचान लिया। यह मेरा स्वयं का घर है, मैंने अधिकतर जीवन इसी घर में बिताया। जहाँ उसने जिंदगी बिताई थी। पंडित केदारनाथ का परिवार आज भी वहीं रहता है। पंडित नेकीराम शर्मा ने पूछा कि वह कुआँ कहाँ है, जिसकी बात तुम दिल्ली में कहती थीं। लड़की दौड़ती हुई छोटे आँगन में गई, परंतु वहाँ कुआँ नहीं था। तब वह कुछ परेशान नजर आई। परंतु एक कोने में जाकर उसने कहा, ''कुआँ यहीं था!'' तब पंडित केदारनाथ ने वहाँ का पत्थर हटाया। लड़की खुशी से चिल्लाई, ''वह देखो।'' कुआँ कुछ ही दिन पूर्व ढककर रखा गया था। गड़ा हुआ धन कहाँ है ऐसा पूछते ही उसने कहा, ''ऊपर चलिए! वहाँ के कमरे का ताला खोलिए।'' ताले को खोलने का भी उसे धीरज न रहा। वह दरवाजे की झिरी से अंदर देखने लगी। कमरा खोलकर अंदर जाते ही उसने एक कोने में पाँव रखकर कहा, ''यहाँ रुपए गाड़े हैं।'' केदारनाथ चौबे पहले उस स्थान पर खोदने से मना करने लगे, पर अंततः खोदा। भूमि खोदते ही एक गल्ला मिला। उसमें रुपए नहीं थे। लड़की को वह सही नहीं लगा, वह स्वयं मिट्टी में पैसे खोजने लगी, पर उसमें कुछ नहीं मिला; फिर

भी वह कहती रही—मैंने रुपए इसी गल्ले में रखे थे। फिर सहसा कुछ स्मरण कर उसने कहा, ''मेरे माता-पिता के घर चलो।''

शांति की पूर्वजन्म के माँ-बाप से भेंट

दिल्ली में जब वह थी तब उसे माँ-बाप की स्मृति नहीं आई थी। मथुरा में घूमते समय स्मृति होते ही वह माँ-बाप का घर दिखाने ले गई। एक घर दिखाया और पाँच-दस आदमियों में से अपने माँ-बाप को पहचान लिया। लड़की ने माँ को देखते ही गले लगाया और वह शोकमग्न होकर रोने लगी। पूर्वजन्म की उन माँ-बेटी की भेंट का वह दृश्य देखकर हमें ऐसा लगा कि पूर्वजन्म की स्मृति नहीं रहती तो यही अच्छा है।

शाम तक यह सब दौड़-धूप चलती रहने से लड़की को नींद आने लगी। परंतु वह कहने लगी कि मथुरा में कुछ दिन रहना चाहिए।

जाँच करने पर हमें पता चला कि पंडित केदारनाथ चौबे की प्रथम पत्नी की मृत्यु ४ अक्तूबर, १९२५ को हुई और कुमारी शांति का जन्म ग्यारह दिसंबर को हुआ। परीक्षक मंडल की इस रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस मामले में आवश्यक सबूत सामने आ गया है, अतः पुनर्जन्मवाद की चर्चा में यह उदाहरण विचार योग्य है।

परंतु इस संबंध में एक चेतावनी

इस संबंध में एक चेतावनी देना भी आवश्यक है। इसमें जो घटनाएँ विश्वसनीय लगती हैं उससे भी अधिक अनुत्तरीय और बनावटी प्रकरण पुनर्जन्म की स्मृति के संबंध में यूरोप और अमेरिका में घटित हैं। पाँच-दस लोग मिलकर आपस में नाटक रचकर किसी व्यक्ति को तोते के समान सिखा और उपर्युक्त प्रयोगों के समान प्रयोग करके बड़े-बड़े शास्त्रज्ञों को धोखा देना। ऐसा कई बार हुआ है। चमत्कार होने पर धन और नाम की कमाई भी काफी होती है। उपर्युक्त छोटी लड़की को आजकल पटियाला के महाराजा ने बुलाया है। अपने माँ-बाप के साथ वह पटियाला जाएगी ऐसी जानकारी मिली है। उपर्युक्त संपूर्ण प्रकार सतही तौर पर विश्वसनीय लगा तो भी और अविश्वसनीय कहने के लिए कोई आधार भी नहीं तो भी उसमें कपट और भ्रमित करने के अनेक स्थल दिखाई देते हैं। परंतु इस प्रश्न को अलग रखकर निश्चित और ठोस सबूत इस प्रकरण में अभी भी मिलना आवश्यक है। इतने पर भी वह प्रकरण सही निकले तो भी उसका हल पुनर्जन्मवाद के समान अन्य मानसशास्त्रीय उपपत्ति से लगाने जैसा है। पुनर्जन्म सिद्ध होने पर भी पूर्वजन्म के वे

संबंध किसी को भी बंधनकारक होंगे, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं।

कितने ही बदमाश लोग पूर्वजन्म की स्मृतियों की झूठी बात करके अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। 'तुम मेरी पूर्वजन्म की पत्नी हो!' मुझे लगता है, बिना सबूत ऐसा कहकर भोली-भाली महिला को ठगते हैं। ये पुराने संबंध इस जन्म में भी बंधनकारक हैं ऐसा मानकर, 'तुम मेरे पिछले जन्म के पुत्र, मित्र या शिष्य हो।' ऐसा बताकर कितने ही साधुओं ने, महिलाओं ने, महंतों ने अन्य भोले लोगों को लूटा है। ऐसे उदाहरण हैं। इसलिए सबको एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस जन्म के प्रत्यक्ष स्नेह संबंध यदि इस आयु में ही बंधनकारक नहीं होते हैं, बारह वर्ष के बिना व्यवहार का ऋण, संपत्ति और स्वामित्व डूब जाता है, इस जन्म में एक दूसरे से नहीं जमी तो विवाह-विच्छेद, तलाक मिलता है! पुनर्विवाह होते हैं, पुराने स्नेह, कपट या संबंध में खंड आने से टूटते हैं। नए जुड़ते हैं। इसलिए पूर्वजन्म के असिद्ध, अप्रत्यक्ष, संदेहमय ऐसी रिश्तेदारी से भी कोई बंधन में नहीं रहता। पूर्वजन्म के प्रिय संबंध यदि माना तो फिर बैर, वितुष्टि, ऋण यह सब अवांछनीय तत्त्व इस जन्म में भी गले पड़ सकते हैं। और फिर दुर्दशा हो सकती है।

तब केवल यह एक विचारणीय चिंतन का प्रश्न है। इसके अतिरिक्त ऐसी पूर्वजन्मादि स्मृतियों पर निश्चित रूप से विश्वास नहीं करना चाहिए। उस स्मृति से आज के प्रत्यक्ष सिद्ध व्यवहार में बिलकुल बाधा नहीं लानी चाहिए। पूर्वजन्म में कोई बात थी केवल इसलिए नहीं, पर इस जन्म में वह उपयुक्त या वांछनीय है तो ही उसे व्यवहार में लाना चाहिए। उस बंधन को मानना चाहिए और प्रत्यक्ष व्यवहार रखकर ऊपरी तौर पर अपूर्व और चामत्कारिक लगनेवाली घटनाओं की वैज्ञानिक छानबीन करके उनकी उपपत्ति लगाने या भंडाफोड़ करने का प्रयत्न करना चाहिए।

□

भारतीय पंचांग का सूतोवाच

भारत के महाराज्य में एकात्मता की भावना संचारित करने और उसका प्रशासन व्यवस्थित करने के लिए जिस प्रकार एक संविधान, एक सेना, एक राष्ट्रभाषा, एक लिपि, एक मुद्रा, एक मापन पद्धति आदि संगठक साधन आवश्यक हैं उसी प्रकार सभी राष्ट्रीय और व्यक्तिगत व्यवहार में जिसकी कालगणना का उपयोग मान्य हो ऐसा एक राष्ट्रीय पंचांग भी आवश्यक है।

राष्ट्रीय पंचांग हेतु आंदोलन

यह आवश्यकता, अपने बारे में बोलना हो तो लंदन में सर्वप्रथम हमारे ध्यान में आई। सन् १९०७ में 'अभिनव भारत' की एक बैठक में राष्ट्रीय पंचांग की आवश्यकता विषय पर हमने एक भाषण दिया था। वह पंचांग कैसा हो इसकी भी चर्चा बीच-बीच में होती रहती थी। परंतु उस संबंध में कोई निश्चय नहीं हो पाया। आगे चलकर फ्रेंच रिवोल्यूशनरी पुस्तकों का अध्ययन करते समय कार्लाइल की इस विषय की पुस्तक पढ़ने में आई। फ्रेंच क्रांतिकारियों के जैकोबिन पक्ष ने क्रिश्चियन धर्म के विरुद्ध जब क्रांति की तब रोम का पंचांग भी निरस्त करके उसके स्थान पर 'रॉमे' (Romme) द्वारा तैयार किया हुआ व्यावहारिक पंचांग फ्रांस की संविधान समिति ने कानून से संपूर्ण फ्रांस राष्ट्र में लागू किया। इस घटना का और इस पंचांग की विशेषताओं का चटपटा वर्णन कार्लाइल ने उपर्युक्त पुस्तक में किया है। रॉमे के पंचांग की रूपरेखा देखकर हमारी 'भारतीय पंचांग की सामान्य कल्पना' एक साँचे में बैठने योग्य आकार लेने लगी। किंतु उसके बाद शीघ्र ही क्रांति के तूफान में इतने वेग से और आवेश से हम सब प्रभावित हो गए थे कि उस महत्तम कर्तव्य के सामने एकदम साधारण यह कार्य हमारे मन के किस कोने में जाकर गिरा इसकी जानकारी भी हमें नहीं मिली। अब वह योग आ गया है। अन्यत्र भी कुछ लोगों को उस समय में भी राष्ट्रीय पंचांग की आवश्यकता अनुभव हुई होगी।

तथापि गत चालीस वर्षों में राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के संबंध में देश में चर्चा होकर जनता के निश्चित विचार बने। इस कारण संविधान समिति में इस विषय पर विचार होकर उचित निर्णय लिया गया, परंतु राष्ट्रीय पंचांग के संबंध में वैसी चर्चा नहीं हुई। और कोई निश्चित योजना संगठित रूप से संविधान समिति के सामने रखी भी नहीं गई। गत दो-तीन वर्षों से एक भारतीय पंचांग की आवश्यकता और पंचांग का स्वरूप क्या होना चाहिए इस संबंध में चर्चा शुरू हुई है। इस प्रकार का पंचांग अपनी योजनानुसार छापने का प्रत्यक्ष उपक्रम भी कुछ स्थानों पर हुआ यह हमारे देखने में आया है। उदाहरणस्वरूप पुणे के श्री वा.वि. साठे द्वारा प्रकाशित छोटी दैनिकी, 'भारतीय प्रजासत्ता युग की छोटी दैनिकी' बताई जा सकती है। तथापि इस प्रकार के यदा-कदा होनेवाले प्रयत्नों से कुछ नहीं होगा। उन सब विचारों को केंद्रित करके भारतीय पंचांग समस्या के लिए संगठित आंदोलन किए बिना राष्ट्रभाषा समस्या के समान यह प्रश्न अधिकृत रीति से हल नहीं होगा। इस दिशा में हमारी दृष्टि से अगला कदम हम इस लेख द्वारा रख रहे हैं।

रॉमे का कालदर्शक (Calender)

फ्रेंच क्रांतिकारियों की संविधान समिति द्वारा स्वीकारे हुए राष्ट्रीय पंचांग की छानबीन ने हमारे राष्ट्रीय पंचांग की कल्पना को जैसी प्रेरणा दी वैसी वह अन्य लोगों को प्रेरणादायी होने की संभावना है। इसलिए रॉमे के कालदर्शक की संक्षिप्त रूपरेखा हम यहाँ दे रहे हैं। उस कालदर्शक की मुख्य बात यह है कि वह केवल ऐहिक या व्यावहारिक दृष्टि से रचा हुआ था कि फ्रेंच वायुमान (मौसम) के हिसाब से समान चार ऋतुओं का वर्ष, वर्ष के बारह माह, प्रत्येक माह के समान तीस-तीस दिवस यानी कुल तीन सौ साठ दिन होते हैं। वर्ष के शेष पाँच दिन बुद्धि, श्रम, कर्मफल, मतप्रचार आदि उत्सवों के लिए रखे गए। कुल वर्ष के दिन तीन सौ पैंसठ हो गए। उपवाद यानी प्रत्येक चौथे वर्ष के अंत में एक छठवाँ दिन अधिक पकड़कर उसे क्रांति-उत्सव के रूप में मनाना। प्रत्येक माह के तीस दिन के तीन भाग करके तीन दसवडे। उन दसवडे के अंतिम दिन को छट्टी। क्योंकि 'सनबाथ' शब्द क्रिश्चियनों का है, अतः उसकी और रविवार की छुट्टी का बहिष्कार। बारह माह के विसंगत नाम बदलकर उन नामों से प्रचलित फ्रांस का पंचांग नष्ट करके यह भौतिक पंचांग होना चाहिए इसलिए फ्रांस के कोने-कोने से लोगों ने प्रदर्शन किए। अंत में संविधान समिति ने इस राष्ट्रीय पंचांग को विधितः लागू किया। क्रिश्चियन सन् १७३२ रद्द करके उसके स्थान पर क्रांतिसंवत् वर्ष प्रथमतः प्रारंभ किया। उस दिन लोगों ने राष्ट्रीय उत्सव मनाया। अब अपने स्वतंत्र भारत के लिए

एक राष्ट्रीय 'भारतीय' पंचांग क्यों होना चाहिए और वह कैसा हो इस संबंध में कुछ सुझाव नीचे दे रहा हूँ—

परंपरा-विरोधी रोमनीय पंचांग

रोमनीय क्रिश्चियन पंचांग हमारा राष्ट्रीय पंचांग नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह विदेशी है। उसे हमपर विदेशी राजसभा ने जबरदस्ती लादा है। उसके बिना हमारा कुछ काम रुकेगा ऐसा कोई भी विशेष गुण उसमें नहीं और हमारी राष्ट्रीय परंपरा से वह सर्वथा विरोधी है। कैसा है ? यह देखें। यह पंचांग प्राचीन रोमन लोगों का है। इसका आरंभ मार्च माह से होता था। आगे चलकर रोमन लोग ईसाई होने पर उसी पंचांग का किसी तरह ईसाई पंचांग में संस्करण बदला गया। इसलिए उसमें माहों के नामों और संख्या में आज की हास्यास्पद विसंगति हुई दिखती है। नाम से जो सप्टेंबर (सप्तम) माह उसे आज गिनते हैं नौवाँ। जो आक्टोबर (अष्टम) उसे दसवाँ, जो नोव्हेंबर (नवम) उसे ग्यारहवाँ, जो डिसेंबर (दशम) उसे बारहवाँ। अन्य माहों के नाम भी रोमन संस्कृति से संबद्ध! प्राचीन रोमनों का जो द्विमुखी देवता जेनस था, उसके नाम से माह जनवरी (जानुअरी), बुद्धि का देवता Maia उसका मास मई। ज्युनिअर्स ब्रूटर्स, ज्युलिअस सीजर और ऑगस्टस इन रोमन वीरों के नाम से क्रमशः जून, जुलाई, अगस्त। इन नामों का अपने देश के माहौल से, कथाओं से, इतिहास से, भारतीय परंपरा से कुछ भी संबंध नहीं है, इसके साथ ख्रिस्ती संवत्, सन्, उपवास, धार्मिक कथाएँ जोड़ दी गई हैं। ऐसा यह पंचांग अंग्रेजों की राजसत्ता के कारण आज देश के कोने-कोने में और घर-घर में और दैनंदिन व्यवहार में उपयोग में लाया जा रहा है। परंतु स्वराज प्राप्ति के बाद परकीय सत्ता की गुलामी का यह प्रतीक भारतीय महाराज्य के राष्ट्रीय पंचांग के रूप में स्वीकारना और उसका सम्मान करना बेशरमी का लक्षण होगा।

पूर्व में मुसलिम पंचांग ने भी इसी प्रकार हिंदुस्थान के राष्ट्रीय व्यवहार पर अपनी पकड़ मजबूत की थी। मुसलमानों की बादशाही समाप्त करनेवाले मराठे, उनके राजनीतिक और व्यक्तिगत व्यवहार में भी हिजरी सन्, महीना, तारीख कितना अधिक प्रभाव था यह उनके ऐतिहासिक कागज-पत्रों से स्पष्ट होता है। हमारे बचपन में भी स्कूल में बच्चों को मुसलिम माह के नाम याद करने पड़ते थे। इतना ही नहीं अपितु प्रत्यक्ष पटवर्धनी संस्थानों में सन् १९४३ तक यह मुसलिम कालगणना सरकारी व्यवहार में चलती थी। उसके बाद कुछ हिंदू संस्थाओं के कारण यह अरबी कालगणना हमारे राष्ट्रीय व्यवहार से उखाड़कर फेंक दी गई।

वैसे ही यह अंग्रेजी कालगणना उखाड़कर फेंकनी चाहिए। परंतु यहाँ यह

बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि मुसलिम पंचांग या ईसाई पंचांग जिन्हें अपना धार्मिक पंचांग लगता है वे मुसलिम या ईसाई नागरिक उसका पालन अपने-अपने समाज में शांति से कर सकते हैं। ये पंचांग राष्ट्रीय पंचांग का अखिल भारतीय स्थान नहीं ले सकेंगे।

धार्मिक आचार के लिए स्वकीय पंचांग

यह विदेशी पंचांग छोड़ दें तो भी हमारी भारतीय संस्कृति और परंपरा के अनुरूप जो दस-बीस पंचांग हिंदू जगत् में प्रचलित हैं उनमें से किसी एक को स्वीकृत कर अखिल भारत का अधिकृत राष्ट्रीय पंचांग बनाना भी असाध्य और अनुचित है। वेदांग ज्योतिष के काल से तो आज तक पंचांग संशोधन का कार्य अपने हिंदू राष्ट्र में निरंतर चलता आ रहा है। उसका संबंध धार्मिक आचार से अविछिन्न जुड़ा हुआ है। उन पंचांगों के विभिन्न सिद्धांतों में आज तक एकमत नहीं हुआ है। आगे भी नहीं होगा। आज भी एक की जिस दिन एकादशी उसी दिन दूसरे की द्वादशी। एक की संक्रांत तो दूसरे की 'कर'। एक का श्रावण सोमवार तो दूसरे का पितृपक्ष। उनमें से किस पंचांग को कानून के अधिकार से दूसरों पर लादा जाए? और किसी की भावना क्यों दुखाएँ? अधिक कारण न देते हुए इतना ही कहना होगा कि अपने हिंदू पंचांग अपने-अपने अनुयायियों में सुख से चलने दें।

ऐहिक व्यवहार के लिए मर्यादित क्षेत्र

परंतु केवल ऐसे जो राष्ट्रीय वैयक्तिक दैनंदिन व्यवहार हैं उनके लिए सभी नागरिकों को सर्वसामान्यत: कालगणना के काम में उपयुक्त होगा ऐसा एक नया राष्ट्रीय पंचांग कानून से संपूर्ण भारत में लागू करना चाहिए। उसका नाम 'भारतीय पंचांग' रखना चाहिए। व्यवहार की दृष्टि से ही उसका क्षेत्र मर्यादित होना चाहिए।

आज प्रचलित पंचांगों में से कोई भी पंचांग राष्ट्रीय व्यवहार में इस प्रकार एकमुखी और सुसंगत कालगणना हेतु उपयोग में नहीं लाया जा सकता। परंतु यह दिक्कत विदेशी अंग्रेजी पंचांग फिलहाल दूर कर सकती है। यही कारण है कि हमारे धार्मिक पंचांगानुयायी लोग भी भौतिक व्यवहार के लिए अंग्रेजी पंचांग को हिंदुस्थान में चुपचाप उपयोग में ला रहे हैं। यदि उस विदेशी पंचांग के स्थान पर राष्ट्रीय व्यवहार हेतु एकमुखी, सुसंगत और केवल भौतिक क्षेत्र के कार्य में कालगणना करनेवाला और स्वकीय परंपरा का उन्नयन करनेवाला भारतीय पंचांग अधिकृत रीति से शुरू किया जाए तो सभी लोगों को आनंद होगा। आनंद होना चाहिए। उसका विरोध होना असंभव है।

भारतीय संवत्

प्रचलित पुराने पंचांगों की जो व्यवस्था ऊपर कही है वह व्यवस्था उन्हीं कारणों से प्रचलित विविध शंकाओं और संवतों पर लागू करनी चाहिए। राज्य संस्थापकों ने या धर्मप्रवर्तकों ने अपने-अपने शक-संवत् शुरू किए हैं। भारत के विभिन्न प्रांतों में या पंथों में वे हैं। वैसे ही चलने देने चाहिए। उनका जन्म भारत में ही हुआ। भारत के महापुरुषों ने संवतों का प्रचार किया इसलिए युधिष्ठिर संवत्, विक्रम संवत्, शालिवाहन शक, वीर संवत् आदि अनेक छोटे-बड़े शक-संवत् हम हिंदुओं को वंदनीय हैं। वे अपने ही हैं। परंतु अखिल भारत में एकमुखी और कानून की दृष्टि से जो संवत् शुरू करना हो उसका नाम होना चाहिए। भारतीय संवत् शब्द ही रखना चाहिए। कारण, कुछ इतिहासों में शक शब्द का संबंध विदेशी शक जाति से लगाते हैं। परंतु संवत् शब्द पूर्णतः भारतीय है।

यह भारतीय संवत् यद्यपि आज शुरू होनेवाला हो तो भी अपना भारतीय राष्ट्र कोई आज का जनमा नहीं है। आज के किसी भी राष्ट्र की परंपरा उससे अधिक प्राचीन, अखंड अथवा महान् नहीं। वह प्राचीन और अखंड भारतीय परंपरा इस नए 'भारतीय संवत्' में व्यक्त होनी चाहिए। उसका आरंभ जैसे आज ही हुआ ऐसा अयथार्थ और अपमानास्पद आभास उत्पन्न नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत आज उपलब्ध ऐतिहासिक ज्ञान के आधार पर जो तर्कशुद्ध हो सकेगा, उतना ही उस भारतीय परंपरा का प्राचीन इतिहास जानना चाहिए। केवल पौराणिक किंवदंतियों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए।

इस दृष्टि से युद्धकाल तक, ढाई हजार वर्षों पूर्व तक की भारतीय परंपरा की प्राचीनता विशुद्ध रूप से इतिहास सिद्ध कर रहा है। उस समय का हमारा प्रचीन वाङ्मय सौभाग्य से आज भी उपलब्ध है। उस काल का हमारा समाज संगठित, व्यापक और विकसित दिखाई देता है। वैसा बनने के लिए उसे लगभग ढाई हजार वर्ष अवश्य लगे होंगे। यह बात समाजशास्त्र की तर्क पद्धति से भी सिद्ध होती है। अन्य बातों की चर्चा स्थानाभाव से छोड़ रहे हैं। उपर्युक्त दो प्रमाणों के आधार पर हमारी भारतीय संस्कृति का प्रातःकाल ऐतिहासिक दृष्टि से भी आज से भूतकाल में पाँच सहस्र वर्षों पूर्व का होना चाहिए। इसलिए नए भारतीय पंचांग का अधिकृत आरंभ जब होगा तब उसका प्रारंभ १, २ से न करते हुए भारत की प्राचीनता और अखंड परंपरा, जिसमें प्रतिबिंबित होगी ऐसा ५००१ से आरंभ करना चाहिए।

भारतीय पंचांग में वर्ष के बारह महीने होते हैं। उनके नाम कौन से होने चाहिए? उनके चालू नाम चैत्र-वैशाख आदि हैं। हिंदुस्थान में वे नाम और ऋतुओं

के नाम समान होने के कारण राष्ट्रीय एकात्मता के उपकारक हैं। इसलिए उन्हें स्वीकारना चाहिए। ऐसा हमेशा लगता है। परंतु इन महीनों का आरंभ भिन्न प्रांतों में भिन्न दिन से होता है। उनके बाद आनेवाली तिथि क्षय और वृद्धि से तथा अन्य कारणों से वह मास और तिथियाँ अखिल भारतीय व्यावहारिक कालगणना में बाधक होती हैं। मधुमाधवादि ऋतुएँ-मासों के नाम दिए तो भी कालांतर से ऋतुएँ ही बदलती हैं। 'चैत्र वैशाखयो: वसंत:' यह वचन छोड़कर 'फाल्गुन-चैत्रयो: वसंत: ऐसा कहने की बारी आई है। इसलिए नक्षत्र, राशि और ऋतु के नाम महीनों को देना निश्चित कालगणना के लिए बाधक और नए घोटाले उत्पन्न करना होगा यह ध्यान में आता है। नए पंचांग के माह के नाम संख्यावाचक रखना उचित होगा। प्रथम मास, द्वितीय, तृतीय, आदि। पुराने पंचांग अपने-अपने क्षेत्रों में कायम रखने चाहिए। उन पंचांगों में चैत्रादि महीने और वसंतादि ऋतुओं के नाम कायम रहेंगे। भारत का एकमुखी अधिकृत, सभी भौतिक व्यवहार साधने की दृष्टि से पंचांग होगा। माह के नाम 'गद्य' जैसे लगें तो यह बात ध्यान में आनी चाहिए कि आज की तिथियों के नाम भी द्वितीया, तृतिया ऐसे संख्यावाचक ही हैं। यह बताना भी आवश्यक है कि माह और साठ संवत्सरों को व्यक्तियों के नाम देना अप्रशस्त होगा। पुणे के वि.वि. साठे और अन्य कुछ गृहस्थों ने ऐसे 'भारतीय पंचांग' की जो योजना बनाई है उसमें माहों को तथा साठ संवत्सरों को आजकल की पीढ़ी के प्रमुख व्यक्तियों के नाम दिए हैं। बालमास, पालमास, मोहनमास, विनायकमास या उमेशचंद्र संवत्सर, तैयबजी संवत्सर, कान्हेरे संवत्सर आदि। इन व्यक्तियों का गौरव अन्य तरह से किया जा सकता है। जिसे भारतीय कालदर्शन कहना हो उसमें व्यक्तियों के नाम विसंगत लगते हैं। अन्य आक्षेप छोड़ दिए तो भी मुख्य दिक्कत यह आएगी कि उनका चयन कितना ही नि:पक्षपात ढंग से किया जाए तो भी इस प्रकरण में पक्षपात न होना पूर्णतया असंभव है। अपने देश में गत पाँच हजार वर्षों में चक्रवर्ती, शककर्ता, धर्मसंस्थापक, महाकवि, दर्शनकार, तपोभास्कर, महाधनुर्धर और राष्ट्र धुरंधर जिन्हें केवल अवतारी पुरुष कह सकते हैं ऐसे हो गए हैं कि उनकी तुलना में आजकल की पीढ़ियों से वैसे नाम कठिनाई से मिलेंगे। इसलिए इस राष्ट्रीय पंचांग के महीनों को तथा सवंत्सरों को वैयक्तिक नाम देने की बात छोड़ देना ही उचित होगा।

साठ संवत्सरों के पुराने नाम हैं ही। उन्हें पुराने पंचांगों में चलने दें। भारतीय पंचांग में उनकी आवश्यकता नहीं। राष्ट्रीय और भौतिक व्यवहार में उनके बिना कुछ रुकने वाला नहीं।

महीनों के दिन—प्रथम ग्यारह माह के दिन तीस-तीस होने चाहिए। बारहवें

मास के पैंतीस दिन हों। प्रत्येक चार वर्षों के बाद बारहवें माह के छत्तीस दिन होने चाहिए।

सात वारों के नाम रविवार, सोमवार आदि रहने दिए जाएँ। 'उदयातुदयम् वारः' इस अपने ज्योतिर्विदों के संकेत से वार गिनने चाहिए। यह भारतीय पंचांग राष्ट्र के भौतिक व्यवहार क्षेत्र में ही लागू होगा तो भी उनके उस-उस दिनांक के सामने उन-उन प्रांतों की तिथियाँ, त्योहार, मुहूर्त, ग्रहण, योग आदि जानकारी भी दी जा सकती है। इस प्रकार उसमें तिथि-वार, नक्षत्र आदि पंचांग के पाँच उपांग बताए जाएँ, अतः उसे पंचांग कहने में कोई आपत्ति नहीं। उनके श्रवण से 'गंगा स्नानफल' प्राप्त होना संभव क्यों नहीं होना चाहिए? यदि किसी को पंचांग कहना अच्छा नहीं लगे तो 'भारतीय कालदर्शक' कहना भी ठीक होगा।

सारांश यह कि जिस दिन यह भारतीय पंचांग अधिकृत रूप से प्रचारित करके लागू किया जाएगा वही पहला दिन होगा। जैसे—भारतीय संवत् वर्ष ५००१ प्रथम मास दिनांक। अभी केवल चर्चा के लिए यह योजना प्रस्तुत की है। उसमें क्या कम-अधिक दिखेगा उसे ठीक करने पर ही आगे का कदम उठाना है और उसका संगठित प्रचार करना है।

(केसरी, १३ व २० मई, १९५१)

□

यह खिलाफत क्या है?

कभी-कभी कोई व्यक्ति जीते-जी जितना उपद्रवी नहीं होता उतना उसके मरने पर उठा उसका भूत होता है, ऐसा भूतों आदि पर विश्वास रखनेवाले व्यक्तियों का कहना बहुत बार किसी-किसी संस्था पर भी लागू होता है, इसमें कोई शंका नहीं। मुसलिम जगत् की कुछ समय के लिए अधिष्ठात्री सार्वभौम संस्था खिलाफत के प्रकरण में भी आजकल ऐसा ही अनुभव आ रहा है। वह खिलाफत संस्था इस सदी में जिनके हाथों में संपूर्णत: थी उस तुर्क राष्ट्र ने अंतिम सुलतान या अंतिम खलीफा काजी को महायुद्ध के बाद पदच्युत करने के बाद मुस्तफा कमाल पाशा ने उस खिलाफत संस्था को ही नष्ट कर दिया। इस प्रकार मुसलमानों के आज तक तो शिरोमणि, बलवान्, बुद्धिमान् कर्तृत्ववान् ऐसे तुर्कराष्ट्र ने उस खिलाफत को अपने राष्ट्र में नष्ट कर दिया तो भी उसका पुनरुज्जीवन करने का प्रयास हिंदुस्थान के मुसलमान शुरू कर रहे हैं। विशेष आश्चर्य की बात है कि जिस खलीफा पद का उपभोग सदियों से मुसलिम तुर्कराष्ट्र ने किया और वह संस्था जब उन्हें हानिकारक लगी तब उसका तिरस्कार कर उसे गाड़ भी देने के बाद—उस खलीफा का जिन हिंदुओं से कुछ भी संबंध नहीं और हो तो पुराना अहितकारक संबंध है ऐसे हिंदुओं का प्यार उसके लिए उमड़कर आ रहा है। खिलाफत आंदोलन दस- बारह वर्ष पूर्व बड़े जोरों पर था और उसका प्रचार करने के लिए हिंदू प्रचारक, हिंदू कार्यवाह और हिंदू नेता कार्यरत थे। उन्होंने लाखों रुपए हिंदू लोगों की जेब से निकालकर खिलाफत दफ्तर की जेब में पहुँचाए। प्रत्यक्ष मुस्तफा कमाल ने खलीफा को पदच्युत करके उसकी सुलतानगिरी और खलीफागिरी छीनकर उस खिलाफत संस्था को ही बंद कर दिया। तब उस खलीफा को अपनी उपाधि के साथ हिंदुस्थान में रहने का प्रेम भरा निमंत्रण भी कुछ हिंदू नेताओं ने दिया और उस कार्य में मुसलमानों को ममता से सहयोग दिया। परंतु खलीफा और खिलाफत को हिंदुस्थान में स्थापित करने के प्रयास का अर्थ क्या होता है, उसकी थोड़ी चर्चा करने की बुद्धि

किसी को न हुई। हिंदुस्थान में हिंदुओं द्वारा शंकराचार्य पीठ बंद करने पर उसे पुनः स्थापित करने हेतु तुर्किस्थान के मुसलमान यदि लाखों रुपए चंदा इकट्ठा कर आंदोलन करें, युद्ध करें और इतना ही नहीं अपितु हिंदुओं द्वारा पदच्युत किए गए शंकराचार्य को अपनी पूजा की सामग्री के साथ, देवी-देवताओं की मूर्तियों के साथ तुर्किस्थान में आकर मठ बनाकर रहने का निमंत्रण देते तो भी आश्चर्यकारक नहीं होता। क्योंकि शंकराचार्य जानते-बूझते केवल एक साधु, तुर्किस्थान में हिंदुओं का प्रबल संगठन भी नहीं कि वहाँ जाकर वे तुर्की सत्ता पर कोई दबाव डाल सकें। परंतु खलीफा साधु नहीं, खिलाफत सुलतानी है, राजसत्ता है। और उसका हिंदुस्थान में आगमन हो, संस्थापन हो ऐसा सोचनेवाले करोड़ों भारतीय मुसलमानों का अंत:स्थ हेतु हिंदुस्थान में ही इसलामी केंद्र स्थापित करने का है, ताकि यहाँ के हिंदू संगठनों के गले में एक भयंकर पत्थर बाँधा जा सके। इसकी खुली चर्चा करने की भी हिंदू राष्ट्र को आवश्यकता नहीं हुई। हिंदू संगठनों के विचारक और दूरदर्शी ऐसे दो-चार नेता और समाचार पक्ष छोड़ दिए जाएँ तो हिंदू जनता और हिंदू नेताओं ने इस समस्या का विचार ही नहीं किया। हम क्या कर रहे हैं और उसका दुष्परिणाम क्या होगा यह उनके ध्यान में ही नहीं आया।

परंतु मुसलमान नेताओं की समझ में वह आया था। निश्चित नीति से वे इस प्रकरण के पीछे पड़े हुए थे। खलीफा पदच्युत हुआ, उसका पद भी हटा दिया गया फिर भी उन्होंने खिलाफत कार्यालय चालू रखे, खिलाफत आंदोलन को जीवित रखा। अब तो निजाम के लड़के का पदच्युत खलीफा की कन्या से विवाह करके और इस खलीफा को निजाम, भोपाल आदि मुसलमान रियासतदारों ने आज तक हिंदू प्रजा के पैसों से जो लाखों रुपए चुराए वे वैसे ही उस आंदोलन के लिए चुराते रहने का तय करके तुर्किस्थान की पराजित खिलाफत संस्था के प्रेम को हैदराबाद लाकर एक अच्छी कब्र बाँधने का निश्चय किया है। मुसलमानी कब्र की परंपरानुसार हिंदुस्थान में खिलाफत की यह कब्र हिंदुओं की प्रगति की शोभायात्रा को राजमार्ग से बाजे-गाजे के साथ जाने में बाधक बनेगी। निजाम से लेकर शौकत अली तक सभी मुसलमान नेता इस कार्य में जुटे हुए हैं, परंतु हिंदुओं को उसका आकलन भी नहीं हो रहा है। 'ये मौलाना-मौलवी पागल हैं।' इतना कहने भर से कुछ होने वाला नहीं। आने वाले दस-बीस सालों तक यह खिलाफत के संकट का काँटा हिंदू संगठनों को चुभता रहेगा इसकी उन्हें कल्पना भी नहीं है।

हिंदुओं की इस उदासीनता की आत्मघातक नीति का एक कारण ऐसा है कि खिलाफत है क्या? इसका हिंदुस्थान में किसी को अधिक ज्ञान ही नहीं। पंजाब के उर्दूशिक्षित हिंदू छोड़ दें तो शेष हिंदू जनता को मुसलमानों के हिंदुस्थान के

बाहर के इतिहास का, परंपरा का, धर्मतत्त्व का स्वरूप ज्ञात नहीं रहता। वैसे इसकी अधिक आवश्यकता भी नहीं। परंतु भारतीय मुसलमानों में पुनः इसलामी हवा गति पकड़ रही है। अतः इतिहास का अखिल इसलामी संस्था का और आकांक्षा का थोड़ा सा परिचय दिए बिना काम नहीं चलेगा। यदि हमारे हिंदू पत्रकार को, नेता को और जनता को 'खिलाफत क्या है?' इसका ऐतिहासिक और पारंपारिक ज्ञान होता तो पिछले खिलाफत आंदोलन के समय हिंदुओं ने हिंदुओं के लाखों रुपए खर्च करके मुसलमानी धर्मांधता को स्वयं ही हिंदुस्थान में फैलाया, फैलाने दिया वैसा सहज न हुआ होता। कम-से-कम इस संबंध में जो नीति थी वह सोच-समझकर, बुद्धिपूर्वक और युक्तिसंगत ही बनी होती तो किसी भेड़िए के पीछे प्रेम से बकरी लग गई ऐसा न होता। इसलिए भविष्य के लिए ही खिलाफत आंदोलन के खिलाफ हिंदू पत्रकारों को, नेताओं को और हिंदू जनता को मुसलिम नेताओं की आकांक्षाओं का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। उसके कारण हिंदुओं का क्या हित-अहित होने वाला है और उसका मुकाबला किस प्रकार करना चाहिए, उसकी शक्ति की मर्यादा क्या है और उसका जोश कितना है इस संबंध में हिंदू संगठनों को क्या नीति स्वीकारनी चाहिए यह निश्चित हो सकेगा।

खिलाफत का पुनरुज्जीवन करने के हिंदी मुसलमानों के प्रयास का अंत:स्थ हेतु हिंदुस्थान के मुसलमानी समाज का धार्मिक बल बढ़ाना और उस धर्म का भारतीय लोगों में प्रबल प्रचार करना ही नहीं है, उसका अंत:स्थ वर्तमान राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण क्रांति करना भी है। परंतु खिलाफत के संबंध के राजनीतिक दाँव-पेंचों को अलग रखना हमपर लादी गई विषयबंदी के कारण आवश्यक है। हमपर राजनीतिक विषय पर लिखने का, बोलने का प्रतिबंध है, अतः प्रचलित राजनीति में खिलाफत से आने वाले संबंध छोड़कर उसके केवल ऐतिहासिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पहलू का ही विचार हम इस लेखमाला में करना चाहते हैं। खलीफा केवल शंकराचार्य या पोप नहीं होता। खलीफा शब्द सुनते ही हिंदू पाठकों को हिंदुओं के शंकराचार्य या क्रिश्चयन के पोप की उपमा जैसी समझ में आती है और खलीफा मुसलमानी पीठ का शंकराचार्य या पोप ही होता है ऐसा वे समझते हैं। यह समझ भ्रामक है इसलिए खिलाफत प्रकरण में बड़े हिंदू नेता और जनता ने जो नीति अपनाई है वह बिलकुल गलत है। क्रिश्चियनों का पोप केवल उनका धर्माधिरक्षक होता है। उसे राजशक्ति नहीं होती। इतना ही नहीं अपितु वह राजा हो ही नहीं सकता। उसे संन्यासी होना चाहिए। उसे शादी नहीं करनी चाहिए। उसका कोई और पुत्र पोप नहीं होगा, उसको शस्त्र भी पास नहीं रखने चाहिए। वह केवल धर्मदंड का अधिकारी होगा, राजदंड का नहीं; उसकी सत्ता केवल नैतिक, केवल

धार्मिक। यूरोप के बड़े राजा भी उससे किसी समय डरते थे। उसका कारण था इसकी शापशक्ति, दंडशक्ति नहीं। क्योंकि यीशू ख्रिस्त भी कोई राज्य संस्थापक नहीं था। ''मैं ऐहिक राज्य की बात नहीं कर रहा हूँ। मेरा राज्य है स्वर्ग में—my kingdom is in heaven'' ऐसा यीशू ख्रिस्त स्पष्ट रूप से कहते थे। अर्थात् उनका उत्तराधिकारी पोप उस स्वर्ग में धर्मसत्ता का ही अधिकारी, ऐहिक राजसत्ता का नहीं। यही स्थिति हिंदुओं के आचार्यपीठ की होती है। भगवान् बुद्ध के पीछे उनका वसन उन्होंने महाकाश्यप को दिया और उसे ही बुद्ध का उत्तराधिकरी नियुक्त किया। परंतु बौद्धधर्मियों का वह उत्तराधिकारी सर्वेसर्वा पीठाध्यक्ष नहीं था। पोप या शंकराचार्य की तुलना में उनकी बौद्धधर्मीय सत्ता एकदम नाममात्र की होती है, क्योंकि बुद्ध का सही उत्तराधिकारी कोई एक व्यक्ति न होकर संघ होता है। यह व्यवस्था बुद्ध ने स्वयं करके रखी थी इसलिए बौद्धसंघ ही बौद्धधर्मियों का सही पोप या पीठाध्यक्ष होता है। उस संघ के हाथ में भी केवल धर्मदंड ही था, राजदंड नहीं। परंतु खिलाफत के सिद्धांत के अनुसार खलीफा धर्मदंड का ही नहीं अपितु राजदंड का भी अप्रतिस्पर्धी, अप्रतिम और अनन्य अधिकारी होना चाहिए। इसलामी जगत् का वह केवल धर्माध्यक्ष ही नहीं अपितु सेनाध्यक्ष तथा राजाध्यक्ष भी होगा। अत: खलीफा को हिंदुस्थान में बुलाने का मतलब अपने शंकराचार्य जैसा उसे किसी विस्मृत निउपद्रवी मठ में बैठाने जैसा नहीं होता। यह जो कल्पना हिंदुओं की होती है वह एकदम गलत है। खलीफा केवल माला जपनेवाला कोई पोप, शंकराचार्य नहीं होता वह तो इसलामी सेना के आगे रहकर शस्त्र से लड़नेवाला सेनापति और समस्त विश्व पर सम्राट् पद का अधिकार जतानेवाला विजिगीषु नेता है। होना ही चाहिए। अपने यहाँ धर्मसत्ता और राजसत्ता का दोहरा आधिपत्य सत्ता बतानेवाले केवल सिखों के दसवें गुरु हैं। गुरु हरगोविंदसिंह और उनका महापुरुषार्थी वंशज गुरु गोविंदसिंह सिखों का दसवाँ गुरु। उन्होंने सिखों का धर्माध्यक्ष पद और राजाध्यक्ष पद भी अपने हाथ में केंद्रित किया था। गुरु गोविंदसिंह अपनी कमर में दो खड्ग बाँधते थे। एक योग का और एक भोग का। एक धर्म का, एक राज्य का। वे सिख राज्य के शंकराचार्य भी थे ओर सरसेनापति भी। मुसलमानी खलीफाओं में मुसलमानी जगत् में इस प्रकार दोहरी सत्ता एकीकृत होती थी। इस प्रकरण में सिखों के दशम गुरु में और मुसलिम खलीफा में भेद यही था कि सिखों के आद्यगुरु से दोहरी सत्ता गुरुपीठ में एकत्र नहीं थी। क्योंकि गुरुनानक एक साधु थे। परंतु इसलामी धर्मछल से सिख पंथ की रक्षा करने की जिम्मेदारी सँभालने के लिए उनके गुरु को भी हाथ में तलवार लेनी पड़ी, और सिख राष्ट्र के राजनीतिक संगठन के अध्यक्ष पद की जिम्मेदारी भी अपने कंधे पर लेनी पड़ी। परंतु मुसलिम खलीफा को प्रारंभ से ही ये

जिम्मेदारियाँ प्राप्त थीं। क्योंकि उसका मूल धर्मसंस्थापक मोहम्मद पैगंबर राज्य संस्थापक भी था।

शिया धर्मशास्त्री

कहते हैं कि मोहम्मद से धर्मप्रेरणा की परंपरा अली के घराने में आई है। मोहम्मद के लड़का नहीं था। अली को ही अपना पुत्र मानने के कारण और उसी को अपनी लड़की फातिमा ब्याही इसलिए अली और उनके वंशजों में मोहम्मद की दिव्य प्रेरणा के अंश होने से धर्माचार्यत्व के औरस अधिकारी मानने चाहिए। लोगों द्वारा खलीफा का चयन करना उसे बिलकुल पसंद नहीं। जमात (लोक) खलीफा को कैसे जानेगी? खलीफा के पास जो ईश्वरीय शक्ति होती है वह ईश्वर दे सकता है। यह उसने मोहम्मद को दी जो बीजानुपरंपरा से अली के वंश में स्थिर हो गई। वह ईश्वरीय और जन्मसिद्ध शक्ति है। वह लोगों की इच्छानिच्छा पर निर्भर नहीं। दूसरी बात ऐसी कि उस शक्ति के वास्तव्य से इमाम स्वाभाविक रूप से सद्गुणी और जन्म से ही निष्पाप होता है। तीसरी बात यह कि उनका अंतिम इमाम का बच्चा इस वंश का होते हुए भी नाफ्त हुआ—वह फातम यानी सत् जीवित होने के कारण सैकड़ों वर्ष बीतने के बाद भी पुनः लौट आएगा—यह निश्चित होने के कारण धर्मशास्त्रानुसार दूसरा इमाम या खलीफा चुनना संभव नहीं—यह शिया लोगों का मुख्य तत्त्व हो गया। परंतु इस विषय पर सुन्नी धर्मशास्त्री क्या कहते हैं? यह देखना होगा।

सुन्नी धर्मशास्त्री

उनका कहना है कि खलीफा मोहम्मद के वंश का ही होना चाहिए यह तत्त्व ही गलत है। तथापि इतना सही है कि वह मोहम्मद की जाति का अर्थात् कोरेश जाति का होना चाहिए। कोरेश वंश के बाहर का खलीफा उत्पन्न होना संभव नहीं। उस कोरेश जाति को ही ईश्वर ने पैगंबर भेजकर पवित्र किया है। इसलिए जो मनुष्य कोरेश जाति का है, स्वतंत्र है, होश में है और मुसलमानी सत्ता चलाने की जिसमें शक्ति है ऐसा कोई भी व्यक्ति खलीफा के पद पर नियुक्त किया जा सकता है। परंतु इस इमाम पीठ पर एक बार किसी खलीफा की नियुक्ति हो गई तो फिर वह कितना भी दुर्गुणी हो, छल करनेवाला हो, तो भी उसे इमाम पद से हटाया नहीं जा सकता। इतना ही नहीं अपितु कोरेश जाति के इमाम द्वारा पापी, दुर्व्यसनी होने पर भी उस पीठ के धर्माचार्य के रूप में की हुई सार्वजनिक प्रार्थना भी परमेश्वर को पहुँचती है। उसे यथाशास्त्र मान्य किया जाता है।

शिया और सुन्नी में मुख्यत: धर्मशास्त्र का खलीफा कौन होना चाहिए इसी बात पर परस्पर विरोधी विचार हैं। अत: इन दोनों का मिलकर एक ही इमाम या खलीफा होना असंभव है। ये लोग एक मसजिद में एकत्र प्रार्थना भी नहीं कर सकते। तब वे एकमत से खलीफा या इमाम चुनेंगे और उनकी अध्यक्षता को मान लेंगे यह असंभव है।

यहाँ इस बात को कहना भी आवश्यक है कि इसलाम धर्म की जानकारी जिसे नहीं है ऐसे भोले हिंदू को कोई मौलवी जातिभेद का दोष बताकर कहता है कि हममें जातिभेद नहीं, हम सभी मानव एकसमान मानते हैं, गुणधर्मानुसार उनसे व्यवहार करते हैं। यदि वह शिया है तो उसे पूछना चाहिए कि 'हजरत अंधे खाँ, अली के वंश के बाहर के मनुष्य को आप इमाम क्यों नहीं मानते?' और यदि वह सुन्नी है तो उसे कहना चहिए, 'भोंदू मियाँ, कोरेश जाति का ही खलीफा क्यों होना चाहिए?' प्रार्थना (नमाज) अरबी भाषा में ही क्यों होनी चाहिए? परमेश्वर क्या किसी कोरेश जाति का कोई अरब है? क्या उसे अपनी जाति के बाहर के व्यक्ति को अधिकार देना पसंद नहीं?

इसलाम धर्म में इन दो पंथों की खलीफा के संबंध में सहमति होना कितना असंभव है यह ऊपर दरशाया गया है। परंतु उनमें जो अन्य वर्ग भेद हैं उन्हें देखने से यह प्रश्न और भी जटिल है यह स्पष्ट होता है। ये बहावी पंथी लोग अन्य उपपंथी मुसलमानों को मुसलमान कहने के लिए भी तैयार नहीं होते! फिर इमाम की बात तो बहुत दूर की। इसी प्रकार बाबी पंथ और मोहम्मद के बाद पैदा हुए अन्य पैगंबर और ईश्वरांश पैदा हुए या होंगे ऐसा जो मानते हैं वे एक खलीफा की सत्ता के नीचे आ नहीं सकते। क्योंकि उन्हें दूसरे लोग मुसलमान ही नहीं समझते। मोहम्मद के कट्टर अनुयायी करोड़ों शिया और सुन्नी मोहम्मद के बाद कोई दूसरा पैगंबर आया था या आ सकता है यह सुनना भी पाप मानते हैं। तब वे बाबी पंथियों के साथ नमाज कैसे कर सकते हैं? वे सब एक खलीफा के आचार्यत्व में रहेंगे तो हिंदी मुसलमान भी एक ही शंकराचार्य के धर्माचार्याधीन होने जैसा है। बाबी पंथ भी मानता है कि जो दूसरे पैगंबर पैदा हुए उनके पंथ का आचार्य पद उसी पैगंबर के वंश को जाना चाहिए। धर्मशास्त्र की दृष्टि से इस प्रकार मुसलमानों का एक ही खलीफा होना असंभव है। उनके पंथभेदों में राष्ट्रभेद को जोड़ दिया जाए तो यह प्रश्न कभी भी हल नहीं होगा। हमारे दिए हुए इस संक्षिप्त इतिहास से हमारे हिंदू पाठकों के ध्यान में आया होगा कि पूर्वकाल में हरेक राष्ट्र की तथा जाति की प्रवृत्ति अपने हाथ में खिलाफत रखने की थी। इजिप्ट में इजिप्शियन, तुर्की में तुर्क, स्पेन में स्पेनिश उमैयद। इस प्रकार इन मुसलमान देशों में तटस्थ मुसलमान ही खलीफा

होना चाहिए या खिलाफत उनके हाथों में ही होना चाहिए—ऐसा राज्य लोभ से उन्हें हमेशा लगता था और लगता रहेगा।

समस्त दुनिया के मुसलमानों की परिषद् बुलाकर हम एक खलीफा चुनेंगे, यह केवल एक इच्छा होगी, परंतु वह संभव नहीं यह बात मुसलमान धर्मशास्त्री जानते हैं। परंतु अपनी मुसलमानी एकता का हिंदुओं के मन पर एक हठवादी बोझ डालने के लिए वह एक गप लगा दी जाती है। इससे अधिक तथ्य हमें इस बात में नहीं दिखाई देता। यदि असंभव बात होते हुए भी मुसलमानों ने एरवाद खलीफा का चयन कर दिया तो भी दो दिन में फिर से 'धाता यथापूर्वमकल्पयत' इस न्याय से एक के इक्कीस खलीफा होने में देर नहीं लगेगी। अब सभी मुसलमानों का न हो तो भी कम-से-कम सभी सुन्नी लोगों का एक खलीफा या इमाम होना तत्त्वतः यद्यपि संभव है तो भी आज की स्थिति में इसकी भी संभावना कम है; क्योंकि तत्त्व को न मानते हुए आज तक राज्यलोभ, वंशभ्रष्टता के घमंड आदि विकारों से सुन्नी लोगों को कभी भी एकत्रित नहीं होने दिया गया, वैसे ही इसके बाद भी उनका एक ही खलीफा की सत्ता के नीचे रहना असंभव है। खलीफा केवल निष्क्रिय धर्माचार्य या शांतिरस्तु पुष्टिरस्तु कहनेवाला कोई पोप होता तो बात दूसरी थी। परंतु खलीफा धर्माचार्य ही नहीं अपितु मुसलमानी जगत् का स्वामी और राष्ट्रप्रमुख है। ऐसा होना चाहिए ऐसी समझ होने के कारण मुसलमानों को कोई भी जीवित राष्ट्र अन्य राष्ट्रपुरुष के हाथों में अपना स्वामित्व नाममात्र भी देने के लिए तैयार नहीं होगा। हिंदुस्थान के मुसलमानों की बात अलग है, उन्हें न स्वयं का घर है न द्वार। किसी के द्वार पर भीख माँगने में उन्हें अपमानित होने का कारण नहीं। इसके विपरीत हिंदुस्थान के हिंदुओं की जब तक अधिक जनसंख्या है तब तक वे चाहें उस राष्ट्र से बादरायण संबंध जोड़कर, इसके बाद मुसलिम एकता की, पान इसलाम की बात करें या खिलाफत से प्रेम दरशाकर, उनकी सहायता से अपने पक्ष की सामर्थ्य बढ़ाने का विचार करते रहें। परंतु तुर्किस्थान के किए उनका जो अध्यक्ष वही खलीफा या इमाम निश्चित समयावधि के लिए रहेगा यह तय होने के कारण उस राष्ट्र के नवजीवन हेतु, सामर्थ्य के लिए और प्रगतिशीलता में सहायक होने के कारण तुर्क लोग बाहरी राष्ट्र के किसी नेता को अपना राजनीतिक अधिकारी या धार्मिक नेता मानेंगे यह असंभव है। भविष्य में भी मौलवियों ने या मुल्लाओं ने हस्ताक्षर करके यहाँ के जमायत-उल-उलेमा संस्था ने बेचैनी के आँसुओं में स्नान करके कुरान की आयतों का जप करते हुए और कमाल पाशा के चरणों पर सिर रखकर उससे प्रार्थना की कि हमारी अखिल मुसलमानों की सभा में अमुक व्यक्ति को खलीफा चुना गया है इसलिए आप उसके सामने झुककर शरण जाइए, तो कमाल पाशा क्या उत्तर देगा

यह कहना ही पड़ेगा यह आवश्यक नहीं। 'प्रत्यक्ष परमेश्वर आया तो भी उसे हम यह अधिकार नहीं देंगे।' परसों ही इस प्रकार का उत्तर तुर्की अध्यक्ष को तुर्कों ने दिया है। तो मोहम्मद अली के समान गुलाम हिंदुस्थान के मुसलमान को, कितना ही वह आक्रोश करे कि मैं 'प्रथम मुसलमान हूँ और बाद में भारतीय हूँ' कौन महत्त्व देगा? वही स्थिति इजिप्ट की, अरबों की, ईरान, मोरक्को आदि देशों की। ईरान और मोरक्को के सुलतान तो कभी भी तुर्किस्थान के खलीफा को नहीं मानते। उनके अपने खलीफा पदाधिष्ठित हैं। मोहम्मद की मृत्यु से लेकर आज तक जिन अरबों ने खिलाफत अपने हाथ में रखने के लिए क्रांतियाँ, लड़ाइयाँ, कत्ल और हत्याएँ कीं, वे अरब अब राष्ट्रीयता की भावना पनपने के बाद विदेशी खलीफा को मान लेंगे और राष्ट्राध्यक्ष पद या धर्माध्यक्षत्व अर्पित करेंगे—ऐसी आशा करना मूर्खता है। अतः सभी मुसलमानों का एक खलीफा होगा यह भी खलीफा की व्याख्यानुसार बहुत कठिन है। केवल अखिल मुसलमानों की सभाएँ करके एक खलीफा निश्चित करना और उसके आदेशों का पालन करना भी असंभव है। जैसे लीग ऑफ नेशंस के आदेश के अनुसार सारी दुनिया की पार्लियामेंट उसके सामने झुक जाना असंभव है।

इसके पूर्व भी कभी एक ही खलीफा नहीं हुआ। जब-जब बहुत बड़े भाग पर एकच्छत्री खिलाफत हुई दिखी तो भी उस छत्र का उत्तरदायित्व किसी उलेमा का कागजी प्रस्ताव नहीं था। वह तो रण-मैदान में प्रबल लोगों की फौलादी तेज तलवार थी।

संक्षेप में जब तक खिलाफत का अधिकार अपने हाथ में केंद्रित करने के लिए या नियुक्त किए हुए खलीफा की सत्ता सभी मानें इसके लिए पूर्व समान मुसलमान आज रण-संग्राम करने के लिए तैयार नहीं होते तब तक खिलाफत की बातें हिंदुस्थान के अज्ञ मुसलमान और मूर्ख हिंदुओं में कितनी ही होती रहें तो भी सभी मुसलमानों का एकच्छत्री खलीफा या इमाम होना संभव नहीं। संभव यही दिखता है कि प्रत्येक मुसलमानी राष्ट्र अपनी-अपनी जातियों तथा राष्ट्र के राज्याध्यक्षों को ही खलीफा के अधिकार देंगे।

परंतु सुन्नी लोगों में केवल धार्मिक एकाधिपत्य स्थापित होना संभव नहीं। जो कुछ संभव दिखता है वह इतना ही कि विभिन्न मुसलिम राष्ट्रों के सुन्नी लोग अपने-अपने राजाध्यक्षों को ही खलीफा बनाएँगे। शिया और अन्य मुसलमान अनेक पंथ के भिन्न-भिन्न धर्मगुरु और सुन्नी लोगों में राष्ट्र की विभिन्नतानुसार दस-पाँच खलीफा नियुक्त करने की दुगुनी बहस मुसलमानों में जारी रखेंगे यह स्पष्ट है।

अब इन बहसबाज मुसलमानों का हिंदुस्थान में कार्यक्रम कैसा तय होना संभव है और उन्हें अभिप्रेत कार्यक्रम को कितना यश प्राप्त होने की संभावना है यह देखें। सुन्नियों का खलीफा उसके मूल के आधार पर बनता है इसलिए खलीफा के मूल पुरुषों के घराने के किसी व्यक्ति को हिंदुस्थान में लाया जाएगा या यहाँ के किसी मुसलमान को खलीफा बनाएँगे। सुन्नी लोगों का प्रथम तत्त्व ही खलीफा स्वतंत्र होना चाहिए यह होने के कारण भारतीय सुन्नी मुसलमान खुद होकर गुलामी की बेड़िया स्वयं खलीफा को पहनाएगा तो उसकी बुद्धि की प्रशंसा कौन करेगा? खलीफा स्वतंत्र होकर उसे मुसलमानी राजसत्ता चलाने की पात्रता चाहिए इस सिद्धांत से यह भी स्पष्ट होता है कि इसके लिए प्रथम राजनीतिक स्वतंत्रता चाहिए। यह हिंदुस्थान के परतंत्र मुसलमानों में न होने के कारण उनमें से कोई भी खलीफा नहीं हो सकता। केवल कुछ सुन्नी उपभेद के लोगों के कहने के अनुसार केवल धर्माचार्य पद की नैतिक सत्ता खलीफा होने के लिए पूरी समझने पर भी भारतीय मुसलमानों की यह नैतिक सत्ता भी तुर्क, पठान, अरब आदि कट्टर जातियों के लोग नहीं चलने देंगे। ऐसी स्थिति में भारतीय मुसलमानों ने तुर्क आदि के गले में हाथ डालने की कोशिश की तो भी वे नहीं पहुँचेंगे। दो-तीन सालों से हिंदी मुसलमान यह निरर्थक प्रयास कर रहे हैं। तब भारतीय मुसलमानों को विदेशी लोग खलीफा या धर्माचार्य बनाएँगे ऐसी समझ मूर्खतापूर्ण है।

इन सब बातों को सोचते हुए यह निश्चित कह सकते हैं कि देश की परतंत्र अवस्था में बाहर के किसी नामधारी खलीफा को लाने से भारतीय मुसलमानों की इसलामी गौरव की और भावी सामर्थ्य की आकांक्षा कभी भी पूर्ण नहीं होगी। यह बात मुसलमान भी जानते हैं। जब कोई हिंदू आँखों में आँसू बहाकर उसे कहता है कि 'क्या शोचनीय बात है। खलीफा से तुर्किस्थान में भगा दिया है न? कोई बात नहीं, हम सब मिलकर अब उसे हिंदुस्थान में लाकर रखेंगे फिर तो होगा न?' तब वे हँसते हुए कहेंगे, 'एक पैर से लँगड़ा हुए को दोनों पैरों से लँगड़ा, अपने कंधे पर ले जाने के लिए तैयार हुआ है।' गद्दी पर से जमीन पर गिरे हुए व्यक्ति को चिता पर चढ़ाने का यह प्रेमपूर्वक आग्रह करने के लिए मुसलमान इतने पागल नहीं हुए हैं।

सारांश यह कि भारतीय मुसलमानों का सब मिलकर एक खलीफा या इमाम होना पंथ परंपरा से भी असंभव है। भारतीय मुसलमान भी बाहर से किसी निष्क्रिय और दुर्बल खलीफा को अंदर नहीं लाएँगे या उनकी इस परतंत्र अवस्था में किसी को स्वयं के लिए भी खलीफा नहीं चुनेंगे। क्योंकि खलीफा को सत्ता चाहिए, वह भी स्वतंत्र सत्ता। यहाँ दोनों बातों का अभाव है। इसलिए तीसरे मार्ग से

भारतीय मुसलमानों के नेता आज तीन-चार वर्ष से गुप्त रीति से और खुले तौर प्रयास कर रहे हैं। वही मार्ग हिंदुओं को शीघ्र और स्पष्टता से दिखेगा तब वे भावी संकट का मुकाबला करने के लिए तैयार होंगे। खिलाफत के आंदोलन का इष्ट परिणाम यह है कि भारतीय मुसलमान बाहरी राष्ट्राध्यक्ष को अपना खलीफा मानने और भविष्य में उसकी सहायता से हिंदुस्थान में भी स्वतंत्र मुसलमानी राज्य स्थापित करने का प्रयास करें। तीन साल से नेताओं के यही विचार हैं। परंतु हिंदुओं की आँखें बंद हैं। इसलिए ये विचार केवल उर्दू पत्रों में और सरकारी कागजों से स्पष्ट हो रहे हैं। हिंदुओं ने इस तरफ ध्यान नहीं दिया। शिक्षित, अशिक्षित मुसलमानी समाज यह मनोराज्य कर रहा है। तुर्कों के नाही कर देने के बाद और प्रबल मुसलमानी राष्ट्राध्यक्ष अफगानिस्तान के सिवाय कोई भी न होने के कारण वहाँ के अमीर को ही अपना खलीफा बनाने का विचार, आज नहीं तो कल, पक्का होगा ऐसा दिखाई पड़ रहा है। अफगानिस्तान के पूर्व के अमीर की हत्या कर जब नई राज्यक्रांति हो गई और आज का अमीर गद्दी पर बैठा तब वह राज्यक्रांति भी इन गुप्त आकांक्षाओं की एक चिनगारी लिये थी। तब से आज तक हिंदुस्थान पर हमला करने के लिए अफगान आतुर हैं। अफगान समाचारपत्र खुल्लमखुल्ला इसकी चर्चा कर रहे हैं। जब जर्मन युद्ध चल रहा था तब अफगान के अमीरों से संबंध जोड़कर उसे हिंदुस्थान के सिंहासन पर बैठाने के लिए यहाँ के मुसलमानों का सहयोग दिया जाएगा, ऐसे अभिवचन और ऐसे पत्र लाने-ले जाने का कार्य करनेवाले कुछ मुसलमान पकड़े भी गए थे और उन्होंने यह बात कबूल भी की थी। जिस समय हिंदुस्थान में खिलाफत आंदोलन खूब जोरों पर था तब उधर साइबेरिया के किनारे पर हिंदुस्थान से मोहाजरीन होकर गए हुए अनेक मुसलमानों को सैनिक शिक्षा दी जाती थी। उसके अलावा उसी समय कुछ मुसलमानी धर्मशास्त्री सभाएँ करके अफगानिस्तान के अमीर को खलीफा बनाने के विषय पर चर्चा करके उसके अनुकूल लोकमत तैयार करने में लगे हुए थे। इधर हिंदुस्थान में 'मुसलिम धर्म के गौरव के लिए यदि किसी इसलामी राष्ट्र ने हिंदुस्थान पर हमला किया तो हम उसका प्रतिकार नहीं करेंगे—क्योंकि वैसा प्रतिकार करना मुसलिम धर्म के विरुद्ध है।' यह यहाँ के खिलाफत के नेता जोरदार शब्दों में कहते थे। वैसा उपदेश भी देते थे। आज भी वही स्थिति है। इतना ही नहीं अपितु खिलाफत का प्रश्न अब अंतिम स्थिति में होने के कारण अमीर के झंडे के नीचे इकट्ठा हो रहे भारतीय मुसलमान कहते हैं कि अमीर को ही खलीफा बनाओ। अब उन्हें अपनी महत्त्वाकांक्षा पूर्ण करने का अन्य मार्ग नहीं दिखता। अभी-अभी शौकत अली ने अध्यक्ष पद से खिलाफत परिषद् में बताया कि अफगानिस्तान और हिंदुस्थान सरकारों की लड़ाई

होने पर मुसलमानों को सत्याग्रह करना होगा। वे अंग्रेजों को सहायता नहीं देंगे। वैसी सहायता करना वे अपने धर्म के विरुद्ध समझेंगे। इससे अधिक स्पष्ट कहे बिना यदि उनका हेतु भारतीय जनता की समझ में नहीं आता है तो उनकी बुद्धि-भ्रष्टता पर जितनी दया करें कम है। इसलिए हिंदुओं को निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि सुशिक्षित हो या अशिक्षित हिंदुस्थान पर किसी भी इसलामी सत्ता का आक्रमण होने पर उसे भारतीय मुसलमानों की पूरी सहानुभूति मिलेगी। झोंपड़ी-झोंपड़ी तक मुसलमान अमीर हिंदुस्थान में उतरा इस एक ही वाक्य से इस अज्ञानी और धर्मांध समाज के सुप्त 'इसलामी गौरव' की आकांक्षाएँ भड़क उठेंगी और इस्लामी गौरव की दृष्टि से देखने पर हिंदुस्थान में पुनः इसलामी बादशाही की स्थापना की अपेक्षा अधिक गौरव की बात इस जगत् में और कोई नहीं, यह बात केवल उनके नेताओं के ही दिल में नहीं अपितु गाँव-गाँव के लोगों के दिल में है। मलाबार में मोपलों ने 'स्वराज' के लिए दंगा करते ही तुर्किस्थान का झंडा फहराया था यह बात ध्यान देने योग्य है। और 'अलीमुसेलि' नाम के उनके नेता ने 'स्वराज' की और 'एकता' की जो व्याख्या की है वह किसी घोषवाक्य के समान सभी हिंदुओं को अपने चित्त में रखनी चाहिए। जब यह आंदोलन जोरों पर था तब उसकी एक सभा में नेता ने अपने अनुयायियों से कहा—

''स्वराज्य ही मुसलमानी राज्य है और अली मुसेलियर मोपलो में कोई सामान्य गुंडा नहीं, एक प्रसिद्ध कुलीन, धार्मिक प्रभाव का नेता था।'' स्वराज्य ही मुसलमानी राज्य है यह वह कुरान की आयतें पढ़कर कहता है—''हिंदू-मुसलमानों की एकता के माने सभी हिंदुओं को मुसलमान होना चाहिए।'' उसके इन शब्दों पर तालियाँ बजाकर लोगों ने सहमति दी। इन शब्दों को उद्धृत कर उर्दू समाचारपत्रों ने सहानुभूति से उसका समर्थन किया है। मलाबार के अशिक्षित मोपला से लेकर 'सुशिक्षित' अध्यक्ष तक जो इसलामी राष्ट्र का प्रतिकार करना पाप समझते हैं ऐसी मुसलिम जनता हिंदुस्थान पर यदि अफगान मुसलमानों का आक्रमण हुआ तो क्या करेंगे इसका हिंदुओं को ठीक विचार करना चाहिए। यदि झोंपड़ी-झोंपड़ी से 'अल्ला हो अकबर' की गर्जना उठेगी और अमीर का हार्दिक स्वागत होगा तब यदि हिंदू असंगठित होगा तो घर-घर में मलाबार हो जाएगा। खिलाफत के धन में कुछ घोटाले हो गए हैं यह हमने पूर्व में पढ़ा है। इसका स्पष्टीकरण देते हुए संबंधित समिति ने कहा था कि लाखों रुपए अफगानिस्तान के खिलाफत कार्य के लिए और इसलाम के कार्य-हेतु खर्च किए गए हैं—परंतु इस कार्य से इसलामी आंदोलन की हानि न हो, अतः गुप्त रखना इष्ट है। अफगानिस्तान में यह कौन सा गुप्त कार्य हुआ जिसके लिए लाखों रुपए खर्च हो गए? हिंदुओं ने इस खिलाफत की निधि को जो

सहायता की उसका प्रायश्चित्त उन्हें मिला ऐसा क्यों न कहें ? जब तुर्कों ने खिलाफत संस्था को ही उलट दिया है तब हिंदुस्थान में भी उसका पतन होगा ही ऐसा हिंदुओं को नहीं समझना चाहिए। अन्य देशों में जैसे-जैसे राष्ट्रीय भावना जाग्रत् होगी और शिक्षा और विद्यालयों के बौद्धिक प्रकाश में जैसे-जैसे यह धार्मिक अंधता हटती जाएगी वैसे-वैसे खिलाफत का महत्त्व मसजिद के बाहर नहीं बचेगा यह सत्य है। फिर भी भारतीय मुसलमानों में ऐसी स्थिति आना इस सदी में असंभव है। क्योंकि हिंदुस्थान में मुसलिम सत्ता स्थापित करने की उनकी राजनीतिक आकांक्षा है। हिंदुओं को हमेशा यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जैसे ही अंग्रेजी सेना हिंदुस्थान में थोड़ी सी बचेगी वैसे ही अफगान सेनाएँ इस देश भर आक्रमण करेंगी और मुसलमान उनसे सक्रिय सहानुभूति दरशाए बगैर नहीं रहेगा। मुसलिम सत्ता हिंदुस्थान में स्थापित करने का यही एक मार्ग है। ऐसी स्थिति में उनकी इस राजनीतिक आकांक्षा को, खिलाफत की धार्मिक भावना को समर्थन अत्यंत आवश्यक होने के कारण दुनिया के अन्य मुसलमानों द्वारा खिलाफत का नाश करने पर भी भारतीय मुसलमान उस कल्पना को धर्मनिष्ठा या राजनीति कहकर या हिंदुओं पर अपनी एकता का दबाव डालने के लिए खिलाफत का आंदोलन और भावना नहीं छोड़ेंगे। वे अमीर को खलीफा बनाएँगे। यद्यपि सुन्नी खलीफा कोरेश वंशीय होना चाहिए तथापि पूर्व से ही सुन्नी समाज में यह शर्त झूठी समझनेवाला एक पंथ है और आज सुशिक्षित राजनीतिक मुसलमान भी उधर नहीं होगा। उसके अलावा शास्त्राधार से नियुक्त खलीफा को शस्त्राधार मिलेगा ही ऐसा नहीं कहा जा सकता तो भी शस्त्राधार से आगे आए हुए खलीफा को शास्त्राधार आसानी से मिल सकता है। इसलिए किसी कोरेश वंशीय लड़की से अमीर की शादी कराकर या कोई नया वंश वंशी सजाकर उसे खलीफा बनाने के लिए योग्य समझा जाएगा। वर्तमान अमीर जैसे महत्त्वाकांक्षी पुरुष को भारतीय सुन्नी मुसलमानों का समर्थन हिंदुस्थान से प्राप्त हो रहा है और पीछे से रूस भी प्रेरणा दे रहा है ऐसे में अंग्रेजों को किसी विश्वयुद्ध में फँसा हुए देखकर और अंग्रेजी सेना जिस देश में कम रह गई हो ऐसे हिंदुस्थान पर आक्रमण करना असंभव नहीं। मुसलमानों का यह पूर्व निश्चित कार्यक्रम है। उनका आंदोलन इस दिशा में प्रेरित हुआ है। इतना ही नहीं अपितु इस कार्य के लिए हिंदुओं की सहानुभूति प्राप्त करने के प्रयास भी अफगानिस्तान में और हिंदुस्थान में लगातार खुलेआम चल रहे हैं। अफगानिस्तान में समुद्र तट न होने के कारण कराची तक समस्त हिंदू प्रदेश (हिंदुस्थान) उस देश का माना जाए ऐसे प्रयास यहाँ के मुसलमानों की सहमति से अफगानिस्तान में आज दस वर्ष से चल रहे हैं। और अब तो सब बातें छोड़कर अमीर की सत्ता स्थापित कर और उसके वंश

में राजमुकुट रहा तो वह भी हिंदुस्थान के हिंदुओं को पार्लियामेंट के अधिकार देने के लिए राजी है। इस प्रकार की जानकारी उर्दू पत्रों में और मुसलमान नेताओं द्वारा हिंदुओं को दी जा रही है। यह समस्या मुसलमानों को जितनी ज्वलंत लगती है उतनी हिंदू नेता और उनके अनुयायियों को नहीं लगती। उनकी आकांक्षाएँ उत्तेजित हुई हैं, आज नहीं तो कल यह होगा, ऐसी उन्हें उम्मीद है। अत: खिलाफत मरी नहीं किंतु बहुतांश में हिंदुस्थान के पास आई है। तुर्किस्थान से आज नहीं तो कल वह अफगानिस्तान में आ सकती है और एक दिन अफगानिस्तान का अमीर खलीफा और सुलतान हिंदुस्थान में पुन: राज्य करने लगेगा। हम जो बात लिख रहे हैं यह बात हर शिक्षित और धार्मिक मुसलमान जानता है। वह इस आकांक्षा को नकार नहीं सकता कि वह इसके लिए सक्रिय शुभकामनाएँ देगा, प्रत्येक समझदार मुसलमान को यह ज्ञात है। दु:ख की बात तो यह है कि इतनी महत्त्वपूर्ण बात करोड़ों हिंदू नहीं जानते। यह हिंदुत्व की दृष्टि से कितना भयंकर है वह उसे अभी भी समझ में नहीं आता। इसके विपरीत इसी बात के लिए लाखों रुपए देकर, लाखों लेख लिखकर वे खिलाफत को और तेज बना रहे हैं।

तो क्या इस नए संकट को देखकर हिंदू राष्ट्र की भावी समर्थता की आशा विफल समझें? नहीं! बिलकुल नहीं। ऐसे दस संकट भी एक साथ आएँ तो भी हिंदू राष्ट्र की भावी सामर्थ्य की, उत्कर्ष की, गौरव की आकांक्षा सफल हुए बिना नहीं रह सकती। परंतु हमें राजनीति में आज का जो भोलापन है उसे छोड़ना चाहिए। 'आत्मिक बल', 'सत्यमेव जयते,' 'विश्वास' आदि शब्द फौलाद जैसे कठिन शत्रुओं से आपकी सुरक्षा कर सकेंगे ऐसी मूर्खता की भावना हमें छोड़ देनी चाहिए। तो क्या केवल मुसलमानों को लाखों गालियाँ देनी हैं? नहीं! उन्हें अपना काम करने दो! हम अपना संगठन समर्थता के मजबूत आधार पर और फौलाद के तीक्ष्ण शस्त्र से खड़ा करें तो हिंदू-स्वतंत्रता छीन लेनेवाली आकांक्षा हमारे लिए लाभदायक होगी। सुंदोपसुंदों का संघर्ष जिस प्रकार देवों के लिए लाभदायी रहा उसी प्रकार हमें भी लाभ मिलेगा; परंतु उसके लिए हमें चाणक्यता, नीतिपटुता और समर्थता का उपयोग करना होगा। ये बातें बिना हिंदू संगठन के नहीं होंगी। खिलाफत का आंदोलन उस नाम-रूप से कदाचित् भारत में अस्त हो जाएगा, परंतु वह अन्य रूप से अमीर के ध्वज के चारों ओर केंद्रीभूत होकर हिंदुत्व के स्वामित्व पर झपटने के लिए नजर रखेगा। यह बात एक बार हिंदू जान लें तो संकटों की क्षमता आधी ढीली पड़ गई ऐसा समझ लें। परंतु हम पहले ही जिस आंदोलन के चक्कर में फँसे हैं उसमें से बाहर आने के लिए मुसलमानों का सहायक हाथ प्रेम से पकड़ने का प्रयास करना क्या हमें अधिक लाभदायक नहीं होगा? इसका उत्तर यही है कि वह

हाथ सहायक हाथ नहीं है। यही तो मूल रूप से सिद्ध करना है। वह मलाबार के मोपलों का हाथ है। वह हसन-ए-जामी का हाथ है। हैदराबाद को त्रस्त करनेवाले, किंतु विदर्भ को स्वराज्य देने की बात करनेवाले निजामशाही का हाथ है। कोई शराबी, नीच, पापी हो तो भी मुसलमान हो तो मुझे गांधी से भी अधिक प्रिय और पवित्र होगा ऐसा कहनेवाले राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष का वह हाथ है। पहले मुसलमान, बाद में भारतीय ऐसी धार्मिक निष्ठा पालनेवाले करोड़ों मुसलमानों का वह हाथ है। इसलिए इस संकट से उबरने के लिए उस हाथ को पकड़ने जाएँगे तो जनता को सावधानी से और सँभलकर जाना चाहिए। इतना ही नहीं अपितु जिस हाथ से एक करोड़ रुपए इकट्ठा करके हिंदुस्थान में हिंदुत्व नहीं बचना चाहिए इसलिए वे प्रयास कर रहे हैं, उसमें भी उनका कोई दोष नहीं है क्योंकि यह जीवन-कलह है। हिदुत्व के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा अमीर का संकट नहीं, खिलाफत की आफत नहीं, सिंगापुर का अड्डा नहीं, वर्तमान असहायता भी नहीं, उसकी बाधा तो एकता, सरलता, आत्मिक बल, अप्रतिकार आदि साधुता की झूठी बातें अफीम की तरह खाने से, हमपर आया हुआ निष्क्रियता का मुरदा है। यही बड़ा संकट है। यह नशा छोड़ देना होगा। हम एकता की भावना से दूसरों के गले में हाथ डालें तो एकता होती है यह मानना गलत है। एकता करना चाहते हो तो करो, नहीं तो जाओ। तेरे से जो बने कर लेना इस प्रकार की बेरहमी और हिम्मत अपने शरीर में होनी चाहिए। संकट है यह मालूम होना चाहिए। संकट से निपटने की शक्ति नहीं रही इस कारण हिंदू राष्ट्र रसातल को कभी नहीं जाएगा। परंतु संकट कहाँ से आया है, यह न समझने के कारण यह राष्ट्र किसी भी समय धोखा खा सकता है। अपने हिंदू राष्ट्र के जीवन पर आने वाला नया संकट 'मुसलमानी आकांक्षा' पुराने संकट के समान ही भयंकर है यह समझना चाहिए। यह समझकर उसका मुकाबला करने हेतु तुरंत हिंदू संगठित होने प्रारंभ होंगे तो उस संकट का अर्धनाश हो गया ऐसा समझने में आपत्ति नहीं। पुराने संकट के सम्मुख नया संकट खड़ा करके भी उनके संघर्ष में अपना कार्य सफल होगा। परंतु इसके लिए हिंदू संगठन एक मानव के समान एकात्म होकर अखाड़े में उतरकर चाणक्य द्वारा सिखाए गए कुश्ती के दाँव-पेंच लड़ाकर तो यह कर सकता है। जिन्हें संगठित होना ही नहीं तो उनका हाथ क्यों पकड़ते हो? एक संकट से उबरने के लिए दूसरे का हाथ पकड़ोगे तो उससे भी अधिक संकट में पड़ोगे इसे भूलना नहीं।

हिंदुओ! उस हाथ को पकड़ने की अपेक्षा संगठन का आश्रय लेना ठीक नहीं है क्या? सामर्थ्य का हाथ पकड़ो। अपने स्वयं का हाथ पकड़ो। भगवान् का हाथ पकड़ो।

वर्तमान में जिस संकट में हम पड़े हैं वह निस्संशय गहरा है। जिसका हाथ संशयास्पद है उसे पकड़ना धोखा है। तो क्या हुआ? चाणक्य के पेंच, चंद्रगुप्त का पराक्रम, आप प्रयास करेंगे तो कुछ भी भय नहीं। यह राष्ट्र हिंदुओं का है। इस राष्ट्र को मारने का प्रयास हमारी शक्ति के कारण दशमुखी रावण भी पूरा नहीं कर सका।

हे राष्ट्र जननि! कुछ भी हो
पर जिसका सारथि कृष्ण
अभिमानी और राम सेनानी
वह बीस करोड़ सेना
नहीं रुकेगी, नहीं रुकेगी,
वह करेगी शत्रु दमन
गाड़ेगी अपने हाथों
स्वतंत्रता के हिमालय पर
झंडा, स्वतंत्रता का झंडा।

फिर भी भारतीय मुसलमानों के खिलाफती कार्यालय से हिंदुस्थान में, निजाम के पुत्र का तुर्किस्थान के खलीफा कुल की वधू से शादी हो जाने के कारण, उसे ही खलीफा बनाने की योजना बन रही है। काबुल के अमीर को हिंदुस्थान पर आक्रमण करना चाहिए, दिल्ली का बादशाह बनना चाहिए और उसे ही खलीफा उद्घोषित करना चाहिए ऐसे प्रयास भी मुसलमानों ने किए थे। इतना ही नहीं अपितु कुछ आत्मविस्मृत हिंदू नेताओं ने भी 'खिलाफत अर्थात् स्वराज्य' ऐसी आत्मघातक घोषणाएँ करके मुसलमानों के उस देशद्रोही षड्यंत्र में भाग लिया था। यह बात स्वामी श्रद्धानंद जैसे निश्छल नेता ने ही स्पष्ट कही थी। उस षड्यंत्र की जो दुर्गति हुई वही इस निजाम को खलीफा बनाने के षड्यंत्र की होगी। इस षड्यंत्र के पीछे भारतीय मुसलमानों की राजनीतिक और धार्मिक सुलतानशाही पुन: स्थापित करने की जो महत्त्वाकांक्षा भारतीय मुसलमानों के रोम-रोम में फैली हुई थी, वही इस खिलाफत आंदोलन के मूल में है। इस भयंकर सत्य को जानकर हिंदू समाज को इस आंदोलन को आर्थिक सहायता नहीं देनी चाहिए। थोड़ी भी सहानुभूति नहीं दरशानी चाहिए। खिलाफत संस्था का मूल अर्थ है मुसलिमों का धार्मिक और राजनीतिक अधिराज्य! इस लेख में दी गई संक्षिप्त जानकारी से इतना भी हिंदू लोग समझें तो ठीक! मुसलमान अपने शासन हेतु लड़ते हैं, उसमें उनका क्या दोष? दोष है उनका इतिहास, धर्मशास्त्र, जातिप्रवृत्ति आदि का अध्ययन न करते हुए उनके हाथ का खिलौना बननेवाले हिंदुओं का। पूर्व में जो निंदनीय मूर्खता हो गई सो हो

गई। आगे चलकर इस संस्था का हिंदुओं को निरंतर विरोध करना चाहिए, ताकि हिंदुस्थान में उनके पैर जम न जाएँ। मुसलिम जनता की यद्यपि यह असली खिलाफत है तो भी हिंदुओं पर गि़रनेवाली वह आफत या आपत्ति है।

उस छोटे से कुरान में उस अरबी पैगंबर ने अपने ज्वालाग्राही विचारों की जो बारूद भरकर रखी है उसमें प्रचंड शक्ति संगृहीत है कि उस छोटे से हथगोले का स्फोट होते ही पेरिस से पीकिंग तक और हंगरी से हिंदुस्थान तक जितने रजवाड़े और मठ-मंदिर हैं तुरंत गिर जाएँगे और उनके टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगे। उस विनाश के भयंकर अंधकार में अरबों का अर्धचंद्र प्रकाशित होने लगेगा। उस अंधकार में प्रकाश देने के लिए उसका उपयोग हुआ होगा। परंतु साथ-साथ यह भी सच है कि कुरान ग्रंथ के अंदर ही अरब संस्कृति के आरंभ के समान अंत भी समाविष्ट होने के कारण, जब दुनिया उन दो पृष्ठों के अंदर न समा पाएगी, विस्तीर्ण, ऊँची और चौड़ी तथा गहरी विकसित होगी तब उसे समाने के लिए कुरान असमर्थ होगा। कुरानांतर्गत ही अरब संस्कृति की यह अवस्था हुई ऐसा नहीं अपितु अपरिवर्तनीय ऐसे किसी भी ग्रंथ के दो पृष्ठों के बीच ही सारा विश्व और समस्त काल तक बंद करनेवाली किसी भी संस्कृति की आज नहीं तो कल यही गति होगी। उस धर्मग्रंथ के प्रथम पृष्ठ पर आविर्भूत नई शक्ति उसके अंत के पृष्ठ तक कार्यरत रह सकती है, पर उसके आगे नित्य बाहर जाना उसे निषिद्ध होने के कारण उसे वहीं पर समाप्त हो जाना होगा।

टिप्पणी—वीर सावरकर का यह लेख मैंने प्रथम शके १९०४ सन् १९८२ में 'स्फुट लेख' नामक पुस्तक में प्रकाशित किया। उसके पूर्व उसे कोई प्रकाशित नहीं कर रहा था। यह मूल लेख उनके द्वारा लिखित उनके संग्रह में मिला। उसके नीचे दिनांक नहीं दिया है। परंतु यह लेख सन् १९२६-२७ का होना चाहिए।

(बाल सावरकर)

१. मुसलमानों का पंथोपंथ का इतिहास लेख पढ़िए। (जात्युच्छेदक निबंध, पृष्ठ)
२. वीर सावरकर लिखित 'मला काय त्याचे' (मोपल्यान्चे बंड) उपन्यास पढ़िए।

□□□